प्रस्तावना।

श्री भगवान् वासुदेवकी असीम कृपासे श्रीगीतार्थ-चन्द्रिकाका यह तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ। पवित्र कुरुक्षेत्र भूमिमें स्थित जिस विशाल ह्रदके तट प्रतिदिन धर्मयुद्धके अन्तमें पार्थसारथि सहित पाण्डवगण श्रामलाभ करते थे, उसी तट पर बैठ कर तथा श्रीभगवान् सुदेवका स्मरण कर गीतार्थचन्द्रिकाका लिखना मैंने प्रारम्भ या था, इसी कारण आज समस्त भारतमें 'चन्द्रिका' का ना आदर हुआ है। और यही कारण है कि इतने थोड़े मयके भीतर इसका तीसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। में भाषाकी सरलता और मधुरता ऐसी रक्खी गई है कि ल हिन्दीमात्रके ज्ञाता स्त्रीपुरुषगण इसे पढ़ कर गीताका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

आज दिन समस्त भूमण्डलमें गीताका जैसा आदर और सी भी पुस्तकका नहीं है। संसारमें प्रचलित भिन्न भिन्न त सौ भाषाओंमें गीता प्रकाशित हो चुकी है, और भी ीन नवीन संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं। मानव प्रकृति ...ूक्ष्म कारण भावके अनुसार स्वभावतः ... वासना-ज्ञान ...स्यमयी है। गीतामें पूर्ण भगवान् श्रीकृष्णने यही ...री, अमृतभरी शिक्षा अर्जुनको निमित्त बनाकर निखिल ...को दी है, इसमें किसी विचार या किसी भावके प्रति

थोड़ा भी पक्षपात नहीं है । यही कारण है कि गीता सभीके हृदयकी नितान्त प्रेममयी वस्तु बन सकी है । इसी निर्विरोध सामञ्जस्यकी रक्षा गीतार्थचन्द्रिकाके प्रतिपत्रमें की गई है, यह भी इस पुस्तकके सर्वजनप्रिय बननेका अन्यतम कारण है। गीतामें प्रायः एक अध्यायके साथ दूसरे अध्यायका या एक श्लोकके साथ दूसरे श्लोकका सम्बन्ध ढूंढ़ निकालना कठिन पड़ता है, जिस कारण श्लोकका यथार्थ तात्पर्य विरल ही लोग समझ पाते हैं। गीतार्थचन्द्रिकामें प्रत्येक अध्याय तथा प्रत्येक श्लोकका क्रम बाँध कर इस अति आवश्यक विषयकी भी पूर्त्ति कर दी गई है।

भगवच्चरणसरोजकी मकरन्दरूपिणी पतितपावनी भागीरथीके पवित्र तट पर स्थापित योगाश्रममें आजकल प्रायः मेरा रहना होता है। इसी लिये नवीन प्रकाशित 'धर्म-विज्ञान' आदि अनेक बहुमूल्य ग्रन्थोंकी तरह 'गीतार्थचन्द्रिका' का भी यह संस्करण इसी आश्रमकी ओरसे ही प्रकाशित किया गया है । श्रीभगवान् नन्दनन्दनकी करुणाभरी कोमल दृष्टि योगाश्रमके शास्त्रप्रकाश तथा धर्मप्रचार विभाग पर सदैव बनी रहे, यही उनके राजीव चरणोंमें बारम्बार विनीत प्रार्थना है। अलमिति ।

ग्रन्थका[र]

ॐ

गीतार्थचन्द्रिका।

भूमिका।

श्रीमद्भगवद्गीता पर भाष्योंका तो अन्त नहीं है, और टीका टिप्पणियोंका भी अन्त नहीं है। श्रीभगवान् शंकराचार्यकी गीताभाष्यरचनाके अनन्तर वैष्णव सम्प्रदायके अनेक आचार्योंने भी भगवद्गीता पर स्वतन्त्र स्वतन्त्र भाष्यरचना की है। तदनन्तर आधुनिक अनेक विद्वान् तथा महात्माओंने भी टीका, टिप्पणी, सन्दीपनी, प्रबोधिनी आदि [illegible] से गीता पर बहुत कुछ लिखा है। इसके सिवाय पश्चिम देशके अनेक विद्वानोंके भी इसके ऊपर विभिन्न मतविन्यास देखनेमें आते हैं। किन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि इतने भाष्य तथा टीका टिप्पणियोंमें किसीके साथ किसीका मतैक्य देखनेमें नहीं आता है। सभी अपने पृथक् पृथक् सिद्धान्त गीताके विषयमें प्रकट करते हैं। कोई कोई लेखक तो समग्र गीताकी घटनाको ऐतिहासिक तथ्य न बता कर केवल आध्यात्मिक दृष्टि तथा यौगिक दृष्टिसे ही इस पर विवेचन करते हैं। उनके मतानुसार कौरव पाण्डवादिका संग्राम तथा गीतोपदेश कोई स्थूल व्यापार नहीं है किन्तु योगशास्त्रोक्त प्रकृतिपुरुषविवेचन, प्रकृतिका लययोगानुसार पुरुषमें विलय और सूक्ष्म राज्यमें देवासुर संग्रामका व्यापार है। श्रीभगवान् शंकराचार्यने प्रखर पाण्डित्यके साथ शास्त्रार्थ द्वारा यही निर्णय किया है

कि ज्ञान कर्मका समुच्चयवाद गीताका तात्पर्य नहीं है किन्तु ईश्वरार्पण बुद्धिके साथ नित्यनैमित्तिक कर्म करते करते जब चित्तशुद्धि हो जाती है तब कर्म छोड़ कर आत्मरति हो जाना और अन्तमें ज्ञान द्वारा निःश्रेयस लाभ कर लेना यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। उनके इस प्रकार शास्त्रार्थके द्वारा यह अनायास ही समझमें आजाता है कि उनके पूर्व कालमें ज्ञान-कर्म-समुच्चय-प्रतिपादक भाष्यादि ग्रन्थ गीता पर प्रचलित थे जिनका मिथ्यात्वप्रदर्शन उन्होंने अपने भाष्यमें किया है। भगवान् भाष्यकारका पदाङ्क अनुसरण करके श्रीमत् आनन्दगिरि, श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वती आदि जितने विद्वान् पुरुषोंने गीता पर पुस्तकें लिखी हैं वे सब शङ्करभाष्यके ही विस्तृत तथा सुगम व्याख्यामात्र हैं। इनमेंसे श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वती कृत टीका ग्रन्थ बहुत ही उपादेय तथा उपयोगी है। भाष्यकारके बाद कई एक वैष्णवाचार्योंने भी गीता पर अलग अलग भाष्य लिखे हैं। उनमेंसे विशिष्टाद्वैतमतके श्रीरामानुजाचार्य, तथा द्वैताद्वैत मतके श्रीनिम्बार्काचार्यके भाष्य मुख्य हैं। इन सभी आचार्योंने अपने अपने मतके लक्ष्यको प्रधान रखते हुए भक्तिभाव-मूलक भाष्य भगवद्गीताके ऊपर लिखे हैं। इनके इस प्रकार मतवादमें प्रधान युक्ति यह है कि समस्त गीता कह डालनेके अनन्तर जब श्रीभगवान्ने 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेवं शरणं व्रज' सब धर्मोंको छोड़ कर मेरी ही शरण लो, यह कहकर अपनी ही ओर भक्तको आकर्षण किया है तो उपास्य-

उपासक भावप्रधान भक्तिमार्गका ही उपदेश करना उनका लक्ष्य था, यह गीताका तात्पर्य प्रकट होता है। भक्तिपक्ष-प्रतिपादक इन भाष्योंके अवलम्बनसे भी अनेक प्रकारकी टीका टिप्पणियां गीताके ऊपर प्रकाशित हुई हैं जिनमेंसे श्रीधर स्वामी कृत टीका सर्वोत्कृष्ट हैं। अब वर्त्तमान कालमें स्वर्गीय लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक महोदयने भी 'भगवद्-गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र' नामक एक अति विस्तृत टीका भगवद्गीता पर लिखी है। इसमें उन्होंने ज्ञानप्रति-पादक तथा भक्तिप्रतिपादक प्राचीन मतोंका निराकरण करके गीताको कर्मयोग शास्त्र बताया है और 'कर्मयोग' ही इसका अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है, ज्ञान तथा भक्ति केवल कर्मयोगका सहायकमात्र है यही विचार किया है। इस प्रकार मतवाद प्रकट करनेमें तिलक महोदयकी प्रधान युक्ति यह है कि जब युद्धके मौके पर अर्जुनको युद्धकार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये गीताका उपदेश किया गया था, संसार छुड़ाकर वनवासी बना कर मोक्षप्रदानके लिये नहीं किया गया था तो गीतोप-देशका अंतिम लक्ष्य ज्ञानयोग या भक्तियोग नहीं हो सकता है, प्रत्युत कर्मयोग ही होगा। इसमें ज्ञानपक्ष या भक्तिपक्षका प्रतिपादन केवल साम्प्रदायिक आचार्योंने अपने अपने सम्प्र-दायोंकी पुष्टिके लिये ही किया है। इस प्रकारसे श्रीमद्भग-वद्गीता पर प्रचुर भाष्य तथा टीका टिप्पणियां देखनेमें आती हैं। अब नीचे देशकालपात्रानुसार इन सबकी उपयोगिता प्रदर्शनपूर्वक यथायथ सामञ्जस्य विधान किया जाता है।

जिस वस्तुका कोई निर्दिष्ट आकार नहीं होता है उसे मनुष्य अपने भावानुसार नाना आकारमें देख सकता है। श्रीभगवान् निराकार हैं इसी कारण कभी शिव रूपमें, कभी विष्णु रूपमें या कभी अन्य रूपमें भक्तोंके भावानुसार दर्शन दे सकते हैं। उनकी यदि कोई निर्दिष्ट एक ही साकार मूर्त्ति होती तो ऐसा न हो सकता। इसी प्रकार जलका भी कोई निर्दिष्ट आकार नहीं है, इस कारण चतुष्कोण पात्रमें जल चतुष्कोण ही दीखता है, गोलाकार पात्रमें जल गोलाकार ही दीखता है और त्रिकोण पात्रमें जल त्रिकोणाकार ही दीखता है इत्यादि। श्रीमद्भगवद्गीताके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। भगवद्गीता निराकार है अर्थात् इसका कोई साम्प्रदायिक आकार नहीं है। इस कारण सप्तशतश्लोकमयी एक ही गीताको ज्ञानपन्थी गम्भीर ज्ञानमयी मूर्तिमें देखते हैं, भक्तिपन्थी मधुर मनोहारिणी भक्तिभावमयी मूर्तिमें देखते हैं, कर्मपन्थी रणताण्डवरत कर्मयोगमयी मूर्तिमें देखते हैं और अध्यात्मपन्थीके लिये सकलकलाका परिहार करके श्रीमती गीता अपनी सनातनी नीरूप रूप में ही विराजमान हो जाती है। श्रीभगवान् पूर्ण हैं, इसलिये उनकी मुखपद्मनिःसृता गीता भी पूर्ण है। और पूर्ण होनेके कारण ही एक रूप गीताके इस प्रकार भक्तमनोविनोदन अनन्तरूप बन जाते हैं। यही गीताके अनेकार्थ होनेका तथ्य है। अब देशकालपात्रानुसार इस तथ्य पर विवेचन किया जाता है।

श्रीभगवान् शङ्कराचार्यके आविर्भावसे पहिले ज्ञान कर्म-का समुच्चय मनुष्यजीवनमें तथा शास्त्रीय ग्रन्थोंमें अवश्य ही था नहीं तो कालानुसार इसके खण्डनमें भाष्यकारको क्यों प्रवृत्त होना पड़ता। यद्यपि सकाम-कर्मके साथ ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता है क्योंकि सकाम कर्मके स्वर्गादि नश्वर फलप्रद होनेके कारण आत्यन्तिक सुख तथा अपवर्ग फलप्रद ज्ञानके साथ इसका कदापि सामञ्जस्य नहीं हो सकता है, किन्तु साक्षात् रूपसे अपवर्गके सहायक निष्काम कर्मके साथ ज्ञानका सदा ही समुच्चय शास्त्र तथा अनुभवसिद्ध सत्य है। श्रीभगवान्ने स्वयं ही श्रीमुखसे गीतामें कहा है:—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

क्षीणपाप, द्विधाभावहीन, संयतात्मा ऋषिगण जगत् कल्याणकारी निष्काम कर्मयोगमें रत रह कर ब्रह्मनिर्वाणका लाभ करते हैं। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस श्रुतिवचनके अनुसार ज्ञान विना मुक्ति तो होती ही नहीं, इसके साथ साथ मोक्ष लाभके लिये कर्मयोगकी भी आवश्यकता बता कर श्रीभगवान्ने निजमुखसे ही ज्ञानकर्मका समुच्चयवाद सिद्ध कर दिया है। अतः इस विषयमें अन्यथा चिन्ता करनेका अवसर नहीं है। मनुष्यजीवन तथा शास्त्रीय विवेचनोंमें ज्ञानकर्मका इस प्रकार समन्वय बौद्धयुगके कुछ समय पहिले तक चलता रहा। पश्चात् कलिकालके कुप्रभावसे

मनुष्य जब निष्काम कर्मयोगको छोड़ कर घोर सकामकर्मी बन गये और यहां तक कि वैदिक यज्ञादि कर्मोंका भी दुरुपयोग होने लगा एवं वेद, यज्ञ तथा ईश्वरके नामसे लक्ष लक्ष पशुवलि और नरवलि तक होने लगी तो श्रीभगवान्को बुद्धावतार रूपमें प्रकट होकर तात्कालिक हिंसाजन्य पापनिवृत्तिके लिये यज्ञादि कर्मोंका खण्डन करना पड़ा। इस प्रकारसे बौद्ध युगमें ज्ञान कर्मका समुच्चयवाद स्वतः ही नष्ट भ्रष्ट होगया और नीरे निर्वाणप्रद शुष्कज्ञानका प्रचार होने लग पड़ा। किन्तु यह भाव भी बहुत दिनों तक नहीं चल सका। क्योंकि जब तक ईश्वरार्पण बुद्धिसे नित्यनैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि न हो तब तक ज्ञानका उदय तथा अधिकार कदापि नहीं हो सकता है। इस कारण यद्यपि श्रीभगवान् बुद्धदेवने दयाभावमें भावित होकर स्वमतावलम्बी अनेक नर नारियोंको संन्यासका अधिकार दे दिया था तथापि कर्महीन ज्ञान और संन्यासकी साधना बहुत दिनों तक नहीं चली। अन्तमें ये ही स्त्री पुरुष निवृत्तिमार्गभ्रष्ट होकर घोर विषयी बन गये और मायासे परे पवित्र निर्वाणपदको पाना तो दूर रहा, वे सब अति दुःखमय संसारचक्रमें फँस गये। इसी मौके पर श्रीभगवान् शङ्कराचार्यका आविर्भाव हुआ। उन्होंने देखा कि ज्ञानहीन सकाम कर्ममें आसक्त होकर जीव बहुत ही विषयी बनते जा रहे हैं और सकाम कर्म द्वारा संसारजालसे मुक्त होनेका कोई भी उपाय नहीं है, तथा ऐसे घोर विषयी जीवोंका निष्काम कर्मयोगमें भी अधिकार

हो नहीं सकता, तो उन्होंने भी सामयिक कल्याणके लिये कर्ममात्रका खण्डन करते हुए ज्ञान कर्मके समुच्चयवाद पर ही प्रचण्ड प्रहार किया और विषयी जीवके चित्तको विषयसे पृथक् करनेके लिये समस्त चराचरको मिथ्या मृगमरीचिका तथा स्वप्नवत् बता कर अद्वैत ब्रह्मभावकी ओर प्रजाकी चित्तनदीको प्रवाहित कर दिया । इस प्रकारसे कालानुसार जीवकल्याणके लिये बुद्धभगवान् तथा भाष्यकार भगवान्के द्वारा ज्ञानकर्मका समुच्चयवाद निराकृत हुआ है, और भगवान् भाष्यकारके द्वारा गीता पर ऐसा ही भाष्य लिखा गया है । अद्वैत ज्ञानके प्रचार द्वारा संसारमें कुछ दिनों तक शान्ति अवश्य ही विराजमान रही । किन्तु मन्दमति कलियुगी जीवोंका इस प्रकार अलौकिक अद्वैतज्ञानमें अधिकार कहां ? फल यह हुआ कि कुछ समयके बाद ही ब्रह्म ब्रह्म करते करते लाग ईश्वरको ही भूल गये और उपासना भक्ति आदिकी मधुरता जाती रही । इस मोके पर धर्मरक्षाके लिये अनेक वैष्णवाचार्य प्रगट हुए । उन्होंने द्वैतवाद तथा भक्तिपक्षको मुख्यताको लेकर प्रस्थानत्रयकी व्याख्या की और गीताक्षेत्रमें भक्तिकी मन्दाकिनी बहा दी । तबसे अब तक यही बात चली आ रही थी । अधिकारिभेदसे ज्ञानप्रधान तथा भक्तिप्रधान दोनों प्रकारके भाष्य ही माने जाते थे । किन्तु चित्ताकाशके निर्मल हुए विना न भक्तिसुधाकर ही रमणीय मालूम पड़ते हैं और न ज्ञानदिवाकरकी ही किरणछटा दिगदिगन्तको आलोकित

कर सकती है। ईश्वरार्पण बुद्धिसे, निष्कामभावसे कर्मयोगमें निविष्ट रहते रहते तभी हृदयकुमुद भक्तिसुधाकरसे और हृदयकमल ज्ञानदिवाकरसे प्रफुल्लित हो सकता है। कलियुग तमः प्रधान है, आलस्य, प्रमाद, जड़ता इसके प्रधान लक्षण हैं। इन्हीं दोषोंसे ग्रस्त होकर ही आर्यजातिने स्वाधीनता रत्नको खो डाला है और आत्यन्तिक स्वाराज्यसिद्धि भी स्वप्न सी हो गई है। विना कर्मयोगके सत्त्वोन्मुखी रजोगुणके यह तमोगुण कट नहीं सकता है। अतः वर्तमान देशकालके विचारसे जगत्कल्याणके लिये निराकार गीता भगवान्को कर्मयोगमय साक्षाद्रूपमें प्रकटकर देना इस समय बहुत ही आवश्यक था और इसका गुरुतर अभाव भी जगज्जनोंको प्रतीत होने लग गया था। इसी अभावका अनुभव करके स्वर्गीय लोकमान्य तिलक महोदयने कर्मपक्षको ध्यानमें रख कर गीता पर जो विवेचन किया है सो वर्तमान देशकालपात्रके विचारसे अवश्य ही प्रशंसनीय है। इस प्रकारसे कर्मपक्ष, भक्तिपक्ष तथा ज्ञानपक्षप्रधान प्रचुर विचारोंसे विभूषित होकर अब गीता सकल अधिकारियोंके लिये ही अनायासबोध्य तथा कल्याणदायिनी बन गई है।

गीताके ऊपर भिन्न भिन्न भावप्रधान भाष्यों तथा टीकाओंके विषयमें दिग्दर्शन करा कर अब भगवद्वाक्यरूपी गीताके सच्चे स्वरूपके विषयमें विचार किया जाता है। गीताकी उत्पत्तिके विषयमें प्रचलित श्लोक यह है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

समस्त उपनिषद् गऊ रूप हैं, भगवान् श्रीकृष्ण उस गऊके दुहनेवाले हैं, बछड़े रूपसे अर्जुन गऊका पन्हानेवाला है, पन्हाने तथा दुहनेके बाद जो गीतारूपी अमृत निकला, बुद्धिमान् भक्तगण उसके पीनेवाले हैं। बछड़ा केवल गऊको पन्हा देता है, सब दूधको नहीं पीता है, दूध और लोग पीते हैं, यही लौकिक प्रथा है। इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि जिस प्रकार कुरुक्षेत्रके युद्धमें श्रीभगवान् कृष्णने—

'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'

हे अर्जुन ! मैंने पहिलेसे इन सबको मार रक्खा है, तुम केवल निमित्तमात्र हो ऐसा कह कर यह जता दिया था कि युद्धमें अर्जुन निमित्तमात्र है, ठीक उसी प्रकार गीताके उपदेशमें भी अर्जुन निमित्तमात्र ही थे। इसीको श्रीभगवान् शङ्कराचार्यने गीताके द्वितीयाध्यायके ११वें श्लोकके भाष्यमें—

'सर्वलोकानुग्रहार्थं अर्जुनं निमित्तीकृत्याह भगवान् वासुदेवः'

सकल लोककल्याणके लिये अर्जुनको निमित्त बनाकर श्रीभगवान् वासुदेवने गीताका उपदेश किया था इस प्रकार वर्णन करते हुए तत्त्व निर्णय किया है। वास्तवमें थोड़ी चिन्ता करने पर भी यही पता लगता है कि केवल अर्जुनको लड़ानेके निमित्त इतनी बड़ी गीताके कहनेका विशेष प्रयोजन नहीं था। बुद्धिमान् जन सोच सकते हैं कि जब दस अध्याय तक

गीता कह डालने पर भी अर्जुनके अन्तःकरणको पूरा समाधान प्राप्त नहीं हुआ और तत्पश्चात् विराट्रूप दिखा कर उनके निमित्तरूप होनेका प्रत्यक्ष कराने पर ही समाधान हुआ तो केवल अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये इतनी बड़ी गीता कहनेकी कोई भी आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। अर्जुन तो केवल पन्हानेवाले ही थे, बाकी जगत्कल्याणके लक्ष्यसे ही समाधिस्थ होकर श्रीभगवान्ने गीता कही थी। "दुर्दान्त कलियुग आ रहा है, मेरे निजधाममें प्रवेश करनेके बाद ही कराल कलिका भीषण आक्रमण समस्त संसारपर होगा, लोग कर्म उपासना ज्ञानपथ भ्रष्ट होकर नितान्त दैन्य दशाको प्राप्त करेंगे इस भावी विपत्तिसे जीवको बचाकर सत्यपथ प्रदर्शनके लिये कर्मोपासना-ज्ञान-सामञ्जस्य-पूर्ण उपदेशकी परम आवश्यकता है" ऐसा दिव्य भाव, मधुर करुणाभाव हृदयमें धारण करके ही अर्जुनको निमित्त बना कर श्रीभगवान्ने गीताका उपदेश किया था। यही यथार्थ तत्त्व है। अतः यह कह देना कि अर्जुनको लड़ाईमें प्रवृत्त करनेके लिये युद्धभूमिमें गीता कही गई है इस कारण गीतामें कर्मकी प्रधानता और ज्ञानोपासनाकी गौणता है—यह विचार युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। द्वितीयतः सर्वकर्मसंन्यास पूर्वक भिक्षापात्र हाथमें लेकर मोक्षके लिये जंगलमें चले जानेके लिये भी अर्जुनको रणक्षेत्रमें गीता नहीं कही जा सकती। क्योंकि अर्जुन तो अहन्ता ममताके वशीभूत होकर गाण्डीवको छोड़ ही चुका था। उसी कर्मत्यागमें प्रकारान्तर-

से प्रोत्साहन भगवान् कैसे दे सकते थे। जिस अर्जुनने—

'निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः'

ऐसा कविके मुखसे कहा कर किसी समय विजयश्री लाभके सम्मुख निर्वाणमोक्षको भी तुच्छ किया था, उसके प्रति नीरे मोक्षका उपदेश करना अनधिकार चर्चा मात्र है। इस कारण ऐसा भी सिद्धान्त निर्णय करना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। तृतीयतः सब कुछ छोड़ कर देवर्षि नारदकी तरह वीणावादन करते हुए केवल हरिनाम कीर्त्तनके लिये भी राज्यच्युत क्षत्रियवीर अर्जुनको गीताका उपदेश नहीं शोभा देता है। यदि ऐसा होता तो सब कुछ कहनेके बाद अन्तमें 'तस्माद् युध्यस्व भारत' 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इत्यादि युद्धप्ररोचक वाक्य गीतामें नहीं होते। अतः सिद्धान्त हुआ कि केवल ज्ञान, केवल भक्ति या केवल कर्म विज्ञानके सिखानेके लिये श्रीभगवान्ने अर्जुनको गीता नहीं कही थी। गीतोपदेशमें अर्जुन निमित्तमात्र ही थे, कर्मोपासना ज्ञानसामञ्जस्य द्वारा निखिल संसारका परमकल्याण साधन करना और उसी बीचमें अर्जुनके द्वारा युद्ध कराकर धर्मका विजय करा देना यही गीतोपदेशका उद्देश्य था।

अब गीताके इसी प्रतिपाद्य विषय पर विशेषतया विचार किया जाता है। पहिले ही कहा गया है कि समस्त उपनिषदोंका दोहन करके सार गीता रूपी अमृत निकाला गया है। उप अर्थात् समीप परमात्माके जिस विद्याके द्वारा जाया

जाय उसको उपनिषद् या ब्रह्मविद्या कहते हैं। इसलिये गीता भी ब्रह्मविद्या है। अतः ब्रह्मप्राप्तिके लिये जिन साधनोंकी स्वतः अपेक्षा है गीताके प्रतिपाद्य विषय वे अवश्य होंगे। परमात्मा ब्रह्म सत् चित् आनन्दरूप हैं। उनके मौलिक सत्भावके ऊपर द्वैतभावमय निखिल प्रपञ्चका विस्तार है, जिसके साथ कर्मका नित्य सम्बन्ध है। उनके मौलिक आनन्दभावके ऊपर रागद्वेषमय संसारका अनन्त सुखदुःखमय दृश्य है जिसके साथ उपासनाका सम्बन्ध है और उनके मौलिक चित्भावके ऊपर समस्त विश्वमें व्याप्त अनन्त ज्ञानकलाका विलास है। अतः सत् चित् आनन्दमय ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये कर्म उपासना ज्ञानको सामञ्जस्यानुसार साधना नितान्त आवश्यक तथा उपयोगी है इसमें अणुमात्र संशय नहीं है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा परमात्माके सत्भावकी उपलब्धि, उपासनायोगके द्वारा उनके आनंदभावकी उपलब्धि और ज्ञानयोगके द्वारा उनके चित्भावकी उपलब्धि कर साधक कृतार्थ हो जाता है। इसी कारण श्रीमद्भागवतमें उद्धवको श्रीभगवान्ने कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

मनुष्यके कल्याणके लिये ज्ञान, कर्म और उपासना ये तीन ही योग कहे गये हैं, इसके सिवाय कहीं और कोई भी उपाय नहीं है। पूर्ण भगवान्के मुखनिःसृत होनेसे गीतामें

कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंकी पूर्णता है। मनुष्य प्रायः वासना-के वेगसे ही सकाम भावानुसार कर्म करता है और जहां पर वासनातृप्तिका मौका नहीं वहां कर्मको छोड़ बैठता है। निष्काम कर्ममें इन दोनोंका सामञ्जस्य रहनेसे कर्मकी पूर्णता निष्काम कर्मयोगमें ही है। इसमें कर्मका त्याग भी नहीं है और फलमें अस्पृहा रहनेके कारण कुछ न करनेके तुल्य भी है। गीतामें श्रीभगवान्ने इसी कर्मयोगका वर्णन करके कर्मतत्त्वको पूर्णता पर पहुंचा दिया है। यथा—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

तुम्हारा कर्ममें अधिकार है, किन्तु उसके फलमें कदापि नहीं, तुम्हें फलाकांक्षासे कर्म नहीं करना चाहिये और फल नहीं मिलता ऐसा सोच कर कर्म त्याग भी नहीं करना चाहिए। फलमें आसक्तिशून्य होकर योगयुक्तभावसे तथा सिद्धि असिद्धिमें समभावापन्न हो कर्म करो, इस प्रकार समभावापन्न होनेका नाम ही योग है। ये ही सब गीतामें उपदिष्ट कर्मयोगकी पूर्णताके प्रकाशक वचन हैं। इसी प्रकार उपासनाकी भी पूर्णता गीतामें पाई जाती है। सबसे निम्नश्रेणिकी उपासना भूत प्रेतकी उपासना है। उसके अनन्तर पितर, उसके अनन्तर देवता, उसके अनन्तर अवतार,

उसके अनन्तर सगुण ब्रह्म और सबके अन्तमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना है । इन सभी उपासनाओंका वर्णन गीतामें एक ही श्लोकके द्वारा कर दिया गया है । यथा—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ॥
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

देवोपासकगण देवलोकको, पितरोपासकगण पितृलोकको, प्रेतोपासकगण प्रेतलोकको और ब्रह्मोपासकगण ब्रह्मधामको जाते हैं । इसी ब्रह्मोपासनाके सगुण निर्गुण तथा अवतार पूजा रूपसे नाना भेद गीताके द्वादशाध्याय तथा अन्यान्य अध्यायोंमें विस्तृत भावसे बताये गये हैं । और इनकी साधनाके लिये मन्त्र, हठ, लय, राज इन चार योगोंके भी प्रचुर वर्णन बीचके छः अध्यायोंमें किये गये हैं । ये ही सब गीतामें उपासनाकी पूर्णताके दृष्टान्त हैं । इस प्रकारसे ज्ञानकी पूर्णताके भी बहुत लक्षण गीतामें पाये जाते हैं । यथा—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।'
'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।'
'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।'
'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।'
'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।'
'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥'

ज्ञान जैसी पवित्र वस्तु कहीं नहीं है। ज्ञानके सहारेसे सब पाप कट जाते हैं, अनेक जन्म साधनाके बाद ज्ञानके द्वारा ही परमात्मा प्राप्त होते हैं, समस्त कर्मोंकी परिसमाप्ति ज्ञानमें ही जाकर होती है, ज्ञानकी अग्निमें समस्त कर्म भस्मीभूत होजाते हैं, प्रेमके साथ भगवदुपासनामें लगे रहने पर भगवान् ज्ञान योग देते हैं जिसके द्वारा भक्त भगवान्को प्राप्त कर लेता है। ये ही सब गीतामें वर्णित ज्ञानकी पूर्णताके लक्षण हैं। अपूर्ण ज्ञान किसी साम्प्रदायिक पक्षपातको लेकर होता है, उसकी उदारता ससीम तथा परिच्छिन्न होती है। गीतामें इस प्रकार साम्प्रदायिकता कहीं भी नहीं है। इसी पूर्णताके कारण ही गीता सकल सम्प्रदाय, सकल धर्म तथा उपधर्मकी प्रिय वस्तु है। यदि गीता पूर्ण भगवान्के मुखसे न निकलती तो इस प्रकार सर्वजनप्रियता गीतामें कभी न आ सकती। यही श्रीमद्गीताकी सार्वजनीन पूर्णता तथा ज्ञानजगत्में निखिलकल्याणकारिता है।

गीतामें केवल कर्म उपासना ज्ञानकी ही पूर्णता नहीं है, अधिकन्तु इन तीनों योगोंकी समता तथा सामञ्जस्य भी है। इसी कारण सब अध्यायोंमें सब विषयका वर्णन रहने पर भी प्रधानतः प्रथम ६ अध्यायोंमें कर्मका वर्णन, द्वितीय ६ अध्यायोंमें उपासनाका वर्णन और अन्तिम ६ अध्यायोंमें ज्ञानका वर्णन देखनेमें आता है। वास्तवमें कर्म-उपासना-ज्ञानके सामञ्जस्यानुसार आश्रयके बिना सत्-चित्-आनन्दरूप ब्रह्मकी यथार्थ उपलब्धि नहीं हो सकती। त्रिगुण त्रिभावमय

संसारमें इन तीनोंका अवस्थानुसार विकाश नैसर्गिकरूपसे ही होता रहता है। जिस समय तमोगुणके विशेष प्रभावके द्वारा रजोगुण सत्त्वगुण आच्छन्न तथा अभिभूत हो जाता है उस समय जीवको निद्रा आजाती है। इसके बाद जब तमोगुण कुछ रजोगुणकी ओर झुकने लगता है तो जीवको निद्रा छोड़ कर कर्म करनेकी इच्छा होती है। तदनन्तर तमोगुणके दब जाने और रजोगुणके सत्त्वगुणाभिमुखीन होनेके समय जीवकी प्रवृत्ति उपासनाकी ओर हो जाती है। और अन्तमें जब सत्त्वगुणका विशेष प्रकाश तथा रजोगुण तमोगुणका अभिभव हो जाता है तो ज्ञानका स्वाभाविक उदय मनुष्योंमें होने लगता है। इस प्रकारसे त्रिगुण-तारतम्यानुसार कर्मो-पासना ज्ञानका किसी न किसी रूपमें नैसर्गिक विकाश मनुष्य मात्रमें बना रहता है। इन तीनोंके अधिकारकी सामञ्जस्यानुसार बढ़ाते बढ़ाते पूर्णता पर पहुंचा देनेसे ही जीवको निःश्रेयस प्राप्त होता है। जीवशरीरमें प्रधान तीन वस्तु हैं यथा—शरीर, मन और बुद्धि। इन तीनोंके चाञ्चल्यसे ही जीवका संसार-बन्धन होता है और इन तीनोंकी शान्तिमें ही अपवर्गकी प्राप्ति है। शरीरमें स्थूल इन्द्रियादि भोगलालसा निष्काम कर्मयोगके द्वारा अवश्य नष्ट होती है, क्योंकि जो रात दिन दूसरेकी सेवामें ही शरीरको लगा रखता है, दूसरेके सुखके लिये ही सब कुछ समर्पण कर देता है, उसमें व्यक्तिगत सुखादि लालसा नहीं रह सकती है। इसी प्रकार उपासनाके द्वारा मनो-निरोध होनेसे मनका चाञ्चल्य नाश और ज्ञानके द्वारा

अविद्याका नाश होनेसे बुद्धि प्रतिष्ठित होती है । अतः शरीर मन बुद्धि तीनोंको शान्त करके निःश्रेयस लाभ करनेके लिये सामञ्जस्यानुसार कर्म उपासना ज्ञानकी साधना ही श्रेष्ठतम उपाय है, यह निश्चय हुआ । जीवप्रकृति पर ध्यान देनेसे देखा जाता है कि प्रायः संसारमें तीन ही प्रकारके जीव होते हैं, यथा—शरीरप्रधान (Physical), मनःप्रधान (Emotional) और बुद्धिप्रधान (Intellectual) अतः इन तीनों प्रकृतियोंके अधिकारको देख कर उपाय बताना ही साधना का लक्षण होगा। शरीर-प्रधान जीवके लिये कर्मयोग, मनःप्रधान जीवके लिये उपासनायोग और बुद्धि-प्रधान जीवके लिये ज्ञानयोग ये ही उपाय हो सकते हैं जैसा कि ऊपर कहा गया है । अतः कर्मोपासनाज्ञानके सामञ्जस्यमें ही आत्मोन्नतिका रहस्य है। परमात्मामें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव होते हैं। उनका अध्यात्म भाव मायासे परे निर्गुण ब्रह्म है। उनका अधिदैव भाव मायाका सञ्चालक सृष्टिस्थितिप्रलयकारी ईश्वर है । उनका अधिभूत भाव अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमय विराट है । इन तीनों भावोंकी सम्यक् उपलब्धिके विना स्वरूपस्थिति नहीं होती है। कर्मके द्वारा अधिभूत भावकी, उपासनाके द्वारा अधिदैव भावकी और ज्ञानके द्वारा अध्यात्म भावकी उपलब्धि करके साधक कृतकृत्य हो जाता है। अतः आत्मानुभव व्यापारमें कर्म-उपासना-ज्ञानका सामञ्जस्यानुसार प्रयोग नितान्त आवश्यक है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, किन्तु जिस प्रकार मेघके द्वारा दृष्टि

के आच्छन्न होने पर सूर्य देखनेमें नहीं आते, ठीक उसी प्रकार स्थूल शरीरका मल, सूक्ष्म शरीरका विक्षेप और कारण शरीरका आवरण, आत्मदर्शन पथमें इन तीनों बाधाओंके रहनेसे परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं होते। कर्मके द्वारा मल नाश, उपासनाके द्वारा विक्षेप नाश और ज्ञानके द्वारा आवरण नाश होता है और तभी यथार्थरूपसे आत्माका अनुभव हो जाती है। यही सब कारण है कि श्रीमद्गीतामें श्रीभगवान्ने निखिलजीवोंके आत्यन्तिक कल्याणार्थ सामञ्जस्यानुसार कर्म-उपासना-ज्ञानका उपदेश किया है।

कर्म उपासना ज्ञानके भीतर सामञ्जस्यके अतिरिक्त परस्परापेक्षित्व भी है। इसलिये इनमेंसे किसी एकके बिना दूसरेमें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती। कर्मी यदि उपासना न करे तो अहङ्कारी अवश्य हो जायगा और अपने ही को कर्त्ता समझ कर कर्मबन्धनमें बद्ध हो जायगा। कर्मके साथ उपासनाका मधुरसंमिश्रण रहनेसे कर्मी सदा ही समझेगा कि उसकी सारी कर्मशक्ति भगवान्की दी हुई है, वह केवल यन्त्र मात्र है, इसलिये फलाफल जो कुछ हो वह भगवान्का ही है, उसका नहीं। ऐसा उपासनामूलक विचार रखनेसे कर्मयोग ठीक होता है और अनन्त कर्मोंको करते हुए भी जीव बन्धनको न पाकर मुक्तिको ही लाभ करता है। इसी प्रकार कर्मके साथ ज्ञान न रहनेसे 'कौन कर्म, कौन अकर्म और कौन विकर्म' है, इसका पता कभी भी

नहीं लगेगा, जिस कारण कर्ममें गलती अवश्य ही होजायगी। अतः प्रमाणित हुआ कि कर्मयोगकी सफलतामें उपासना-योग तथा ज्ञानयोगकी सहायताकी विशेष आवश्यकता है। इसी प्रकार उपासनामें भी यदि कर्म तथा ज्ञानका सहारा न मिले तो उपासक पूर्णता पर पहुंच नहीं सकता है। कर्महीन उपासना आलस्य, जड़ता आदिको उत्पन्न कर देती है। ध्यान या जपादिक करते करते बहुत समय निद्रा आने लगती है, और शरीर सञ्चालन कुछ भी न रहनेसे मनुष्य जड़ताग्रस्त हो जाता है। द्वितीयतः ज्ञानहीन उपासना परमात्माके यथार्थ स्वरूपके विषयमें हृदयको आकृष्ट करके साम्प्रदायिक बहुत कुछ अनुदारता तथा पक्षपात उपासकके अन्तःकरणमें ला देती है। ऐसा उपासक प्रायः अपने ही इष्ट को भगवान् समझ कर बाकी सबको तुच्छ समझने लगता है, अन्यान्य भगवन्मूर्तियोंके प्रति द्वेषभावापन्न हो जाता है और बहुधा उनका खण्डन करते हुए अपने ही इष्टकी सर्व-व्यापकताको भ्रमसे खण्डित कर देता है। अतः सिद्ध हुआ कि उपासनायोगमें सिद्धि लाभके लिये कर्मयोग तथा ज्ञानयोगकी विशेष अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार ज्ञानयोगमें भी कर्मयोग तथा उपासनायोगकी सहयोगिता अपेक्षित है। क्योंकि बिना कर्मयोगकी सहायताके अपनी व्यष्टिसत्ताको समष्टिसत्तामें तल्लीन करना दुःसाध्य हो जाता है, जिस कारण ब्रह्मोपलब्धिरूप ज्ञानयोगकी सिद्धि भी अति कठिन हो जाती है। और उपासनाके बिना ज्ञान तो शुष्क तर्करूपमें तथा

वाचिक ज्ञानरूपमें ही परिणत होजाता है। हृदयकी कोमलता, मधुरता, सरलता आदि मधुमय वृत्तियां नष्ट होने लगती हैं और योगदर्शनोक्त 'तीव्र संवेग' अर्थात् परमात्माके प्रति वेगवती गङ्गाकी तरह हृदयका प्रबल वेग जिसके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार 'आसन्नतम' हो सकता है वह तो असम्भव ही होजाता है। अतः देखा गया कि ज्ञानयोगकी पूर्णतामें भी कर्मयोग तथा उपासनायोगकी चिरसहचारिता नितान्त अपेक्षणीय है। यही कर्मोपासना ज्ञानमें परस्परापेक्षित्व है।

यही कारण है कि भवरोगवैद्यरूपी वेदमें कर्मकाण्डप्रतिपादक ब्राह्मण, उपासनाकाण्डप्रतिपादक संहिता और ज्ञानकाण्डप्रतिपादक उपनिषद्—इस प्रकारसे तीन काण्ड देखनेमें आते हैं और यही कारण है कि श्रीभगवान्के मुखारविंद-निःसृत गीतामें भी कर्म-उपासना-ज्ञानकी अलौकिक समता तथा सामञ्जस्य विधान करके समस्त संसारका अपूर्व कल्याणसाधन किया गया है। इस प्रकारसे ज्ञानरूपिणी गङ्गाप्रवाहिनी, कर्मरूपिणी यमुनाप्रवाहिनी और उपासनारूपिणी सरस्वती प्रवाहिनी तीनोंके मधुर सम्मिलनसे पुण्यमय गीताक्षेत्रमें दिव्य त्रिवेणीकी प्रतिष्ठा हो गई है जिसके पवित्र सलिलमें अवगाहन स्नान करके मनुष्य मात्र ही मुक्तिलाभ कर सकते हैं।

यही 'सुधी भोक्ताओं' के लिये निःश्रेयसप्रद गीताका उपदेश है। 'वत्स' पार्थको निमित्त बनाकर श्रीभगवान्ने जगत्-

को इसी गीताका उपदेश किया था और अधिकारानुसार अर्जुनको यही कहा था कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥

हे अर्जुन ! तुम जो कुछ करो, खाओ, हवन करो, दान करो या तपस्या करो सभी मुझमें समर्पण करना । यही अर्जुनके अधिकारानुसार ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्मयोगका उपदेश है, जिसके करनेसे धर्मयुद्धमें विजय लाभ होकर अर्जुनका 'नरावतार' धारण रूपी उद्देश्य भी सार्थक होगा और यथाकाल चित्तशुद्धि द्वारा उपासना तथा ज्ञानाधिकार लाभ होकर निःश्रेयस भी अर्जुनको प्राप्त हो सकेगा । समस्त जगज्जन श्रीभगवान् नन्दनन्दनके इस गम्भीर सारगर्भित उपदेशके अलौकिक रहस्यको हृदयङ्गम कर लेवे यही उनके राजीव चरणोंमें विनीत प्रार्थना है ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ध्यानम् ।

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयम् ,
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारते ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाऽध्यायिनीम् ,
अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयप्रदीपः ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला,
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी,
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवैः रणनदी कैवर्त्तकः केशवः ॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

ॐ तत् सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

प्रथमोऽध्यायः ।

धृत० उ०—धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

अन्वय—हे सञ्जय! (हे सञ्जय!) धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे (धर्मक्षेत्ररूप कुरुक्षेत्रमें) युयुत्सवः (युद्ध करनेकी इच्छा रखनेवाले) समवेताः (एकत्रित) मामकाः (मेरे पुत्र दुर्योधनादि) पाण्डवाः च एव (और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरादिने) किं अकुर्वत (क्या किया) ?

सरलार्थ—धृतराष्ट्रने कहा—हे सञ्जय ! कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्रित मेरे पुत्रगण तथा पाण्डवोंने क्या किया ?

चन्द्रिका—भगवद्गीताका यह विषय महाभारतके भीष्मपर्वमें २५वें अध्यायसे ४२वें अध्याय तक वर्णन किया गया है । इसका पूर्व वृत्तान्त यह है—युद्धारम्भसे पहिले भगवान् वेदव्यासने राजा धृतराष्ट्रसे जा कर पूछा कि 'यदि तुम्हारी इच्छा युद्ध देखनेकी हो तो मैं, तुम्हें दृष्टि

दे सकता हूं'। किन्तु अपने ही सामने अपने वंशनाशको देखना धृतराष्ट्रने उचित न समझा । इस पर धार्मिक सञ्जयको वेदव्यासने दिव्यदृष्टि दे दी ताकि एक ही स्थान पर बैठे बैठे सब घटनाओंको जान सके । इसी सञ्जयने भीष्मदेवके आहत होने पर जब धृतराष्ट्रको जाकर कहा तो राजा धृतराष्ट्रने प्रारम्भसे समस्त घटनाओंको जानना चाहा । इसी पर श्रीकृष्णार्जुन सम्वादको कहते हुए गीताकी घटना सञ्जयने धृतराष्ट्रको कही थी जिसके ये ही सातसौ श्लोक हैं । जो वस्तु गायी जाय या कही जाय उसे गीता कहते हैं । श्रीभगवान्‌के द्वारा गायी हुई अर्थात् कही हुई यह ब्रह्मविद्या इसलिये भगवद्गीता कही गई है । गीता उपनिषद्‌का सार है और संस्कृत व्याकरणमें उपनिषद् शब्द स्त्रीलिङ्ग माना गया है, इस कारण उपनिषद्‌के विशेषणरूपसे गीता शब्दका भी स्त्रीलिङ्गमें ही व्यवहार हुआ है । हस्तिनापुरकी चारो ओरकी भूमि कुरुक्षेत्र कहलाती है। कौरव-पाण्डवोंके पूर्वज कुरु नामक एक राजाने यज्ञार्थ इस भूमिका कर्षण किया था। उनके इस प्रकार हल जोतनेके कारण ही इसका नाम कुरुक्षेत्र पड़ा है। पश्चात् इन्द्रदेवने कुरु राजाको वर दिया था कि जो इस भूमिमें तपस्या द्वारा या युद्ध करते करते प्राण त्याग करेंगे उनको विशेष सद्गति प्राप्त होगी। इसी कारण कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र कहलाता है। इसके सिवाय जाबालश्रुतिमें भी लिखा है—'यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्' कुरुक्षेत्रमें ही देवताओंने यज्ञ किया था, जिसके अनन्तर सकल भूतोंकी सृष्टि हुई थी । अतः देवताओंका यज्ञ-स्थान, सकल जीवोंका प्रथम उत्पत्ति स्थान तथा मोक्षभूमि होनेके कारण कुरुक्षेत्रकी यही महिमा है । ऐसी धर्मभूमिमें एकत्रित कौरव पाण्डवोंके

हृदयमें धर्मभावका प्रभाव उत्पन्न होकर युद्धकार्यमें अन्यथा तो नहीं होगई, इस प्रकार आशङ्काके कारण ही 'किमकुर्वत' अर्थात् क्या किया इस प्रकार प्रश्न करनेका अवसर राजा धृतराष्ट्रको प्राप्त हो गया है । यदि धर्मभावके प्रभावसे पाण्डवगण कुटुम्बनाशकारी संग्रामको छोड़ दें तो बिना युद्ध किये ही उनके पुत्रोंको राज्य मिल जायगा, अथवा यदि उनके पुत्रोंका ही पापहृदय धर्मभूमिके प्रभावसे पापमुक्त हो जाय तो इतना उद्योग सब व्यर्थ हो जायगा—इस प्रकार सन्देहके कारण ही यह प्रश्न हुआ है । अपने पुत्रोंके प्रति 'मामकाः' अर्थात् 'मेरे' ऐसा कह कर पाण्डवोंके प्रति उनका ममत्व नहीं है, किन्तु द्रोहभाव है यही सूचित किया गया है । 'सञ्जय' शब्दसे सम्बोधन करनेका तात्पर्य यह है कि 'तुम सञ्जय अर्थात् रागद्वेष आदिको जय किये हुए हो इसलिये यथार्थ घटनाओंको ठीक ठीक बतलाओगे, कुछ छिपाओगे नहीं' । इस प्रकारसे प्रश्न करने पर सञ्जयने क्या उत्तर दिया सो परवर्ती श्लोकमें कहा गया है ॥ १ ॥

सं० उ०—दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

अन्वय—पाण्डवानीकं (पाण्डवोंकी सेनाको) व्यूढं (व्यूह रचकर खड़ी) दृष्ट्वा (देखकर) तु (किन्तु) राजा दुर्योधनः (राजा दुर्योधन) आचार्यं (द्रोणाचार्यके) उपसङ्गम्य (समीप जाकर) वचनं (आगे कहे हुए वाक्य) अब्रवीत् (बोले) ।

सरलार्थ—सञ्जयने कहा—किन्तु पाण्डवोंकी सेनाको व्यूह

रचनाके द्वारा अवस्थित देख कर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास जाकर आगे कहे हुए वाक्योंको बोलने लगे।

चन्द्रिका—धर्मक्षेत्रके प्रभावसे अपने पुत्रोंकी पापबुद्धि नष्ट होकर संग्राममें अरुचि होना असम्भव है ऐसा प्रकट करनेके लिये सञ्जयने प्रथमतः दुर्योधनकी ही बात की। दुर्योधन पर धर्मभूमिका असर कुछ भी न पड़ा, किन्तु उलटा उन्होंने द्रोणाचार्यके पास जाकर उन्हें संग्रामके लिये उत्तेजित करना शुरू किया, इस बातको बतानेके लिये 'तु' अर्थात् 'किन्तु' शब्दका प्रयोग किया गया है। दुर्योधन राजा थे, इस लिये आचार्यको अपने ही पास बुला सकते थे, किन्तु ऐसा न करके स्वयं उनके पास चले जानेमें यह सूचित होता है कि पापी होनेके कारण तथा भीमार्जुनका प्रताप विदित होनेके कारण उनके चित्तमें विशेष भय था। भय होने पर भी उस भयको छिपाना राजनीतिकुशलता है, इस कारण राजा और आचार्य शब्दद्वयका प्रयोग हुआ है, क्योंकि शिष्यको राजा होने पर भी आचार्यके पास स्वयं जानेमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकारसे अपने शिक्षागुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर दुर्योधन नीचे लिखे वाक्योंको कहने लगे॥ २॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य! महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

अन्वय—हे आचार्य! (हे आचार्य!) तव शिष्येण धीमता द्रुपदपुत्रेण (आपके शिष्य बुद्धिमान् द्रुपदराजपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा) व्यूढां (व्यूहरूपमें सजी हुई) पाण्डुपुत्राणां (पाण्डवोंकी) एतां महतीं चमूं (इस बड़ी सेनाको) पश्य (देखिये)।

सरलार्थ—हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-राजाके पुत्र धृष्टद्युम्नने पाण्डवोंके विशाल सैन्योंको व्यूह-रचनामें सजा रक्खा है सो देखिये ।

चन्द्रिका—कौरवोंकी अपेक्षा पाण्डवगण द्रोणाचार्यके अधिक प्रिय शिष्य थे । इसलिये प्रेम तथा स्नेहवश आचार्य यदि संग्राममें शिथिलता करें, इस आशङ्कासे पहिले ही से आचार्यके हृदयमें क्रोध उत्पन्न करनेका दुर्योधनने उद्योग किया । उन्होंने कहा 'धृष्टद्युम्न आपका शिष्य होने पर भी आपहीके संहारके लिये प्रस्तुत हुआ है और वह आपके चिरद्वेषी द्रुपद राजाका पुत्र है, ऐसे गुरुद्रोही शिष्यकी धृष्टता कदापि क्षमा करने योग्य नहीं है ।' श्लोकमें 'शिष्य' शब्द कहनेका तथा 'धृष्टद्युम्न' न कह कर द्रुपदपुत्र कहनेका यही तात्पर्य है । किन्तु पराक्रमी होने पर भी आखिर शिष्य ही है, शिष्यसे गुरुका बल सदा अधिक ही होता है, अतः वह उपेक्षाके योग्य है, ऐसी चिन्ता आचार्य न करें, इसलिये 'धीमता' शब्दका प्रयोग हुआ है । अर्थात् शिष्य होने पर भी बुद्धिमान् शिष्य है, इस कारण उससे सदा सावधान रहना चाहिये । इस प्रकारसे दुर्योधनने पाण्डवोंके प्रति द्रोणाचार्यके क्रोध उत्पन्न करनेकी चेष्टा की । धर्मक्षेत्रमें आने पर भी जिसकी इस प्रकार कुटिल बुद्धि है वह दुर्योधन धर्मक्षेत्रके प्रभावसे युद्ध छोड़ देगा, यह धृतराष्ट्रकी धारणा मिथ्या है, इस श्लोकके द्वारा यह भी सूचित हुआ । युद्धमें सैन्योंकी विशेष विशेष सजावटको व्यूह कहते हैं । महाभारतमें लिखा है कि इस समय पाण्डवोंने भीष्मके द्वारा रचे हुए कौरव सैन्यव्यूहका सामना करनेके लिये वज्रव्यूहकी रचना की थी ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अन्वय—अत्र (इस सेनामें) शूराः (वीरगण) महेष्वासाः (महान् धनुषधारिगण) युधि (युद्धमें) भीमार्जुनसमाः (भीम और अर्जुनके तुल्य) महारथः (एकाकी ग्यारह हजारके साथ लड़नेवाले महारथी) युयुधानः (सात्यकि) विराटः च द्रुपदः च (विराट और द्रुपद) वीर्यवान् (वीर) धृष्टकेतुः चेकितानः काशिराजश्च (धृष्टकेतु, चेकितान और काशीराज) नरपुङ्गवः (नरश्रेष्ठ) पुरुजित्, कुन्तिभोजः च शैब्यः च (पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैब्य) विक्रान्तः (पराक्रमी) युधामन्युः (युधामन्यु) वीर्यवान् (वीर) उत्तमौजाः च (उत्तमौजा) सौभद्रः (सुभद्रापुत्र अभिमन्यु) द्रौपदेयाः (प्रतिविन्ध्य आदि द्रौपदीके पांच पुत्र) च (और भी घटोत्कच आदि) सर्वे एव (ये सभी) महारथाः (महारथी हैं)।

सरलार्थ—इस सेनामें भीमार्जुनके समान महान् बलशाली तथा धनुषधारी महारथ सात्यकि, विराट और द्रुपद, वीर

धृष्टकेतु, चेकितान और काशीराज, नरश्रेष्ठ पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, अभिमन्यु, द्रौपदीतनय प्रतिविन्ध्यादि और घटोत्कचादि वीरगण उपस्थित हैं। ये सभी महारथ हैं।

चन्द्रिका—युद्धमें केवल धृष्टद्युम्न ही वीर नहीं हैं जिससे निश्चिन्त भी रह सकते हैं किन्तु और भी अनेक पराक्रमी योद्धा एकत्रित हुए हैं, जिस कारण आचार्यको तथा सबको बहुत सावधान होकर युद्ध करना चाहिये—इसी बातको विदित करनेके लिये दुर्योधनने पाण्डवसैन्योंका वर्णन करना प्रारंभ किया। ये सभी वीर महान् धनुषधारी अर्थात् दूरसे ही शत्रुनाश में समर्थ हैं, भीमार्जुन के समान युद्धकलामें परमनिपुण हैं और सभी महारथ हैं। युद्धमें अतिरथ, महारथ, रथ और अर्द्धरथ ये चार प्रकारके वीर होते हैं। उनमेंसे असंख्य सेनाओंके साथ एकाकी युद्ध करने वाले अतिरथ, ग्यारह हजार सैन्योंके साथ एकाकी संग्राम करनेवाले महारथ, एकके साथ युद्ध करनेवाले रथ और उससे भी न्यून अर्द्धरथ कहलाते हैं। पाण्डवसैन्योंमें ये सभी महारथ हैं यही दुर्योधनका कहना है ॥ ४-५-६ ॥

अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम !
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अन्वय—हे द्विजोत्तम ! (हे द्विजश्रेष्ठ आचार्य !) अस्माकं (हमारे) तु (किन्तु) ये (जो वीरगण) विशिष्टाः (श्रेष्ठ) मम

(अपने) सैन्यस्य नायकाः (सेनाओंके नेता हैं) तान् (उनको) निबोध (जानिये) ते (आपके) संज्ञार्थं (ठीक ठीक जाननेके लिये) तान् ब्रवीमि (उनके नाम कहता हूं)।

सरलार्थ--हे द्विजोत्तम आचार्य! किन्तु हमारे भी पक्षमें जो प्रधान प्रधान व्यक्ति तथा सेनानायक एकत्रित हुए हैं उनको देखिये, आपके विशेष विदितार्थ उनके नाम लेता हूं।

चन्द्रिका—पाण्डव पक्षमें इतने इतने वीर हैं, जिनको देख कर तुम भयभीत हो गये हो, इसलिये सन्धि ही क्यों नहीं कर लेते, ऐसा यदि आचार्य कह बैठे, इस कारण दुर्योधन पहिले ही से अपनी सेनाओंकी स्तुति करके उत्साह दिखा रहा है। श्लोकमें 'द्विजोत्तम' 'विशिष्टा' आदि शब्दोंके द्वारा अपने सैन्योंकी प्रशंसा करने पर भी 'तु' शब्द के द्वारा दुर्योधनने अपने हृदयका कुछ भय भी बताया है। और इस भयके छिपानेके लिये स्वपक्षीय योद्धाओंका महिमाकीर्तन किया है। यह सब राजाका राजनीतिकौशल है ॥७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्वय--भवान् (आप) भीष्मः च (और भीष्म) कर्णः च (तथा कर्ण) समितिंजयः (युद्धविजयी) कृपः च (कृपाचार्य भी)

अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र) विकर्णः च (और अपना भाई विकर्ण) सौमदत्तिः (सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा) जयद्रथः (सिन्धुराज जयद्रथ) मदर्थे (मेरे लिये) त्यक्तजीविताः (प्राण त्यागनेको भी प्रस्तुत) नानाशस्त्रप्रहरणाः (शत्रुको प्रहार करनेके साधनरूप अनेक शस्त्रोंसे युक्त) सर्वे (सबके सब) युद्धविशारदाः (युद्धमें निपुण) अन्ये च (और भी) बहवः (अनेक) शूराः (वीरगण) हैं।

सरलार्थ—स्वयं आप, भीष्मदेव, कर्ण, रणविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा तथा जयद्रथ ये सब हमारे दलमें विशिष्ट नेतागण हैं। इनके सिवाय कृतवर्मादि और भी अनेक वीर हैं जो युद्धकलामें परमनिपुण, शत्रुप्रहारी योग्य अनेक शस्त्रोंसे सुसज्जित तथा मेरे लिये सदा प्राण तक देनेको प्रस्तुत हैं।

चन्द्रिका—पूर्व श्लोकमें अपने पक्षके वीरोंका जो नाम गिनाना चाहा था, सो ही इन दो श्लोकोंमें गिनाया है। और यदि केवल चार पांच नाम सुन कर आचार्य थोड़ा ही समझें इस कारण यह भी कह दिया कि और भी अनेक अपने पक्षमें वीर हैं। वे केवल वीर ही नहीं हैं उनके पास अस्त्र शस्त्र भी बहुत हैं, सबके सब युद्धमें बड़े निपुण हैं और उनके प्रति प्रेम इतना रखते हैं कि प्राण तक न्योछावर करनेको तैयार हैं। इस प्रकारसे आचार्यको उत्साहित करनेके लिये दुर्योधनने अपनी सेनाओंका महिमाकीर्तन कर दिया॥ ८–९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वय—अस्माकं (हमारा) तत् (वह) भीष्माभिरक्षितं (भीष्मके द्वारा सुरक्षित) बलं (सैन्य) अपर्याप्तं (अपरिमित) एतेषां (इनका) तु (किन्तु) भीमाभिरक्षितं (भीमके द्वारा सुरक्षित) इदं (यह) बलं (सैन्य) पर्याप्तं (परिमित है)।

सरलार्थ—वीरचूड़ामणि सूक्ष्मबुद्धि भीष्मके द्वारा सुरक्षित एकादश अक्षौहिणी संख्यक हमारा सैन्य शत्रुनाशके लिये अति यथेष्ट है । किन्तु स्थूलबुद्धि भीमके द्वारा सुरक्षित सप्त अक्षौहिणी संख्यक पाण्डवोंका सैन्य हमें जीतनेके लिये बहुत कम है।

चन्द्रिका—आचार्यको उत्साहित करनेके लिये पूर्वश्लोकोंमें सेनानायकोंका वर्णन करके अब इस श्लोकके द्वारा सेना संख्याओंका दुर्योधनने वर्णन किया । उनकी सेना एकादश अक्षौहिणी है । किन्तु पाण्डवोंकी केवल सात अक्षौहिणी परिमित है । उनके सेनारक्षक वीरकेशरी परमधीमान् भीष्मदेव हैं और पाण्डवोंके सेनारक्षक स्थूलबुद्धि भीम हैं। अतः चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं है, विजय ही अवश्यम्भावी है, यही इस श्लोकका तात्पर्य है। पूर्व श्लोकानुसार पाण्डव सैन्योंके व्यूह रचनेवाले द्रुपदपुत्र होने पर भी सेनारक्षक भीम ही थे, इस कारण दुर्योधनको भीम ही सामने दीखे । एक अक्षौहिणी सेनामें २१८७० हाथीके सवार, २१८७० रथी, ६५६१० घुड़सवार और १०९३५० पैदल

सैन्य—सब समेत २१८७०० सैन्य रहते हैं । इस हिसाबसे कौरवपक्षमें कुल २४०५७०० सैन्य और पाण्डवपक्षमें कुल १५३०९०० सैन्य थे, यही निश्चित होता है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अन्वय—सर्वेषु च अयनेषु (व्यूह रचनाके अनुसार अपने अपने सभी स्थानोंमें) यथाभागं (सैन्यविभागके अनुसार) अवस्थिताः (ठहरते हुए) सर्वे एव हि भवन्तः (आप सभी मिलकर) भीष्ममेव (भीष्मको ही) अभिरक्षन्तु (रक्षा करें)।

सरलार्थ—व्यूहरचनामें प्रधान अप्रधानके विचारसे आप सबके जो ठहरनेके स्थान हैं वहीं पर अपने अपने विभागके अनुसार ठहर कर आप सब सेनापति भीष्मकी ही रक्षा करें।

चन्द्रिका—अपने सैन्योंका बल बता कर अब दुर्योधन युद्धारम्भ समयका कर्त्तव्य बता रहे हैं । युद्धभूमिमें प्रधान अप्रधानके विचारसे योद्धाओंका जो ठहरनेका स्थान है उसे अयन कहते हैं । उसी अयनमें अपने अपने सैन्य विभागके अनुसार ठहरना और स्वेच्छासे अन्यत्र न चले जाना यही सब युद्धकालीन कर्तव्य होता है । सेनापति समस्त सैन्योंके बीचमें सबके नायकरूपसे रहते हैं । उनकी रक्षा करना, आगे लड़ते हुए पीछेसे उन्हें कोई मार न देवे इसकी सावधानी रखना, सब सैन्योंका कर्त्तव्य होता है, इसीलिये दुर्योधनने सबको यह उपदेश दिया है । भीष्मदेव तो कालसे भी अजेय हैं, और स्वयं सबके रक्षक हैं, उनकी

रक्षाके लिये दूसरेकी आवश्यकता क्या है, ऐसा यदि प्रश्न हो तो उसका उत्तर दुर्योधनने दूसरे स्थानमें इसी भीष्मपर्वके भीतर ही दिया है। वहां पर कहा है कि वीरपुङ्गव भीष्मको और किसीसे डर नहीं है, केवल शिखण्डो पर वे अस्त्र नहीं चलाते, इस कारण उससे ही घात न हो, इसीकी रक्षा करना है॥ ११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥

अन्वय—प्रतापवान् (महाप्रतापशाली वीर) कुरुवृद्धः (वृद्ध कौरव) पितामहः (भीष्मदेवने) तस्य (दुर्योधनके) हर्षं (उत्साह और उल्लासको) संजनयन् (उत्पन्न करते हुए) उच्चैः (उच्च शब्दसे) सिंहनादं विनद्य (सिंहनाद करके) शङ्खं दध्मौ (शङ्ख बजाया)।

सरलार्थ—प्रतापशाली कुरुवृद्ध पितामह भीष्मदेवने दुर्योधनके चित्तमें हर्ष तथा उत्साह उत्पादन करनेके निमित्त उच्चस्वरसे सिंहनाद करके शङ्ख बजाया।

चन्द्रिका—दुर्योधन बाहरसे साहस दिखाने पर भी भीतरसे भयभीत अवश्य थे और द्रोणाचार्यके सामने इतनी बात कहने पर भी उन्होंने उत्साहके कोई शब्द नहीं कहे। इसके सिवाय भीष्मदेवकी रक्षाके लिये सबको कहकर उन्होंने उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ाई, ऐसा समझ कर दुर्योधनके भयनाश तथा उत्साहवृद्धिके लिये भीष्मदेवने सिंहनादपूर्वक शङ्ख बजाया। 'कुरुवृद्ध' शब्दके द्वारा वृद्धत्वके कारण दुर्योधनके चित्तका

उनको पता थी यही प्रकट होता है। 'पितामह' शब्दके द्वारा दुर्योधनके प्रति उनकी आत्मीयता सूचित होती है, जिससे द्रोणकी तरह उन्होंने उपेक्षा नहीं की थी। प्राचीन कालमें लड़ाईसे पहिले उसकी सूचनारूपसे शङ्ख बजानेकी चाल थी, अब उसके स्थान पर ब्यूगल बजते हैं॥ १२॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

अन्वय—ततः (भीष्मदेवके शङ्ख बजानेके अनन्तर) शङ्खाः च भेर्य्यः च पणवानकगोमुखाः (शङ्ख, भेरी, पणव, आनक, गोमुख आदि युद्धके सब बाजे) सहसा एव (अकस्मात् एकही साथ) अभ्यहन्यन्त (बजाये गये) सः शब्दः (बाजेका शब्द) तुमुलः (प्रचण्ड) अभवत् (हुआ)।

सरलार्थ—महावीर भीष्मके इस प्रकार उत्साह दिखाने पर कौरवसैन्योंमें भी शङ्ख, भेरी, पणव, आनक तथा गोमुख आदि रणवाद्य एकदम बजने लगे, जिससे प्रचण्ड शब्द हुआ।

चन्द्रिका—जब सेनाओंके नायक भीष्मदेवने ही उत्साह बताया तो सैन्योंके भीतर उत्साह फैलना ही था, इसलिये शङ्ख, बाजे आदि बहुत बजने लगे। किन्तु न तो इन शङ्खोंके विशेष विशेष नाम ही थे और न इनके वाद्यों-के प्रचण्ड शब्दसे पाण्डवोंके हृदयमें कोई क्षोभ ही उत्पन्न हुआ। जहां पाप है वहीं भय है और वहीं भगवत् कृपाका अभाव है यह निश्चय है॥ १३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥ १४॥

अन्वय—ततः (इसके अनन्तर) श्वेतैः हयैः युक्ते (सफेद घोड़ोंके द्वारा युक्त) महति स्यन्दने स्थितौ (महान् रथ पर बैठे हुए) माधवः पांडवः च एव (कृष्ण और अर्जुनने) दिव्यौ शङ्खौ (अलौकिक शङ्खोंको) प्रदध्मतुः (उच्च ध्वनिसे बजाया)।

सरलार्थ—कौरव सैन्योंके रणवाद्य बजनेके बाद अग्निदत्त महान् श्वेताश्वयुक्त रथ पर अवस्थित श्रीकृष्ण तथा अर्जुनने दिव्य शङ्खोंको विपुल शब्दसे बजाया।

चन्द्रिका—पाण्डवोंका शङ्ख बजाना कौरवोंके बाद ही था, क्योंकि धार्मिक होनेके कारण वे हत्याकाण्डमें स्वभावतः प्रवृत्त होना नहीं चाहते थे। केवल कौरवोंके आह्वान पर प्रत्युत्तर रूपसे इनका शङ्खनाद था। भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मति तथा आज्ञाके बिना भक्त पाण्डवगण कोई भी काम नहीं करते थे, इस कारण प्रथम श्रीकृष्णके रणस्वीकारसूचक शङ्ख बजानेके बाद ही अर्जुनप्रमुख सब पाण्डवोंने शङ्ख बजाया। श्वेत अश्वयुक्त रथ अग्निदेवसे मिलनेके कारण उस पर बैठनेवाले विजयी होंगे यह सूचित होता है॥ १४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक्॥ १८॥

अन्वय—हृषीकेशः (श्रीकृष्ण) पाञ्चजन्यं (पाञ्चजन्य नामक शङ्खको) धनञ्जयः (अर्जुन) देवदत्तं (देवदत्त नामक शङ्खको) भीमकर्मा (शत्रुओंके भयजनक कर्म करनेवाले) वृकोदरः (भीम) महाशङ्खं पौण्ड्रं (पौण्ड्र नामक महाशंखको) कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः (कुन्तीतनय धर्मराज युधिष्ठिर) अनन्तविजयं (अनन्तविजय नामक शंखको) नकुलः सहदेवः च (नकुल और सहदेव) सुघोषमणिपुष्पकौ (सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंखको) दध्मौ (प्रत्येकने अपने अपने शंखको बजाया)। परमेष्वासः (उत्तम धनुष धारण करनेवाले) काश्यः च (काशीराज भी) महारथः शिखण्डी च (महारथ शिखण्डी भी) धृष्टद्युम्नः विराटः च (धृष्टद्युम्न और विराट भी) अपराजितः सात्यकिः च (अजेय सात्यकि भी) द्रुपदः द्रौपदेयाः च (द्रुपद और द्रौपदीतनयगण भी) महाबाहुः सौभद्रः च (शक्तिवान् भुजावाले अभिमन्यु भी) हे पृथ्वीपते! (हे धृतराष्ट्र!) सर्वशः पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः (सबने अलग अलग शंख बजाये)।

सरलार्थ—श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक शंख, अर्जुनने देवदत्त नामक शंख और भीमकर्मा भीमने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय

नामक, नकुलने सुघोष नामक और सहदेवने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया। इसी प्रकार महाधनुर्धर काशीराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद-राजा, द्रौपदीके पुत्रगण और महाबाहु अभिमन्यु, हे राजन्! इन सभीने पृथक् पृथक् अपना शंख बजाया।

चन्द्रिका--कौरवपक्षमें अपने नामसे प्रसिद्ध एक भी शंख न होने पर भी पाण्डवपक्षमें इतने स्वनामप्रसिद्ध शंख थे, इससे पाण्डवपक्षकी उत्कृष्टता सूचित की गई। हृषीक अर्थात् इन्द्रियोंके ईश अर्थात् प्रेरक प्रभु होनेके कारण पाण्डवोंकी भी सहायता उत्तमरूपसे करेंगे—'हृषीकेश' पदके द्वारा यही भाव बताया गया। दिग्विजयमें राजाओंको जीतकर जो धन ला सकते हैं ऐसे 'धनञ्जय' अर्जुन सर्वथा अजेय हैं यही धनञ्जय पदके द्वारा सूचित हुआ। जिसके उदरमें 'वृक' नामक अग्निके रहनेसे पाचन शक्ति अद्भुत है ऐसे भीम बहुत ही बलशाली होंगे 'वृकोदर' शब्दके द्वारा यही कहा गया। कुन्तीकी प्रबल तपस्या द्वारा जो पुत्र युधिष्ठिर धर्मराजसे मिले हैं वे धर्मयुद्धमें स्थिर ही रहेंगे डिगेंगे नहीं 'कुन्तीपुत्र' और 'युधिष्ठिर' शब्दोंके द्वारा यही बताया गया है। बाणा-सुरके साथ युद्धमें जो पराजित नहीं हुए हैं, ऐसे सात्यकि यहां भी अजेय रहेंगे, 'अपराजित' शब्दके द्वारा यही सूचित हुआ। इस प्रकारसे सञ्जयने धृतराष्ट्रको पाण्डवपक्षीय वीर तथा शङ्खोंकी महिमा सुना दी ॥ १५-१८॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अन्वयं—तुमुलः (प्रचण्ड) सः घोषः (पाण्डवोंकी शङ्खध्वनिने) नभः च (आकाशको) पृथिवीं च एव (और पृथिवीको) अभ्यनुनादयन् (प्रतिध्वनिके द्वारा पूर्ण करके) धार्त्तराष्ट्राणां (आपके पुत्रगण तथा आपके पक्षवाले सैन्योंके) हृदयानि व्यदारयत् (हृदयको विदीर्ण जैसा कर दिया)।

सरलार्थ—सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—अति प्रचण्ड पाण्डव वीरोंकी शङ्खध्वनिके द्वारा आकाश तथा मेदिनी गूंज उठी और आपके पुत्र तथा सैन्योंके चित्तमें हृदय-विदारणतुल्य भय और व्यथा उत्पन्न होगई।

चन्द्रिका—कौरवोंकी शङ्खध्वनिसे पाण्डवोंके चित्तमें कोई भी क्षोभ या भय नहीं हुआ था, बल्कि उन्होंने अपनी अपनी शङ्खध्वनियोंके द्वारा उसका जवाब ही दे दिया था। किन्तु अधर्मपक्ष होनेके कारण पाण्डवोंके शङ्खनादको सुनते ही कौरवोंके हृदय हिल गये और फट जानेके तुल्य व्यथा तथा भय उत्पन्न होने लगे। यही पाप और पुण्य बलमें भेद है। शङ्खनादकी तीव्रता इसीके द्वारा प्रकट हुई कि उसकी प्रतिध्वनिसे ही आकाशमण्डल तथा भूमण्डल गूंजने लग गये थे ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते!॥ २०॥

अन्वय—हे महीपते! (हे महाराज धृतराष्ट्र!) अथ (भय-जनक शङ्खघोषके अनन्तर) कपिध्वजः पाण्डवः (महावीर हनु-

मान्की मूर्त्ति जिनकी रथध्वजामें है ऐसे अर्जुनने । धार्त्तराष्ट्रान् (कौरवोंको) व्यवस्थितान् (युद्ध करनेके लिये सुसज्जित) दृष्ट्वा (देखकर) शस्त्रसम्पाते (शस्त्र समूहके) प्रवृत्ते (चलानेकी तैयारी होने पर) धनुः उद्यम्य (अपने गाण्डीवको उठाकर) तदा (उस समय) हृषीकेशं इदं वाक्यं आह (श्रीकृष्णको आगे वर्णित वाक्य कहा)।

सरलार्थ—हे महाराज ! विपुल शङ्खनादसे हृदयमें अति क्षोभ तथा भय होने पर भी जब कपिध्वज अर्जुनने देखा कि कौरवगण युद्धके निमित्त ही उद्यत हुए हैं और शस्त्र चलानेकी तैयारी भी होगई है, तो उन्होंने भी अपने गाण्डीवमें शरसन्धान करते हुए भगवान् श्रीकृष्णको निम्न लिखित वाक्य कहा ।

चन्द्रिका—पाण्डवोंके विपुल शंखनादसे हृदय दहल जाने पर भी कौरव हटे नहीं, किन्तु लड़नेके लिए ही तैयार खड़े रहे, इससे उनका प्रबल हठ प्रमाणित होता है, यही 'अथ' कहनेका तात्पर्य है। किन्तु उस हठसे अर्जुन दबे नहीं, वीरताके साथ गाण्डीव लेकर अग्रसर ही हुए। जिनकी ध्वजामें महावीर हनुमान हैं, जिनके सारथि विश्वनियन्ता साक्षात् भगवान् हैं, जिनका पक्ष शुद्ध धर्मपक्ष है, उनमें भय कब हो सकता ? यही 'कपिध्वज' कहनेका तात्पर्य है । पाण्डव भगवान्के आज्ञाकारी थे, उनके परामर्श विना कोई कार्य नहीं करते थे, इसलिये उन्हींसे पहिले पूछा ॥ २० ॥

अ० उ०—सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ! ॥ २१ ॥

यावदेतांन्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अन्वय—हे अच्युत! (हे कृष्ण!) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) मे रथं स्थापय (मेरे रथको रक्खो) अहं (मैं) एतान् योद्धुकामान् अवस्थितान् (इन सब युद्धकी इच्छासे अवस्थित कौरवोंको) यावत् (जब तक) निरीक्षे (देखूं) अस्मिन् रणसमुद्यमे (इस युद्ध व्यापारमें) कैः सह (किन किनके साथ) मया योद्धव्यम् (मुझे लड़ना होगा)। अत्र युद्धे (इस कुरुक्षेत्रके युद्धमें) दुर्बुद्धेः धार्त्तराष्ट्रस्य (दुष्टबुद्धि दुर्योधन के) प्रियचिकीर्षवः (प्रियकरणेच्छु) ये एते (जो योद्धागण) समागताः (एकत्रित हुए हैं) योत्स्यमानान् (युद्ध करनेवाले उनको भी) अवेक्षे (मैं देखूं)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! दोनों सेनाओंके बीचमें मेरे रथको रक्खो, मैं युद्धकी इच्छासे अवस्थित इन सबको तब तक देखूँ कि इस युद्धमें मुझे किनके साथ युद्ध करना है। और मुझे उन लोगोंको भी देखना है जो दुर्बुद्धि दुर्योधनके प्रिय करनेकी इच्छासे यहां पर लड़ने आये हैं।

चन्द्रिका—अर्जुन युद्धके केवल मात्र दर्शक नहीं थे, अधिकन्तु गाण्डीव लेकर युद्धके लिये प्रस्तुत ही थे, तथापि उनमें देखनेकी इच्छा

इसलिये हुई कि यह युद्ध साधारण शत्रुओंके साथ नहीं है। इसमें भाई भाईमें तथा गुरुजन और कुटुम्बजनोंके साथ संग्राम करना है। इस कारण अर्जुन देखना चाहते थे कि किन किनके साथ उन्हें लड़ना होगा। उनके देखनेकी इच्छाका और भी एक कारण यह था कि दुष्टात्मा दुर्योधनको पापमय संग्रामसे निवृत्त न करके, कौन कौन मनुष्य उनकी दुष्टेच्छापूर्तिके लिये कुरुक्षेत्रमें एकत्रित हुए हैं और उनमें भीष्म द्रोण आदि उत्तम कोटिके पुरुष हैं कि नहीं। भगवान्को 'अच्युत' नामसे इसलिये पुकारा गया है कि वे अच्युत होनेके कारण स्वयं भी च्युत नहीं होंगे और पाण्डवोंको भी च्युत नहीं होने देंगे। भक्त अर्जुनका जब भक्तवत्सल भगवान् पर इतना अधिकार है कि उनको सैन्योंके बीचमें रथ रखनेके लिये हुकुम भी दे सकते हैं तो ऐसे प्रिय भक्तका कभी नाश या पराजय नहीं हो सकता है यह भी भाव इन श्लोकोंके द्वारा व्यक्त हुआ है ॥ २१-२३ ॥

सं० उ०—एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ ! पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

अन्वय—हे भारत ! (हे धृतराष्ट्र !) गुडाकेशेन (अर्जुनके द्वारा) एवं (इस प्रकारसे) उक्तः (कहे जाने पर) हृषीकेशः (श्रीकृष्ण) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) भीष्मद्रोणप्रमुखतः (भीष्म द्रोणके सामने) सर्वेषां महीक्षितां

च (सब राजाओंके भी सामने) रथोत्तमं (उत्तम अग्निदत्त रथको) स्थापयित्वा (रखकर) हे पार्थ! (हे अर्जुन!) समवेतान् (एकत्रित) एतान् कुरून् पश्य (इन कौरवोंको देखो) इति उवाच (ऐसा बोले)।

सरलार्थ—सञ्जयने कहा–हे महाराज! अर्जुनके द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीच तथा भीष्म द्रोण और समस्त राजाओंके सम्मुख उत्तम रथको रखकर कहा—'हे पार्थ! एकत्रित हुए इन कौरवोंको देखो'।

चन्द्रिका—अर्जुनके ऐसा कहने पर श्रीभगवान्‌ने उन्हें कदाचित् युद्धरूपी हिंसाकार्यसे निवृत्त ही न किया हो, धृतराष्ट्रकी ऐसी आशङ्काके निवारणार्थ सञ्जयने रथ रखनेका वृत्तान्त कह दिया और 'भारत' शब्दसे सम्बोधन करके अपने उच्च वंशका भी स्मरण दिलाया कि ऐसे उत्तम वंशके कौरवोंको मित्रद्रोहमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। अर्जुनको 'गुडाकेश' अर्थात् गुडाका—निद्रा, प्रमाद, आलस्यके ईश—जीतनेवाले कहनेका यही तात्पर्य है कि प्रमादशून्य होनेके कारण सावधानतासे ही विपक्षियोंको देखेंगे, सावधानतासे ही युद्ध करेंगे और थोड़ा बहुत प्रमाद हो जायगा तो अन्तर्यामी 'हृषीकेश' भगवान् उसको सुधार देंगे। 'पृथा' स्त्रीके सम्बन्धसे 'पार्थ' सम्बोधन द्वारा यही सूचित किया गया कि अभी स्त्रीजातिसुलभ मोह अर्जुनमें आनेवाला है क्योंकि 'हृषीकेश' होनेके कारण अन्तर्यामी भगवान्‌को यह ज्ञात था॥ २४–२५॥

तत्राऽपश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।

आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥

अन्वय—तत्र (वहां) उभयोः सेनयोः अपि (दोनों पक्षके ही सैन्योंके भीतर) स्थितान् (युद्ध करनेके लिये उपस्थित) पितृन् (भूरिश्रवादि पितृव्योंको) अथ (तथा) पितामहान् (भीष्म सोमदत्तादि पितामहोंको) आचार्यान् (द्रोण कृपादि आचार्योंको) मातुलान् (शल्य शकुनि आदि मामाओंको) भ्रातृन् दुर्योधनादि भाइयोंको) पुत्रान् (लक्ष्मणादि पुत्रोंको) पौत्रान् (लक्ष्मणादिके पुत्रोंको) तथा (तथा) सखीन (अश्वत्थामा जयद्रथादि सखाओंको) श्वशुरान् सुहृदः च एव (और श्वशुर तथा कृतवर्मादि सुहृदोंको) पार्थः अपश्यत् (अर्जुनने देखा)।

सरलार्थ—वहां पर अर्जुनने दोनों सेनाओंके भीतर अवस्थित भूरिश्रवादि पितृव्यगण, भीष्मादि पितामहगण, द्रोणादि आचार्यगण, शकुनि आदि मातुलगण, दुर्योधनादि भ्रातृगण, लक्ष्मणादि पुत्रगण, पौत्र अर्थात् लक्ष्मणादिके पुत्रगण, अश्वत्थामादि मित्रगण, श्वसुरगण, तथा कृतवर्मादि सुहृद्गण सभीको देखा।

चन्द्रिका—अर्जुनने दोनों पक्षके ही सैन्योंमें ऐसे पूजनीय तथा स्नेहप्रेमपात्र आत्मीयजनोंको देखा जिनके साथ "पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरैः' अर्थात् फूलरूपी अस्त्रसे भी नहीं लड़ना चाहिये बाणकी बात ही क्या है ॥ २६ ॥

तान् संमीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

अन्वय—सः कौन्तेयः (अर्जुन) अवस्थितान् (ठहरे हुए) तान् सर्वान् बन्धून् (उन सब आत्मीयजनोंको) समीक्ष्य (देख कर) परया कृपया (अत्यन्त करुणाके द्वारा) आविष्टः (अभिभूत होकर) विषीदन् (दुःखितचित्तसे) इदं अब्रवीत् (यह बोले)।

सरलार्थ—अपने आत्मीयजनोंको युद्धक्षेत्रमें उपस्थित देखकर अतिशय करुणासे अर्जुनका चित्त भर गया और विषादग्रस्त होकर अर्जुन कहने लगे।

चन्द्रिका—मेरे ये सब आत्मीय तथा पूजनीय जन हैं, इनके वधरूपी हिंसाकार्य कैसे किया जासकता है, इस प्रकार ममताजन्य जो चित्तका भाव है वही यहां पर 'कृपा' कहा गया है। यह कृपा कोमलवृत्ति होने पर भी क्षत्रियजनोचित नहीं है, स्त्रियोंके लायक है, इस कारण 'कौन्तेय' शब्दका प्रयोग हुआ है। अर्थात् यह पिताके पुत्रका कार्य नहीं हुआ किन्तु कुन्तीपुत्र अर्थात् माताके पुत्रका ही कार्य हुआ है॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच।

दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण! युयुत्सून् समवस्थितान्।
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥ २८ ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥ २९ ॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव!॥ ३०॥

अन्वय—हे कृष्ण! (हे कृष्ण!) समवस्थितान् (युद्धक्षेत्रमें अवस्थित) इमान् युयुत्सून् स्वजनान् (इन सब युद्ध करनेके इच्छुक आत्मीयोंको) दृष्ट्वा (देख कर) मम गात्राणि (मेरे शरीरके अङ्ग) सीदन्ति (अवसन्न हो रहे हैं) मुखं च परिशुष्यति (और मुह सूख रहा है)। मे शरीरे (मेरे शरीरमें) वेपथुः च (कम्प) रोमहर्षः च (और रोमाञ्चन) जायते (हो रहा है), हस्तात् (हाथसे) गाण्डीवं (गाण्डीव धनुष) स्रंसते (ढीला होकर जमीनमें गिर रहा है) त्वक् च एव (त्वचा भी) परिदह्यते (जल रहा है)। हे केशव! (हे केशव!) अवस्थातुं (ठहर) न च शक्नोमि (मैं नहीं सकता) मे मनः च (मेरा मन भी) भ्रमति इव (घूम सा रहा है) विपरीतानि निमित्तानि च (वामनेत्र स्फुरण आदि विपरीत निमित्त समूह भी) पश्यामि (देख रहा हूं)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! युद्धकी इच्छासे समुपस्थित इन आत्मीयोंको देख कर मेरे सब अङ्ग अवसन्न हो रहे हैं, मुख सूखता है, शरीरमें कम्प तथा रोमाञ्चन हो रहा है, हाथसे गाण्डीव गिरा जा रहा है और शरीरमें जलन होने लगा है। हे केशव! मुझसे स्थिर नहीं रहा जाता है, मेरा मन मानो घूम रहा है, और वामनेत्र नाचना आदि अपशकुनोंको देख रहा हूं।

चन्द्रिका—ममताके कारण बन्धुवधसे घबड़ाये हुए अर्जुनके घबड़ानेकी अवस्था इन श्लोकोंमें बताई गई है । शरीरका अवसन्न होना, मुह सूखना, कम्प, रोमाञ्च, शरीरमें जलनरूपी भीतरी सन्ताप, मन घूमनारूप मूर्च्छाकी पूर्वावस्था ये सब चित्तके प्रबल विकारके सूचक हैं । इसी विकारमें उसके अनुकूल वामनेत्र नाचना आदि अपशकुन भी होने लगे, जिनको उन्होंने भावी अशुभका सूचक समझा । ये सब शकुन उनके युद्धमें पराजित होने आदिके सूचक नहीं थे, किन्तु उनके व्यामोहके ही सूचक थे । इनमें आस्तिकताके कारण उन्होंने अपने चित्तके अनुसार उन शकुनोंको ऐसे ही भावमें देखना प्रारम्भ किया । और भगवान्‌को 'कृष्ण' तथा 'केशव' शब्दोंसे सम्बोधन कर यही मनोभाव बताया कि 'तुम कृष्ण हो' भक्तोंके सब दुःखोंको आकर्षण करते हो, मेरे दुःखको भी आकर्षण करके नष्ट कर दो, तुम केशि आदि दैत्य निधनके कारण केशव कहलाते हो, मेरे हृदयके भी शोकरूपी दैत्यका संहार करो ।' इसके अनन्तर अर्जुनने अपना मनोभाव कहना प्रारम्भ किया ॥ २८–३० ॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
न कांक्षे विजयं कृष्ण ! न च राज्यं सुखानि च ॥ ३१ ॥
किं नो राज्येन गोविन्द ! किं भोगैर्जीवितेन वा ।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥ ३२ ॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥ ३३ ॥

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन!॥ ३४॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते।
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन!॥ ३५॥

अन्वय—हे कृष्ण! (हे कृष्ण!) आहवे (युद्धमें) स्वजनं हत्वा (आत्मीयजनको मारकर) श्रेयः च (कोई मङ्गल) न अनुपश्यामि (मैं नहीं देख रहा हूं) विजयं (युद्धमें जयलाभ) न कांक्षे (मैं नहीं चाहता) राज्यं च (राज्य भी) सुखानि च (और सुख भी) न (नहीं चाहता) हे गोविन्द! (हे कृष्ण!) येषां अर्थे (जिनके लिये) नः (हमारे) राज्यं भोगाः सुखानि च (राज्य, भोग और सुखसमूह) कांक्षितं (चाहे हुए हैं) ते इमे (वे ही सब) आचार्याः पितरः पुत्राः (आचार्य, पितृव्य, पुत्रगण) तथा एव च (ऐसे ही और) पितामहाः मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः तथा सम्बन्धिनः (पितामह, मातुल, श्वसुर, पौत्र, श्यालक और कुटुम्बगण) प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा (प्राण और धनकी आशाको परित्याग करके) युद्धे अवस्थिताः (युद्ध करनेको उपस्थित हैं) नः (अतः हमें) राज्येन किं (राज्यसे क्या प्रयोजन है?) भोगैः जीवितेन वा किं (भोगसे और जीवनधारणसे भी क्या प्रयोजन है?) हे मधुसूदन! (हे मधुसूदन!) घ्नतः अपि एतान् (हमें विनाश करने पर भी इनको) त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि (त्रिलोकीके राज्यके लिये भी) हन्तुं

न इच्छामि (मैं मारना नहीं चाहता), महीकृते किं नु (केवल पृथिवी लाभके लिये कौनसी बात है ?) हे जनार्दन! (हे जनार्दन!) धार्त्तराष्ट्रान् निहत्य (धृतराष्ट्र पुत्रोंको मार कर) नः (हमें) का प्रीतिः स्यात् (क्या सन्तोष होगा ?)।

सरलार्थ—हे कृष्ण ! युद्धमें आत्मीयोंको वध करके मैं कोई मङ्गल नहीं देखता हूं। मैं न विजय, न राज्य और न सुखको चाहता हूं। हे गोविंद ! जिन लोगोंके लिये हम राज्यभोग और सुख चाहते हैं वे ही ये आचार्य, पितृव्य, पुत्र तथा पितामह, मामा, श्वशुर, पौत्र, साले ओर सम्बन्धिगण प्राण तथा धनकी आशा छोड़ युद्धमें आये हुए हैं, अतः हमें राज्यभोग तथा जीवनसे क्या प्रयोजन है ? हे मधुसूदन ! यद्यपि हमको वे मारें तथापि मैं इनको इस पृथिवीके लिये क्या, त्रिलोकीके राज्यके लिये भी मारना नहीं चाहता हूं। हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रतनय दुर्योधन आदिको विनष्ट करके हमें क्या सन्तोष होगा ? अर्थात् कुछ भी सन्तोष नहीं होगा।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंके द्वारा क्षात्रधर्मविरुद्ध मोहजनित अर्जुनका मनोभाव व्यक्त हुआ है। वे कहते हैं कि बन्धुवधसे दृष्ट अदृष्ट कोई भी लाभ नहीं है क्योंकि आत्मीयोंको मार कर राजभोग आदि दृष्टसुख कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा और स्वर्गादि अदृष्टसुख तो शत्रुओंके साथ संग्राममें प्राण दे देनेसे होता है, उनके मार देनेसे नहीं, फिर आत्मीयोंको मारनेसे तो कुछ भी अदृष्टसुख नहीं हो सकता है। जिनको लेकर राज्य भोगका आनन्द लेना है वे ही जब सब मर गये, तो सुख भोगेंगे किसको लेकर।

अतः इस लोकको छोड़कर त्रिलोकके लिये भी नहीं लड़ना चाहिये और चाहे वे उन्हें मार देवें, वे कभी आत्मीय वध नहीं करेंगे, यही अर्जुनका मनोभाव है। 'मधुसूदन' और 'जनार्दन' सम्बोधनोंका यह तात्पर्य है कि मधुकैटभ नामक दैत्योंको मार कर तुमने वेदको बचाया है इस लिये मुझे अवैदिक कार्य्यमें प्रवृत्त न करो, तुम्हारा जनार्दन नाम प्रलयकालमें जनोंके मारनेके कारण ही पड़ा है इसलिये कौरवोंको मारना हो तो तुम ही मार लो, तुम्हें पाप नहीं लगेगा, मुझे बन्धुवधरूप पापकार्यमें प्रवृत्त न करो ॥ ३१-३५ ॥

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् सबांधवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३६ ॥

अन्वय—आततायिनः एतान् (इन आततायी अर्थात् शत्रुओंको) हत्वा (मारकर) अस्मान् (हम लोगोंको; पापं एवं (पाप ही) आश्रयेत् (लगेगा) तस्मात् (इस लिये) सबान्धवान् (सकुटुम्ब) धार्त्तराष्ट्रान् (दुर्योधनादिको) वयं हन्तुं न अर्हाः (हमें मारना उचित नहीं है)। हे माधव! (हे कृष्ण!) हि (क्योंकि) स्वजनं (आत्मीय जनको) हत्वा (मारकर) कथं (कैसे) सुखिनः स्यामः (हम सुखी हो सकते हैं?)।

सरलार्थ—दुर्योधन आदि आततायी होने पर भी इनके मारनेसे हमें पाप ही लगेगा। इसलिये सकुटुम्ब इनका नाश करना हमको उचित नहीं है। हे माधव! आत्मीय जनोंका वध करके हम कैसे सुखी हो सकते हैं?

चन्द्रिका—शास्त्रमें आततायीके विषयमें कहा गया है। यथा—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्।
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

घरमें आग लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र हाथमें लेकर मारनेको आनेवाला, धनहरण करनेवाला, भूमि हरण करनेवाला और स्त्रीहरण करनेवाला ये छः प्रकारके आततायी होते हैं। ऐसे आततायीको बिना विचारे ही मार देना चाहिये, इससे मारनेवालेको कोई भी पाप नहीं लगता। कौरवोंमें आततायीके ये छः ही लक्षण मिलते हैं। इन लोगोंने जतुगृहमें अग्नि लगाई थी, भीमको विष दिया था, अस्त्र लेकर लड़ने आये ही हैं, धन तथा भूमिका हरण कर ही लिया है और द्रौपदीके वस्त्रहरण आदि द्वारा स्त्रीहरणकारी भी हैं। इस दशामें आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार इनके मार देनेमें कोई पाप नहीं हो सकता। किन्तु अर्जुनने 'स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्' कुलनाशकारी पापी होता है, इत्यादि धर्मशास्त्रके विचारसे यही कहा कि ये सब आत्मीय जन हैं, इसलिये आततायी होने पर भी इनके मारनेमें पाप स्पर्श करेगा और बन्धुवध द्वारा कोई भी सुखलाभ न होगा। 'माधव' सम्बोधनका यही तात्पर्य है कि तुम 'मा' अर्थात् लक्ष्मीके 'धव' अर्थात् पति हो, अतः मुझे इस प्रकार लक्ष्मीहीन, श्रीहीन आत्मीयवधरूप पापकार्यमें प्रवृत्त न करो॥ ३६॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोपं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३७ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोपं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ! ॥ ३८ ॥

अन्वय--यद्यपि(यदिच)लोभोपहतचेतसः (राज्यलोभसे भ्रष्टबुद्धि) एते (ये सब कौरवगण) कुलक्षयकृतं दोपं (वंशनाशसे उत्पन्न दोष) मित्रद्रोहे च पातकं (और आत्मीयवधसे उत्पन्न पापको) न पश्यन्ति (नहीं देखते हैं), हे जनार्दन ! (हे कृष्ण !) कुलक्षयकृतं दोपं (कुलक्षयसे उत्पन्न दोपको) प्रपश्यद्भिः अस्माभिः (देखनेवाले हम लोगोंके द्वारा) अस्मात् पापात् (इस पापसे) निवर्त्तितुं (निवृत्त होनेके लिये) कथं न ज्ञेयम् (क्यों नहीं ये सब पाप जानने योग्य हैं) ।

सरलार्थ--राज्यलोभसे भ्रष्टचित्त होकर यद्यपि कौरवगण कुलक्षयसे क्या क्या दोप होता है और कुटुम्बनाशसे क्या क्या पाप होता है ये सब नहीं देख रहे हैं, तथापि, हे जनार्दन ! हम जब इन दोपोंको देख रहे हैं, तब इस पापसे निवृत्त होनेके लिये हम क्यों न इस बातको समझें ?

चन्द्रिका--इन श्लोकोंमें अर्जुनके कुटुम्बवधसे निवृत्त होनेका कारण और भी विशदरूपसे कहा गया है । यद्यपि क्षत्रियका यह धर्म है कि बुलाये जाने पर रणमें अवश्य जावे तथापि इस रणमें कुटुम्ब-नाश द्वारा वंशनाश होगा जिससे अनेक भावी दोषोंकी उत्पत्ति होगी

इसलिये ऐसा पापकर्म कदापि नहीं करना चाहिये, यही अर्जुनकी सम्मति है। दूसरे पक्षके लोग राज्यलोभसे विवेकहीन हो गये हैं, इस कारण ये सब दोष तथा पाप उन्हें नहीं दीख रहे हैं। किन्तु अर्जुनको जब दोष दीखता है तो उनके लिये ऐसा पाप करना कर्त्तव्य नहीं है। यही अर्जुनके कथनका आशय है ॥ ३७—३८ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ३९ ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ॥ ४० ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४१ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४२ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ! ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४३ ॥

अन्वय—कुलक्षये (कुलका क्षय होने पर) सनातनाः (सदाके चले हुए) कुलधर्माः (परम्पराप्राप्त कुलके धर्म समूह) प्रणश्यन्ति (करनेवालेके अभावसे नष्ट हो जाते हैं) धर्मे नष्टे (धर्मके नष्ट होने पर) अधर्मः (पाप) कृत्स्नं उत (समस्त ही) कुलं (कुलको) अभिभवति (ग्रास कर लेता है)। हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) अधर्माभिभवात् (अधर्मके द्वारा कुलके ग्रस्त होने पर) कुल-

स्त्रियः (कुलकी स्त्रियां) प्रदुष्यन्ति (बिगड़ जाती हैं) । हे वार्ष्णेय ! (हे यदुवंशोद्भव कृष्ण !) स्त्रीषु दुष्टासु (स्त्रियोंके बिगड़ जाने पर) वर्णसङ्करः जायते (वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होती है) । कुलस्य सङ्करः (कुलमें उत्पन्न सङ्करप्रजा) कुलघ्नानां (कुलनाशकोंके) नरकाय एव भवति (नरकका कारण बन जाती है) एषां पितरः हि (कुलनाशकोंके पितर भी) लुप्तपिण्डोदक-क्रियाः (श्राद्ध तर्पण क्रियाके लोपसे) पतन्ति (पतित हो जाते हैं) । कुलघ्नानां (कुलनाशकोंके) वर्णसङ्करकारकैः (वर्णसङ्कर उत्पन्न करनेवाले) एतैः दोषैः (इन दोषोंसे) जातिधर्माः (क्षत्रियादि जातिके धर्म) कुलधर्माः च (और कुलके भी धर्म) उत्साद्यन्ते (नष्ट हो जाते हैं)। हे जनार्दन ! (हे जनार्दन !) उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां (जिनके कुलधर्म नष्ट होगये हैं ऐसे मनुष्योंका) नियतं (सदाके लिये) नरके (नरकमें) वासः भवति (निवास होता है) इति अनुशुश्रुमः (ऐसा आचार्य-परम्परासे हमने सुना है) ।

सरलार्थ—कुलका क्षय होने पर करनेवालेके अभावसे परम्पराप्राप्त अग्निहोत्रादि कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मके नाशसे अधर्मके द्वारा अवशिष्ट समस्त कुल ग्रस्त हो जाता है । अधर्मकी इस प्रकार प्रबलता होने पर रक्षाके अभावसे कुलस्त्रियोंका चरित्रदोष हो जाता है, जिस कारण व्यभिचारादि द्वारा कुलमें वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होती है। कुलमें इस प्रकार सङ्करदोष कुलनाशकोंके नरकका कारण बन

जाता है और उनके पितर भी श्राद्ध तर्पणादिके अभावसे पतित हो जाते हैं। इस प्रकारसे कुलघातकोंके वर्णसङ्करकारी दोषोंके द्वारा परम्पराप्राप्त जातिधर्म और कुलधर्म लुप्त हो जाते हैं। हे जनार्दन ! लुप्तकुलधर्मी मनुष्योंका अनन्तकाल नरकवास होता है, आचार्योंके मुखसे हमने यही सुना है।

चन्द्रिका—दैवी सम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण इस प्रमादके समय भी अर्जुनको शास्त्र ही सूझता है और वे अपनी मोहग्रस्त बुद्धिके अनुसार अपने ही ढङ्ग पर शास्त्रका उपयोग कर रहे हैं। उनकी यह युक्ति है कि आत्मीयजनोंको मार डालनेसे कुलमें परम्परागत धर्मानुष्ठान करनेवाला कोई नहीं रहेगा, जिससे कुलमें धर्मनाश तथा अधर्मका उदय होगा। और अधर्म बढ़ जाने पर स्त्रियोंमें व्यभिचार फैल जायगा, जिससे वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होगी। तीन गुणके परिणामसे चार वर्णकी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जीव प्रथमतः तमोगुणप्रधान शूद्र वर्णमें उत्पन्न होता है, तदनन्तर क्रमोन्नतिको पाकर रजस्तमः प्रधान वैश्यवर्ण, रजः सत्त्वप्रधान क्षत्रियवर्ण और अन्तमें सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मणवर्णमें उसकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिकी त्रिगुणमयी सारी शक्ति इन चार धाराओंमें बटी हुई है, इसलिये इन्हींको प्रकृति अपनी शक्ति द्वारा उन्नत करती करती परमात्मा तक पहुंचा सकती है। इसके बीचमें सङ्करता द्वारा कोई विषम धारा बने तो उसको आगे चलानेके लिये प्रकृतिके पास शक्ति ही नहीं है। इसी कारण वर्णसङ्कर पशु या वर्णसङ्कर मनुष्यादिकी जाति नहीं चलती है। घोड़े या गधेका वंशनाश कभी नहीं होता है। किन्तु दोनोंके सम्बन्धसे उत्पन्न वर्णसङ्कर अस्वतर या खचर जातिका वंश कभी

नहीं चलता । अतः वर्णसङ्करी सृष्टिका न चलना प्राकृतिक है । इसी कारण अर्जुनको वर्णसङ्करसे इतना भय है जैसा कि मनुजीने भी कहा है—

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥

जहां वर्णदूषक वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है, वहां पर राष्ट्रवालोंके साथ राष्ट्रका शीघ्र ही नाश हो जाता है । अतः स्त्रियोंके दोषसे वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होने पर कुलनाश जातिनाश शीघ्र ही होगा और इसी पापसे कुलहन्ताको घोर नरकमें जाना पड़ेगा, यही अर्जुनका कथन है। द्वितीयतः पितरोंका भी इसमें विशेष अकल्याण है । इस लोकसे गये हुए हमारे पूर्वज पितर कहलाते हैं। इनमेंसे कर्मानुसार किसीको प्रेतत्वलाभ भी होता है और कोई कोई पितृलोकको भी जाते हैं । प्रेतलोक, पितृलोक ये सब भूर्लोकके अन्तर्गत ही सूक्ष्मलोक हैं । श्राद्ध तर्पणमें श्राद्धकर्त्ता अपनी सङ्कल्पशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा द्रव्यशक्ति अर्थात् श्राद्धमें समर्पित द्रव्योंकी शक्ति द्वारा पितरोंको सहायता करते हैं । जिससे शक्ति संयोग द्वारा प्रेतत्वनाश अथवा पितृलोकवासी पितरोंकी तृप्ति और उन्नति होती है । यही श्राद्ध तर्पणका संक्षेप सूक्ष्म विज्ञान है । शक्तिका प्रयोग समभूमिमें ठीक ठीक होता है, विषम भूमिमें नहीं हो सकता है । इसी कारण सन्तानका ही श्राद्धमें प्रथम अधिकार है । क्योंकि पिता माताका आत्मज होनेके कारण पिता माताके साथ सन्तानके आत्माकी समभूमि रहती है । यदि पिता और माता दोनों एकही वर्णके होंगे तो वर्णकी समतासे शक्तिकी समता होगी और उनके संयोगसे उत्पन्न

सन्तानके साथ भी शक्तिकी समभूमि रहेगी। इस कारण ऐसी सन्तानके द्वारा अनुष्ठित श्राद्ध तर्पणसे पितरोंको कल्याण प्राप्त होगा। उसके द्वारा प्रयुक्त सङ्कल्पशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा द्रव्यशक्तिका प्रभाव उन पर ठीक ठीक होगा। किन्तु यदि पिता माताके वर्ण भिन्न भिन्न प्रकार होंगे तो वर्णभिन्नताके कारण शक्तिकी समता नहीं रहेगी और इसलिये उनके शक्ति संयोगसे जो सन्तान होगी उसका मेल न पितृशक्तिसे ही होगा और न मातृशक्तिसे ही होगा, क्योंकि दोनों विषमशक्तिके संघर्षसे उत्पन्न वस्तुकी शक्ति दोनोंमेंसे किसीसे भी मेल न खायेगी, वह एक तीसरी ही शक्ति होगी। अतः ऐसी सन्तानके द्वारा अनुष्ठित श्राद्ध तर्पणसे पितरोंको कुछ भी लाभ नहीं होगा। इसलिये एक ओर तो वंशनाशके कारण श्राद्धकर्त्ताके अभावसे ही पितरोंका पतन होगा और दूसरी ओर वर्णसङ्कर प्रजाके द्वारा कृत श्राद्ध तर्पण उनको न प्राप्त होनेसे उनका पतन होगा। यही अर्जुनके पितरोंके पतन विषयमें दुःख करनेका कारण था। इस प्रकारसे वर्णसङ्कर सृष्टि द्वारा समस्त वर्ण धर्म तथा परम्पराप्राप्त कुलधर्मका उच्छेद होता है और जिनके कुलमें ऐसा होता है वे अनन्तकाल तक नरकमें दुःख भोगते हैं। येही सब आत्मीय वधके भीषण परिणाम सोच कर अर्जुन बहुत ही व्याकुल हो गये ॥ ३९–४३ ॥

अहो बत ! महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४५ ॥

अन्वय—अहो बत (अहो, महान् कष्ट है) वयं (हम सब) महत्पापं कर्त्तुं (महापाप करनेको) व्यवसिताः (उद्यत हुये हैं) यत् (जो कि) राज्यसुखलोभेन (राज्यसुखके लोभसे) स्वजनं (आत्मीय जनको) हन्तुं उद्यताः (मारने प्रस्तुत हुए हैं)। यदि (यदि) अप्रतीकारं (प्राणरक्षाका उपाय न करते हुए) अशस्त्रं (और शस्त्र धारण न करते हुए) मां (मुझको) शस्त्रपाणयः (हाथमें शस्त्र लेकर) धार्त्तराष्ट्राः (दुर्योधनादि) रणे (युद्धमें) हन्युः (मार दे) तत् मे (वह मेरे लिये) क्षेमतरं भवेत् (अधिक मङ्गलकर होगा)।

सरलार्थ—अहो! कैसे महापाप करनेको हम तैयार हुए हैं कि सामान्य राज्यसुखके लोभसे भीषण अनर्थकर आत्मीय वधमें प्रवृत्त हो रहे हैं। इसलिये इस युद्धमें यदि मैं आत्म-रक्षाके लिये कोई भी उपाय न करूं तथा शस्त्रधारण भी न करूं और कौरवगण शस्त्रप्रहारसे मेरा प्राणवध कर जांय तो वही मेरे लिये अधिक मङ्गलजनक होगा।

चन्द्रिका—कुलनाश और उसके कुपरिणामकी आशङ्कासे अर्जुन विह्वल हो गये हैं और क्षत्रिय धर्मको एकबारगी ही भूल कर यहां तक सोचने लगे हैं कि इस महापापका प्राणान्त ही प्रायश्चित्त है। तमोगुणको सत्त्वगुण समझ कर भूला हुआ मनुष्य जब मोहमें फंसता है, तब यही दशा होती है॥ ४४—४५॥

सं० उ०—एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४६॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नामप्रथमोऽध्यायः।

अन्वय—अर्जुनः (अर्जुन) एवं उक्त्वा (ऐसा कह कर) संख्ये (युद्धमें) सशरं चापं (बाणसहित गाण्डीव धनुषको) विसृज्य (फेंक करके) शोकसंविग्नमानसः (शोकसे व्यथित चित्त हो) रथोपस्थे (रथके ऊपर) उपाविशत् (बैठ गया)।

सरलार्थ—सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—श्रीकृष्णको इस प्रकारसे कह कर अर्जुनने धनुष बाण फेंक दिया और शोकसे अत्यन्त व्याकुलचित्त हो युद्धक्षेत्रमें रथ पर बैठ गये।

चन्द्रिका—प्रमाद तथा तमोगुणकी अधिकतासे मनुष्यमें जड़ता और निश्चेष्टता आ जाती है, यही दशा अपने धर्मको भूल कर अर्जुनकी हुई है॥ ४६॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुन सम्वादका अर्जुनविषादयोग नामक पहिला अध्याय समाप्त हुआ।

प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः ।

सं० उ०–तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अन्वय—मधुसूदनः (श्रीकृष्ण) तथा (उस प्रकारसे) कृपया (कृपाके द्वारा) आविष्टं (अधिष्ठित) अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं (अश्रुके द्वारा पूर्ण तथा व्याकुलनेत्र) विषीदन्तं (शोक करते हुए) तं (अर्जुनको) इदं वाक्यं (आगे कहे हुए वाक्य) उवाच (बोले) ।

सरलार्थ—सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—इस प्रकारसे अकस्मात् अर्जुनको कृपाके द्वारा आविष्ट अश्रुभरे व्याकुलनेत्र तथा खेदग्रस्त देखकर श्रीकृष्णने उन्हें आगे वर्णित वाक्य कहा ।

चन्द्रिका—जैसा कि धृतराष्ट्रको अनुमान था कि धर्मभूमिमें आकर पाण्डवगण युद्ध करना ही छोड़ देंगे और उनके पुत्रोंको विना युद्ध ही निष्कण्टक राज्य मिल जायगा, ऐसा अनुमान कुछ सत्यसा हो रहा है, इसलिये दुराशाग्रस्त अन्धराजकी बुद्धि ठिकाने पर लानेके लिये सञ्जयने आगेकी घटना कहना प्रारम्भ किया । धर्मभूमिका प्रभाव अर्जुन पर होने पर भी उन्हें अपना धर्म न सूझकर साधुका धर्म सूझा । क्योंकि शत्रुकी शत्रुता तथा पापीके पापकर्मको जानते हुए भी उनके प्रति उपेक्षा बताना साधुका धर्म है, क्षत्रियका नहीं । इसलिये अर्जुनका यह जातिधर्मविरुद्ध कृपा तथा अहिंसाभाव प्रमाद कोटिका विषय समझा गया जिसको श्रीभग-

वान्ने उपदेश द्वारा दूर कर दिया। अर्जुनकी यह कृपा उसकी स्वाभाविक वृत्ति नहीं थी, यह केवल एक व्यामोहजन्य स्नेहविशेष तथा चित्तकी सामयिक दुर्बलता मात्र थी, इसलिये श्लोकमें उन्हें कृपाके द्वारा आविष्ट कहा गया है। मानो जिस प्रकार भूत प्रेत पिशाचका मनुष्य पर आवेश होता है, ऐसा ही उन पर स्वधर्मविरुद्ध मोहरूपी कृपाका आवेश होगया था। श्रीभगवान्को 'मधुसूदन' शब्दसे सम्बोधित करनेका यही तात्पर्य है कि मधुकैटभ नामक दैत्योंकी मार कर जिनने वेदकी रक्षा की थी, वे अर्जुनके भीतर इस प्रकार प्रमाद नहीं रहने देंगे, किन्तु उपदेशद्वारा उनकी बुद्धिको ठीक करके उन्हें निमित्त बना असुरनिधन अवश्य हो करावेंगे, अतः धृतराष्ट्रकी विजयाशा दुराशामात्र है ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन !॥ २ ॥
क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अन्वय—हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) विषमे (ऐसे सङ्कटके समय) कुतः (कैसे) इदं (यह) अनार्यजुष्टं (आर्यजनके असेवनीय) अस्वर्ग्यं (स्वर्गलाभके विरोधी) अकीर्तिकरं (अपयशकारी) कश्मलं (मोह) त्वा (तुम्हें) समुपस्थितम् (प्राप्त हो गया)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) क्लैव्यं (क्लीवकी तरह कापुरुषता) मास्म गमः (नहीं प्राप्त करो), एतत् (यह)

त्वयि (तुम्हारे जेसे वीरपुरुषमें) न उपपद्यते (नहीं शोभा देता है), हे परन्तप ! (हे शत्रुतापन अर्जुन !) क्षुद्रं (तुच्छ) हृदयदौर्बल्यं (हृदयकी दुर्बलताको) त्यक्त्वा (त्याग करके) उत्तिष्ठ (उठो, युद्धके लिये तैयार होजाओ)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन ! ऐसे सङ्कटके समय तुम्हें कैसे इस प्रकार मोह उत्पन्न हो गया जो कि न आर्यजनके द्वारा सेवनीय ही है, न स्वर्गप्रद ही है तथा इहलोकमें भी यशका नाशक है। हे पार्थ ! तुम्हें इस प्रकार कापुरुषता (नामर्दी) को नहीं प्राप्त करना चाहिये, तुम्हारे जैसे वीरको यह शोभा नहीं देता, हे शत्रुतापन अर्जुन ! क्षुद्र हृदय दुर्बलताको छोड़ कर संग्रामके लिये प्रस्तुत हो जाओ।

चन्द्रिका—समय वास्तवमें वह बहुत ही सङ्कटमय था, क्योंकि दोनों ओरके सैन्य युद्ध करनेके लिये तैयार खड़े हैं, अस्त्रशस्त्र हाथमें उठा चुके हैं, रणशङ्ख सब बज चुके हैं, इतनेमें दोनों सैन्योंके बीचमें आकर अर्जुन कहता है 'मैं नहीं लड़ता', इससे अधिक सङ्कट और क्या हो सकता है ? इसलिये इस समयकी ज्ञानहीन, स्वधर्महीन दया दया नहीं है किन्तु मोह है, जिसको श्रीभगवान्‌ने 'कश्मल' कहा है। यह मोह आर्यजनके द्वारा सेव्य नहीं है। शास्त्रमें आर्यका लक्षण यह कहा गया है—

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ॥

जो अपने वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्यको पूरा करे, अकर्त्तव्यसे बचा रहे

और सदाचार परायण हो वही आर्य है। अर्जुनका वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्य क्या था? क्षत्रियका यही कर्त्तव्य होता है कि जो उसका आततायी हो, अधर्मसे उसका धन राज्य आदि अपहरण करता हो, पापका विस्तार तथा प्रजाका पीड़न करता हो उसे मार कर धर्मराज्यका स्थापन करे और अपने अपहृत राज्यका उद्धार करे। उस समय यदि क्षत्रियवीर यह विचारने बैठे कि शत्रुओंके तथा पापियोंके मारनेसे उनकी स्त्रियां विधवा हो जांयगी और वर्णसङ्कर हो जायगा तो क्षत्रिय अपना धर्मपालन कदापि नहीं कर सकता। यदि रावणवधके समय भगवान् रामचन्द्र ऐसे ही विचार करते तो पापी रावणका कदापि नाश न होता और न संसारमें धर्मकी ही रक्षा होती। अतः यह विचार दया या धर्ममूलक नहीं है, किन्तु प्रमाद, अज्ञान तथा मोहमूलक है। इसके सिवाय इसमें और एक महान् कर्त्तव्यकी भी हानि होती है। द्वापरयुगके अन्तमें संसार असुरोंके गुरुभारसे भाराक्रान्त हो गया था, पृथिवी माताने रो रो कर ब्रह्मादि देवताओंसे प्रार्थना की थी, इसीके फलरूपसे नर और नारायण भगवत् कला लेकर अर्जुन तथा कृष्णरूपमें भूभार हरणार्थ अवतीर्ण हुये थे। इस कारण पूर्वसम्बन्धसे भी भूभारहरण कार्यमें सहायता करनेके लिये युद्ध करना 'आर्य' अर्जुनका परम कर्त्तव्य था। अतः उनका यह मोह आर्यजनोचित नहीं था और मोक्षका विरोधी था। द्वितीयतः यह मोह स्वर्गका भी विरोधी था। क्योंकि सम्मुख संग्राममें मुख न मोड़ कर मरना मारना ही क्षत्रियवीरके लिये स्वर्गप्रद होता है। उसके विरुद्ध कार्य स्वर्गनाशक होता है। अतः संग्राम न करना स्वर्गविरोधी था। और इस लोकमें इसके द्वारा अपयशकी पराकाष्ठा तो हो ही जाती,

सब लोग अर्जुनको महाभीरु तथा कापुरुष कहकर निन्दा करते । अतः मोक्ष, स्वर्ग तथा यशोनाशक होनेके कारण अर्थात् इसमें आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक कोई भी कल्याण सम्भावना न रहनेके कारण अर्जुनका यह 'मोह' सर्वथा 'हेय' है । इसी कारण श्रीभगवान् कहते हैं हे अर्जुन ! तुम इस नामर्दीको छोड़ो, क्योंकि तुम 'पार्थ' हो, कुन्तीने अनेक तपस्याके द्वारा तुम्हें पाया है । तुम्हें यह कापुरुषता योग्य नहीं है क्योंकि साक्षात् महेश्वरसे भी लड़कर तुमने पाशुपत अस्त्र पाया है और तुम शत्रुको ताप देनेवाले 'परन्तप' हो, अतः हृदयकी इस छोटीसी 'कमजोरी' को छोड़ धराभारहारी धर्मयुद्धमें प्रवृत्त हो जाओ ॥ २-३ ॥

अ० उ०–कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन ! ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ! ॥४॥

अन्वय —हे अरिसूदन ! मधुसूदन ! (हे कृष्ण !) अहं (मैं) संख्ये (युद्धमें) पूजार्हौ (पूजाके योग्य) भीष्मं द्रोणं च (भीष्म पितामह और द्रोणाचार्यको) इषुभिः (बाणोंके द्वारा) कथं (किस प्रकारसे) प्रतियोत्स्यामि (मार सकूंगा) ।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण ! मैं किस प्रकारसे पूजाके पात्र भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्यके साथ युद्धक्षेत्र-में बाणोंसे लड़ सकता हूं ?

चन्द्रिका—अर्जुन कापुरुष नहीं थे, इसलिये श्रीभगवान्के ऐसा कहने पर उन्होंने उत्तर दिया कि कापुरुषताके कारण वे युद्धसे विमुख नहीं हो रहे हैं किन्तु पूजनीय पुरुष जो कि पुष्पचन्दनादिके द्वारा सदा

सत्कारके योग्य हैं, जिनके साथ हुंकार तुंकारसे बात करना भी महापाप है, उनको बाणोंसे प्रहार करना नितान्त अनुचित है, इसी कारण वे युद्धसे विमुख हो रहे हैं। 'प्रतियोत्स्यामि' शब्दका अर्थ प्रतियुद्ध करना है। अर्थात् गुरुजनोंको यों तो मारना ही नहीं चाहिये, अधिकन्तु उनकी ओरसे प्रहार होने पर भी 'प्रतिप्रहार' नहीं करना चाहिये। 'मधुसूदन' 'अरिसूदन' एकबारगी हो दो सम्बोधन अर्जुनके चित्तकी विशेष व्याकुलताका सूचक है ॥ ४ ॥

**गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।५**

अन्वय—महानुभावान् (महत् हृदय वाले) गुरून् (पूज्यजनोंको) अहत्वा हि (न मार कर) इह लोके (इस संसारमें) भैक्ष्यं अपि (भिक्षान्नको भी) भोक्तुं श्रेयः (भोजन करना अच्छा है)। अर्थकामान् गुरून् हत्वा तु (किन्तु अर्थपरायण गुरुजनोंको मार कर) इह एव (यहीं-पर) रुधिरप्रदिग्धान् (आत्मीयरक्तसे कलुषित) भोगान् (भोगोंको) भुञ्जीय (हमें भोगना होगा)।

सरलार्थ—महानुभाव गुरुजनोंको न मार कर इस लोकमें भीख मांग कर खाना भी अच्छा है। क्योंकि अर्थपरायण गुरुजनोंको मारने पर हमें जो भोग मिलेगा वह उनके खूनसे सना हुआ होगा।

चन्द्रिका—अब यदि यह प्रश्न हो कि जब भीष्म द्रोणको आगे कर कौरव लोग लड़नेको तैयार हैं तो भीष्म द्रोणको मारे बिना तुम्हारा

देहयात्रा निर्वाह भी नहीं हो सकता, इसके उत्तरमें अर्जुन कहते हैं कि पूज्यपुरुषोंको मार कर पार्थिव भोग संग्रह करनेको अपेक्षा भीख मांग कर गुजारा करना भी अच्छा है, क्योंकि इसमें इहलोकमें थोड़ी बहुत असुविधा होने पर भी परलोक नहीं बिगड़ेगा। इसमें यह भी प्रश्न हो सकता है कि वे अब 'गुरु' कहां रहे ? इन्होंने तो अपने आचरणोंसे गुरुपनको मर्यादाको खो डाला। क्योंकि महाभारतमें लिखा है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ॥

यदि गुरु अहंकारग्रस्त हो जांय, उनमें कार्य अकार्यका विचार नष्ट हो और कुमार्गका आश्रय करें तो ऐसे गुरुका शासन करना चाहिये। इस विचारके अनुसार ये सब शासन करने योग्य हैं। क्योंकि ये सब तो 'अर्थकाम' अर्थात् अर्थलिप्सु होकर पापपक्षका आश्रय किये हुए हैं। महाभारतमें लिखा है कि युद्धसे पहिले जब युधिष्ठिर इनसे आशीर्वाद लेने गये तो भीष्म द्रोणने कौरवपक्षमें होकर लड़नेका यही कारण कहा था, यथा—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज ! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

मनुष्य अर्थका दास होता है, अर्थ किसीका दास नहीं होता, हे महाराज ! कौरवोंने हमें अर्थबलसे वशीभूत कर लिया है। अतः इस प्रकार अर्थपरायण गुरुजनोंके शासन करनेमें कोई दोष नहीं हो सकता है। इस प्रश्नका उत्तर अर्जुनने 'महानुभाव' शब्दके द्वारा दिया है। उनका आशय यह है कि वे अर्थवश होने पर भी उनसे अधिक महानुभा-

हैं। क्योंकि जिनमें तपोविद्या ब्रह्मचर्य आदिके प्रतापसे कालको जीत कर इच्छामृत्यु होनेकी तथा कामको जीतकर ब्रह्मचर्यके बलसे श्रीभगवान् तकके प्रतिज्ञाभङ्ग करनेकी शक्ति है वे 'महानुभाव' अवश्य हैं। वे केवल दुर्योधनके निमक खानेके कारण उनकी ओरसे लड़ने आये हैं और युधिष्ठिरको अपनी मृत्युके भी उपाय बता चुके हैं। अतः इनके महानुभाव होनेमें कोई सन्देह नहीं हो सकता"। ऐसे महानुभाव गुरुजनोंको न मार कर भिक्षान्नद्वारा जीवन धारण करनेसे पाण्डवोंको इहलोकमें कुछ कष्ट तो रहेगा किन्तु गुरुवधजन्य परलोक नहीं बिगड़ेगा। और इनको मार देनेसे न मोक्ष ही मिलेगा, न परलोक ही सुधरेगा, केवल इस लोकमें जो कुछ भोग मिलेगा वह भी आत्मीय तथा गुरुजनोंका खून मिला भोग होनेके कारण नितान्त अप्रिय तथा दुःखजनक होगा। अतः इनका वध न करके भिक्षान्नके द्वारा निर्वाह करना ही अच्छा है ॥ ५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः।६॥

अन्वय—न च एतत् (यह भी नहीं) विद्मः (हमारे समझमें आता है) कतरत् (कौनसा कार्य) नः (हमारे लिये) गरीयः (श्रेयस्कर है) यद् वा जयेम (या हम उन्हें जीतें) यदि वा नः जयेयुः (या वे हमें जीत लें) यान् एव (जिन्हें) हत्वा (मार कर) न जिजीविषामः (हम जीना नहीं चाहते) ते धार्त्तराष्ट्राः (वे सब कौरव) प्रमुखे (सामने) अवस्थिताः (युद्धार्थ डटे हैं)।

सरलार्थ—इस युद्धमें हम उन्हें जीतें या वे हमें जीत लें

इन दोनोंमेंसे कौनसा कार्य अच्छा है यह भी हमारी समझमें नहीं आ रहा है, क्योंकि जिन बन्धुओंको मार कर हम जीवित रहना ही नहीं चाहते, वे सब कौरव युद्धके लिये सामने डटे हैं।

चन्द्रिका—इस प्रकारसे मोहमूलक अनेक विचार करते करते अन्तमें अर्जुनको यह भी नहीं सूझा कि युद्ध करने या न करनेमें कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है। उनका यही विचार होता रहा कि उनके लिये जय भी पराजय ही है, जीना भी मरना ही है, क्योंकि आत्मीयोंको मार कर जीवित रहना वे व्यर्थ समझते थे। इस प्रकारसे चित्तके दीनताग्रस्त होने पर उन्होंने शिष्यरूपसे श्रीभगवान्‌की शरण ली और इस भीषण कर्मसंकटमें अपना कल्याणका मार्ग पूछा जो कि आगेके श्लोकमें बताया गया है ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

अन्वय—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (दैन्यदोषके द्वारा अभिभूत निज स्वभाव) धर्मसंमूढचेताः (धर्मनिर्णयके विषयमें मूढ़ चित्त में) त्वां पृच्छामि (तुम्हें पूछता हूं) मे (मेरा) यत् (जो) निश्चितं श्रेयः स्यात् (यथार्थमें भलाईका हो) तत् ब्रूहि (सो कहो) अहं ते शिष्यः (मैं तुम्हारा शिष्य हूं) त्वां प्रपन्नं मां (तुम्हारी शरणमें आये मुझको) शाधि (शिक्षा प्रदान करो)।

सरलार्थ—दैन्यदोषके द्वारा मेरी स्वाभाविक वृत्ति मारी

गई है, अपने धर्मके निर्णयमें मेरा चित्त घबड़ा उठा है, इसलिये मैं तुमसे पूछता हूं मेरे लिये जो यथार्थमें कल्याणकारी हो वही बताओ, मैं तुम्हारा शिष्य हूं, शिष्यरूपसे तुम्हारी शरणमें आये हुए मुझको उचित शिक्षा प्रदान करो।

चन्द्रिका—संसारमें 'कृपण' तीन प्रकारके होते हैं—प्रथम जो कुछ भी खर्च या दान न करे, अर्थ जोड़े ही जाय वह कृपण। दूसरा—दुर्लभ मनुष्यजन्म पानेपर भी जो परमात्माको शरीर मन प्राण कुछ भी समर्पण न करे वह कृपण। और तीसरा विचारमें घबड़ा कर जिसका चित्त दीनदशाग्रस्त हो गया है वह कृपण। अर्जुनमें यही तीसरी कृपणता आ गई थी, जिसको कार्पण्यदोष कहा गया है। इस दोषके द्वारा उनका अपना शूरता वीरता आदि भाव नष्ट हो गया था, जिसको 'कार्पण्यदोषके द्वारा उपहत स्वभाव' शब्दसे बताया गया है। उनका धर्म उस समय क्या है, लड़ना चाहिये या शत्रुके द्वारा निहत होना चाहिये, राज्य करना चाहिये या भिक्षा मांग कर जीवन धारण करना चाहिये, यह उनको सूझता न था जिसको 'धर्म संमूढ़ चेता' शब्दके द्वारा बताया गया है। ऐसी दीनदशा तथा मूढ़ दशाके उदय होने पर तब उन्होंने सखाभावको भूल कर शिष्यभावसे भगवान्की शरण ली और स्थायी कल्याणका मार्ग पूछा। भगवान्ने भी शरणागत होना, जिज्ञासु होना, दीन होना आदि शिष्य-लक्षणको देख कर अर्जुनको सच्चा मार्ग बताना निश्चय किया॥ ७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

:

अन्वय--भूमौ (पृथिवीमें) असपत्नं (शत्रुरहित) ऋद्धम् (समृद्धिसे युक्त) राज्यं (राज्यको) सुराणां अपि (और देवताओं-के भी) आधिपत्यं च (प्रभुत्वको) अवाप्य (पाकर) यत् (जो वस्तु) मम इन्द्रियाणां (मेरी इन्द्रियोंके) उच्छोषणं (शोषणकारी) शोकं (शोकको) अपनुद्यात् (दूर कर सके) न हि प्रपश्यामि (वह मुझे नहीं दीखता)।

सरलार्थ—यदि समस्त पृथिवीका निष्कण्टक ऐश्वर्ययुक्त राज्य मुझे मिल जाय और इन्द्रत्व तक मैं प्राप्त कर लूँ तथापि इन्द्रियोंको सुखा देनेवाला मेरा यह तीव्र शोक कैसे दूर हो सकेगा यह मुझे नहीं दीख रहा है।

चन्द्रिका--'तुम विज्ञ हो स्वयं ही कर्त्तव्य ठीक करलो दूसरेके शिष्यत्व ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन है' ऐसी शङ्का नहीं होनी चाहिये, इस कारण कहते हैं कि मुझे कुछ सूझता ही नहीं कि मेरा यह तीव्र शोक कैसे निवृत्त होगा। 'तुम क्षत्रिय हो युद्धके जीतने पर इस लोकमें उत्तम सुखकर राज्य मिलेगा और परलोकमें भी स्वर्गादि सुख मिलेगा, अतः शोक करनेका कारण नहीं' इसके उत्तरमें कहते हैं कि क्या समस्त संसारका निष्कण्टक राज्य और क्या देवराज इन्द्रका इन्द्रत्व पद किसीसे भी शोक दूर नहीं हो सकेगा। भगवान् ही सच्चा रास्ता बता कर अर्जुनको शोकसमुद्रसे तार सकते हैं। इसी लिये अर्जुनने शिष्य बनकर उनकी शरण ली है। संसारशोकसे अभिभूत होकर इस प्रकार गुरुकी शरण लेना शिष्यत्वका आदर्श लक्षण है अतः शोक निवारणके लिये भगवान्की कृपा भी होगी यह सूचित किया गया ॥८॥

स० उ०—एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

अन्वय—परन्तपः (शत्रुको सन्ताप देनेवाला) गुडाकेशः (आलस्यहीन अर्जुन) हृषीकेशं (श्रीकृष्णको) एवं उक्त्वा (ऐसा बोल कर) न योत्स्ये (मैं नहीं लड़ूंगा) इति गोविन्दं उक्त्वा (भगवान्‌को यह कहता हुआ) तूष्णीं बभूव ह (चुप हो गया)।

सरलार्थ—सञ्जयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—हे महाराज! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान्‌को इतना कह कर शत्रुमर्दन आलस्यहीन अर्जुन 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहता हुआ चुप हो गया।

चन्द्रिका—अर्जुनके आलस्यहीन तथा शत्रुतापन होने पर भी शत्रुओंके सम्मुख इस प्रकार निश्चेष्ट होजाना यही सूचित करता है कि ये वृत्तियां इनकी स्वाभाविक नहीं थीं, किन्तु आगन्तुक थीं, इसी कारण 'परन्तप' और 'गुडाकेश' ये दो शब्द तथा 'ह' शब्द श्लोकमें दिये गये हैं। श्रीकृष्ण 'हृषीकेश' तथा 'गोविन्द' हैं इसलिये अर्जुनकी इन वृत्तियोंको दूर करके सच्चा ज्ञान भी उन्हें दे सकेंगे यही इन दोनों पदोंके द्वारा सूचित हुआ है। श्रीभगवान्‌के पूर्व कहे हुए वाक्यों पर भी 'चुप ही हो जाना' शोक मोहकी गम्भीरता को सूचित करता है जिसके लिये विशेष उपदेशकी आवश्यकता होगी ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अन्वय—हे भारत ! (हे महाराज धृतराष्ट्र !) हृषीकेशः (भगवान् श्रीकृष्ण) प्रहसन् इव (मानो उपहास करते हुए) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) विषीदन्तं (शोक करने वाले) तं (अर्जुनको) इदं वचः (निम्न लिखित वाक्य) उवाच (बोले) ।

सरलार्थ—हे महाराज ! दोनों सेनाओंके बीचमें शोक-मग्न कर्त्तव्यच्युत अर्जुनको श्रीभगवान्ने कुछ उपहाससा करते हुए निम्न लिखित वाक्य कहा ।

चन्द्रिका—यदि घरमें ही रहते समय आत्मीयवधके विचारसे अर्जुन युद्ध न करनेका सङ्कल्प करता तो इतना महान् दोष नहीं होता । अब तो दोनों सेनाओंके बीचमें आकर शङ्खादि शब्दों-के द्वारा युद्धकी पूरी सूचना हो जाने पर अर्जुनमें इस प्रकार स्वधर्मविरुद्ध निश्चेष्टता आगई, यह बहुत ही निन्दनीय तथा अनुचित कार्य था, इसी कारण 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' अर्थात् दोनों सेनाओंके बीचमें इस पदका प्रयोग हुआ है । और यही श्रीभगवान्के 'उपहास' करनेका भी हेतु था । 'उपहास' आदि प्रायः द्वेषवृत्तिके द्वारा किसीको लज्जित करके नीचा दिखानेके लिये किया जाता है । यहां पर अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्का प्रेम था, द्वेष नहीं था, और उनको ज्ञान देकर मोह निवृत्ति करनेकी भी इच्छा थी, अतः यह उनका उपहास साधारण उपहासमात्र है, ऐसा सूचित करनेके लिये 'इव' शब्दका प्रयोग हुआ है । अर्जुनके अपने कर्त्तव्यमें उपेक्षा दिखाने पर भी श्रीभगवान्ने उपेक्षा

नहीं दिखाई, किन्तु परम कल्याणकर उपदेशोंके द्वारा उनका तथा समस्त संसारका कर्त्तव्यपथ खोल दिया यह उनकी अपार करुणाका ही प्रताप है ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अन्वय—त्वं (तुम) अशोच्यान् अन्वशोचः (जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये उनके लिये शोकयुक्त हुए हो) प्रज्ञावादान् (किन्तु ज्ञानियोंकी बातें) भाषसे च (कहते हो) पण्डिताः (ज्ञानिगण) गतासून् अगतासून् च (मृत या जीवित व्यक्तियोंके विषयमें) न अनुशोचन्ति (विशेष ख्याल नहीं करते, हृदयमें कोई विशेष चिन्ता नहीं लाते)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—तुम जिनके लिये शोक करना नहीं चाहिये उनके लिये शोक करते हो किन्तु पण्डितोंकी तरह बातें करते हो, पण्डितगण जीवोंके जन्ममृत्युरूप व्यापारमें इतने चिन्तायुक्त नहीं होते हैं।

चन्द्रिका—अर्जुनको यथार्थ जिज्ञासु जानकर उनके शोक मोह निवारणार्थ श्रीभगवान्‌का उपदेश इसी श्लोकके द्वारा प्रारम्भ हुआ है। और जिस प्रकार अर्जुनको निमित्त बना कर उन्होंने कुरुक्षेत्र भूमिमें पापियोंके निधनद्वारा भूभार हरण किया था, इसी प्रकार मन्दमति कलियुगके जीवोंको गीतोपदेश द्वारा जीवनका कर्तव्य बतानेके लिये भी

अर्जुन ही को निमित्त बनाया है। अर्जुन शोकमोहके द्वारा ग्रस्त होकर अपना स्वधर्म भूल रहे थे, पूज्योंको आत्मीयोंको कैसे मारा जाय यह उनकी शंका हुई थी, इस लिये प्रथमतः जन्ममृत्युका रहस्य बतानेके लिये श्रीभगवान्ने आत्माकी नित्यता तथा शरीरादिकी अनित्यताकी ओर अर्जुनका ध्यान आकर्षित किया और यह बताया कि उनके द्वारा कौरवोंके शरीर नाश होने पर ही सब कुछ समाप्त हो जायगा यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा नित्य वस्तु है, क्षणभङ्गुर शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता है, मृत्यु केवल अवस्थान्तर मात्र है। इसमें श्रीभगवान्का यह उद्देश्य नहीं था कि अर्जुन उसी समय आत्मज्ञ ही बन जाएं, किन्तु आत्माकी ओर ध्यान दिला कर शरीरादि नाशके विषयमें उनका जो मोह हो रहा था उसको दूर कर देना ही इसका उद्देश्य था। इसके बाद क्रमशः मध्यमाधिकार तथा निम्नाधिकारकी बात भी बतलाई अर्थात् युद्ध करना उनका स्वधर्म है यह कहा और न करनेसे अपयश होगा यह भी कहा। संसारमें भी मनुष्य इन तीनों विचारोंके द्वारा ही अपना कर्तव्य करते हैं। उत्तम कोटिके मनुष्य ज्ञानकी शरण लेकर आत्मा अनात्माके विचारसे कर्तव्य निश्चय करते हैं, मध्यम कोटिके मनुष्य कुलधर्म, जातिधर्म आदिके विचारसे कर्तव्य निश्चय करते हैं, और साधारण मनुष्य लोकनिन्दा आदिके विचारसे कर्तव्य पथ पर चलते हैं। इसप्रकार त्रिविध अधिकार विचारसे ज्ञान पक्षको लेकर श्रीभगवान् पहिले कहते हैं 'अर्जुन तुम पंडितकी तरह तो बोलते हो, किन्तु अपण्डितकी तरह आचरण करते हो'। 'पण्डा' अर्थात् आत्मविषयक बुद्धि जिनकी है वे पण्डित कहाते हैं। पण्डितगण जन्ममृत्युके रहस्यको जानते हैं, शरीरके

नाशसे आत्माका नाश नहीं होता है, यह उनको पता है, इस कारण कोई मरे या जीये इसका कोई असर उन पर नहीं होता है। तुम जब पण्डितकी तरह कह रहे हो तो तुम्हें भी ऐसी ही बुद्धि होनी चाहिये। भीष्म द्रोण आदि तुम्हारे शोक करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इनका शरीर नाश होने पर भी आत्मा अमर होनेके कारण वास्तवमें इनकी मृत्यु नहीं होगी। अतः तुम्हें ऐसा शोकमग्न नहीं होना चाहिये ॥ ११ ॥

द्रोणादि क्यों शोक करने योग्य नहीं हैं इसके उत्तरमें कहते हैं–

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

अन्वय—अहं जातु (मैं कभी) न तु एव आसम् (नहीं था) न (यह नहीं है) त्वं (तुम कभी नहीं थे) न (यह भी नहीं है) इमे जनाधिपाः (ये राजागण कभी नहीं थे) न (यह भी नहीं है) अतः परं (भविष्यत्में भी) सर्वे वयं (हम सब) न भविष्यामः (नहीं होंगे) एवच न (यह भी नहीं है)।

सरलार्थ—मैं कभी नहीं था यह नहीं है, तुम कभी नहीं थे यह भी नहीं है, ये सब राजा लोग कभी नहीं थे यह भी नहीं है, भविष्यत्में हम सब नहीं होंगे यह भी नहीं है। अर्थात् आत्माके नित्य होनेसे सबके सब पहिले भी थे और भविष्यत्में भी रहेंगे।

चन्द्रिका—भीष्म द्रोणादि क्यों अशोच्य हैं इसका उत्तर इस श्लोकमें दिया गया है। आत्मा नित्य तथा अविनाशी है, शरीरके नाशमें

उसका नाश नहीं होता है, इस कारण अतीत कालमें शरीरके नाश होने पर भी सबके आत्मा थे और भविष्यतमें कितने ही बार शरीरके नाश हो जाने पर भी वे ही आत्मा ऐसे ही रहेंगे। आत्माका कभी नाश नहीं होता। वह त्रिकालमें एकसा ही रहता है। भीष्म द्रोणादिके भी शरीरनाश द्वारा आत्माका नाश नहीं होगा। अतः उनके लिये शोक करना नहीं चाहिये ॥ १२ ॥

आत्मा कैसे नित्य तथा अविनाशी है इसके उत्तरमें कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) देहिनः (देहसे युक्त आत्माका) अस्मिन् देहे (इस देहमें) कौमारं (बचपन) यौवनं (युवावस्था) जरा (वृद्धावस्था होती है) तथा (उसी प्रकार) देहान्तरप्राप्तिः (मृत्युरूपी अन्यदेह प्राप्ति है) तत्र (उसमें) धीरः (धीर पण्डित) न मुह्यति (शोकमोहग्रस्त नहीं होते हैं)।

सरलार्थ—जिस प्रकार देहवान् आत्माके इस देहमें बचपन, यौवन और बुढ़ापारूपी तीन अवस्थायें होती हैं, ऐसे ही मृत्युके द्वारा अन्य देहकी प्राप्ति भी एक अवस्थाका परिवर्तन मात्र है, इसमें धीर ज्ञानी पुरुष मोहप्राप्त नहीं होते।

चन्द्रिका—मृत्यु आदिके देखते हुए भी आत्माको कैसे अविनाशी कहा जाय इसका समाधान इस श्लोकमें किया गया है। मृत्यु आदिसे आत्माका कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है। जिस प्रकार जीवित शरीरमें

प्रथम बचपन, उसके बाद यौवन और उसके बाद बुढ़ापा आता है, उसी प्रकार मृत्यु भी अन्यदेह प्राप्ति रूप एक अवस्थाका परिवर्तन मात्र है। ये सब अवस्थायें शरीरमें होती हैं, उससे आत्मा पर कोई परिवर्तन नहीं होता है। आर्यशास्त्रमें शरीररूपी समुद्रके छः तरङ्ग बताये गये हैं यथा--जायते, तिष्ठति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है, ठहरता है, बढ़ता है, परिणामको पाता है, क्षय होता है और अन्तमें नष्ट हो जाता है। ये सब शरीरके ही स्वाभाविक धर्म हैं, आत्माके नहीं। जिस प्रकार बचपनका शरीर बदल कर यौवनका शरीर मिलने पर कोई शोक नहीं करता है, उसी प्रकार मृत्युद्वारा शरीरके बदल जानेपर भी शोक करना मिथ्या मोह मात्र है। धीर पण्डितगण ऐसे मोहमें नहीं पड़ते, क्योंकि उनको पता रहता है, कि आत्माका उसमें कुछ जाता आता नहीं। श्लोकमें 'धीर' शब्दका इसलिये प्रयोग किया गया है कि धीर व्यक्तिके लिये ही मृत्युरूपी सन्धिके समय सावधान रहना सम्भव है, बाकी अधीर लौकिक मनुष्य तो मृत्युके देखनेसे रोते पिटते ही रहते हैं। 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' जिनका चित्त विकारके कारण सामने आने पर विकृत न होकर शांत रहता है, वे ही धीर हैं। ऐसे धीर पुरुष मृत्युरूपी देहपरिवर्तनमें कदापि मुग्ध नहीं होते हैं, इसलिये नित्य आत्माकी धारणा करके अर्जुनको भी मोहत्यागपूर्वक अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये ॥ १३ ॥

आत्माके विचारसे शोक न करने पर भी शरीरादिके सम्बन्धसे सुखदुःख तो होते ही हैं इसका क्या किया जाय इसके उत्तरमें कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ! ॥ १४ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) मात्रास्पर्शाः तु (इन्द्रियोंके विषयोंके साथ सम्बन्ध) शीतोष्ण सुखदुःखदाः (शीत उष्ण, सुखदुःख आदि द्वन्द्वभावको उत्पन्न करनेवाले हैं) आगमापायिनः (वे उत्पत्ति और विनाशसे युक्त हैं) अनित्याः (अतः अनित्य हैं) हे भारत! (हे अर्जुन!) तान् (उनको) तितिक्षस्व (सहन करो)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संस्पर्श शीत उष्ण, सुखदुःख आदि द्वन्द्वभावको उत्पन्न करता है। किन्तु ये सभी उत्पत्ति तथा विनाशसे युक्त होनेके कारण अनित्य हैं। इसलिये हे भारत! तुम इनको सहन करलो।

चन्द्रिका—यद्यपि आत्मा नित्य है, तथापि शरीर और मनमें तो मृत्यु तथा संयोग वियोग आदिके समय सुखदुःख होते ही हैं उनके लिये शोक क्यों न करे, इस शङ्काका उत्तर इस श्लोकमें दिया गया है। जिसके द्वारा रूप रस आदि विषय मापे जाते हैं अर्थात् ज्ञात होते हैं उसे मात्रा अर्थात् इन्द्रिय कहा जाता है। उसी इन्द्रियका जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दरूपी विषयोंके साथ संस्पर्श है उसको मात्रास्पर्श कहते हैं। इसके द्वारा शीतउष्ण, सुखदुःखकी उत्पत्ति होती है। शीत उष्ण, सुखदुःख शब्दसे केवल इतना ही नहीं समझना चाहिये। ये शब्द द्वन्द्वभावके सूचक हैं। अर्थात् शीत उष्ण, राग द्वेष, सत् असत्,

सुखदुःख इत्यादि परस्पर विरुद्ध द्वन्द्वकी उत्पत्ति इन्द्रियोंके साथ विषयों-के संयोगद्वारा होती है। एक ही वस्तु मनके अभिमानके अनुसार कभी सुखदायी और कभी दुखदायी होती है। जो वस्तु बचपनमें सुखदायी प्रतीत होती है, वही यौवनमें सुखदायी नहीं रहती है, जिस वस्तुमें सुख समझ कर युवक आसक्त होजाता है, वही उसके बुढ़ापेमें दुःखकर मालूम होने लगती है। भोगी जिस वस्तुमें सुख देखता है, त्यागी उसीमें दुःख समझता है, यही सब मायाजनित द्वन्द्वभावका खेल है। किन्तु ये सभी शरीर और मनमें क्षणिक अभिमानके कारण उत्पन्न होते हैं, इनकी उत्पत्ति तथा नाश अवश्य होता है, ये सब अनित्य तथा थोड़े ही दिनोंमें नष्ट हो जाने वाले हैं, आत्माके साथ इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, अतः इन द्वन्द्वोंमें व्यथित तथा आसक्त न हो कर इन्हें अन्तःकरणका धर्म जान सहन कर लेना ही उचित है। निर्लिप्त तथा मायासे परे विराजमान आत्माको वैषयिक सुखदुःखमें सुखी दुःखी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ये सब परायी वस्तु हैं, आत्माकी नहीं हैं॥ १४॥

सुखदुःखादि द्वन्द्वोंमें व्यथित न होने पर क्या होता है इसके उत्तरमें कहते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

अन्वय—हे पुरुषर्षभ! (हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन!) एते (सुख दुःखादि द्वन्द्व पदार्थ) समदुःखसुखं (सुख दुःख आने पर एक भावसे रहनेवाले) धीरं (धैर्यसे युक्त) यं पुरुषं (जिस पुरुषको)

न व्यथयन्ति (विचलित नहीं करते हैं) सः (वही पुरुष) अमृतत्वाय कल्पते (मुक्ति लाभ कर सकता है)।

सरलार्थ—हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! सुखदुःख रागद्वेष आदि द्वन्द्व पदार्थ सुखदुःखमें हर्षविषादरहित समभावापन्न जिस धीर पुरुषको विचलित नहीं कर सकते वही मोक्षपदको प्राप्त कर सकता है।

चन्द्रिका—पूर्वश्लोकमें 'धीर' पुरुषके लक्षण कहे गये हैं। जो द्वन्द्वमें विचलित न होकर एकभावापन्न रहते हैं वे ही धीर हैं। रागद्वेष, सुखदुःख आदि मायाके गुणविकारजनित परिणामशील अनेक भाव हैं। इनमें अपनी बुद्धिके चञ्चल तथा मुग्ध कर देने पर जीव मायामें ही फंसा रहता है। इस द्वन्द्वभावसे परे साम्यभाव ही ब्रह्मभाव है। अतः जो इन द्वन्द्वोंमें न फंस कर साम्यभावमें रहता है, उसको ब्रह्मभावकी प्राप्ति अर्थात मोक्षलाभ अनायास ही हो जाता है॥ १५॥

अब तत्त्वदृष्टिसे शीतोष्णादि द्वन्द्ववस्तुओंमें मुग्ध न होनेके विषयमें उपदेश करते हैं:—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥

अन्वय—असतः (असत् वस्तुका) भावः (अस्तित्व) न विद्यते (नहीं है) सतः (सत् वस्तुका) अभावः (नास्तित्व) न विद्यते (नहीं है)। तत्त्वदर्शिभिः तु (तत्त्वदर्शी पुरुषोंने) अनयोः उभयोः (सत् असत् दोनोंका) अन्तः (निर्णय) दृष्टः (जान लिया है)।

सरलार्थ—जो नहीं है वह कभी हो नहीं सकता और जो है उसका कभी अभाव भी नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानी पुरुषों-ने 'सत् असत्' इन दोनों वस्तुओंका अन्त जान लिया है अर्थात् इनके स्वरूपका निर्णय किया है।

चन्द्रिका—संसारमें सत् पदार्थ आत्मा ही नित्य है, बाकी सब अनित्य है, इस श्लोकके द्वारा यही प्रमाणित किया गया है। वास्तवमें विचार करने पर यही तथ्य निकलता है। संसारमें घट पट आदि जो कुछ स्थूल वस्तुएं देखनेमें आती हैं, ये सब सूक्ष्म परमाणुओंकी समष्टिके सिवाय और कुछ भी नहीं है। और सूक्ष्म परमाणु भी पञ्चतत्त्वके परिणाम द्वारा उत्पन्न हुए हैं। पञ्चतत्त्व भी आकाशादि क्रमसे विकाशको प्राप्त हुए हैं, जिन सबकी मूल अव्यक्त प्रकृति है। अव्यक्त प्रकृति भी परमात्माकी इच्छाशक्ति-का प्रकाशमात्र है। अतः निश्चय हुआ कि सांसारिक समस्त वस्तुओंकी स्थिति अनित्य है, केवल जिस मौलिक सत्ताके ऊपर इन सबकी स्थिति है वही नित्य वस्तु है। किसी वस्तुका नाश होने पर भी सत्ताका नाश नहीं होता है, क्योंकि सत्ता पदार्थ सबके मूलमें है और इसी सत्ता पदार्थके ऊपर ही पृथक् पृथक् वस्तुओंकी अनित्य तथा परिवर्त्तनशील स्थिति देखनेमें आती है। यही सर्वत्र व्याप्त सबके मूलमें स्थित सत्ता सतपदार्थ अर्थात् आत्मा है, जिसका कभी अभाव नहीं हो सकता है। बाकी सब असत् पदार्थ हैं जिनकी तात्त्विक स्थिति न होनेके कारण असत्का भाव नहीं है ऐसा कहा गया है। पदार्थोंके तत्त्व जाननेवाले ज्ञानिगण सत् असत् दोनोंका ही वास्तविक पता लगा लेते हैं और अनित्य असत् पदार्थका परिणाम देख

कर शोकमुग्ध नहीं होते हैं। अतः अर्जुनको भी तत्त्वदृष्टिकी सहायतासे विचार करके अनित्य परिणामी सुखदुःखादि द्वन्द्व वस्तुओंमें मुग्ध नहीं होना चाहिये, किन्तु धीरताके साथ उन्हें सहन करते हुए स्वधर्मपालन करना चाहिये, यही उपदेश है ॥१६॥

अथ सत् पदार्थको और भी स्पष्ट करके बताते हैं:—

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अन्वय—येन (जिस ब्रह्मके द्वारा) इदं सर्वं (यह समस्त चराचर विश्व) ततं (व्याप्त है) तत् तु (उसे ही) अविनाशी (नाशहीन सत्वस्तु) विद्धि (जानो) कश्चित् (कोई भी) अव्ययस्य अस्य (एक ही रूपमें रहनेवाले इस ब्रह्मका) विनाशं कर्त्तुं (नाश करनेमें) न अर्हति (समर्थ नहीं होता है)।

सरलार्थ—जिसके द्वारा संसार व्याप्त है, उस सत् वस्तुको ही नाशरहित ब्रह्म जानना चाहिये। एकरूपमें सदा स्थित इस ब्रह्मका विनाश कोई भी नहीं कर सकता है।

चन्द्रिका—जिस प्रकार समुद्रजलमें सर्वत्र निमक व्याप्त है या दुग्धमें सर्वत्र घृत व्याप्त है, उसी प्रकार आत्माके द्वारा भी समस्त विश्व चराचर परिव्याप्त है, आत्मासे खाली कहीं कुछ भी नहीं है। इस तरह सबके मूलमें होनेके कारण आत्माकी सत्ता नित्य तथा अविनाशी है। इसका विनाश कोई भी नहीं कर सकता है क्योंकि सभीमें जब आत्मा है तब आत्माके द्वारा आत्माका घात सम्भव नहीं है। 'न व्येति इति अव्ययः'

अर्थात् जिसकी ह्रास वृद्धि नहीं होती है उसको अव्यय कहते हैं । साकार स्थूल पदार्थ ही घटता बढ़ता रहता है, आत्मा निराकार है, इसलिये उसमें ह्रास वृद्धि नहीं हो सकती है । अंतः सर्वव्यापी नाशरहित आत्मा अव्यय है ॥ १७ ॥

सत् पदार्थके विषयमें स्पष्टतररूपसे कह कर अब असत् पदार्थके विषयमें स्पष्टतररूपसे कहते हैं—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ! ॥ १८ ॥

अन्वय—नित्यस्य अनाशिनः (सदा एकरूप विनाशरहित) अप्रमेयस्य (प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा सीमाबद्ध न होनेवाले) शरीरिणः (शरीरके स्वामी आत्माके) इमे देहाः (ये सब शरीर) अन्तवन्तः (नाशशील) उक्ताः (कहे गये हैं)। हे भारत! (हे अर्जुन!) तस्मात् (इसलिये) युध्यस्व (युद्ध करो)।

सरलार्थ—शरीरका स्वामी आत्मा सदा एकरूप, अविनाशी तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्य है । उसके साथ ये जो सब शरीर हैं, ये ही नाशवान् कहे जाते हैं । इसलिये हे अर्जुन ! तुम युद्धसे विमुख मत हो जाओ ।

चन्द्रिका—आत्मा 'शरीरी' अर्थात् शरीरका प्रभु है, शरीरके द्वारा बद्ध नहीं है । उसको नित्य और अविनाशी एक ही अर्थ वाचक दोनों विशेषणोंके द्वारा युक्त करनेका कारण यह है कि जीव मृत होने पर भी नष्ट कहलाता है और रोगादि द्वारा क्षीण होने पर भी नष्ट कहलाता है । इनमेंसे

किसी प्रकारका भी नाश आत्माको नहीं प्राप्त होता है, इसलिये आत्मा नित्य और अविनाशी है। आत्मा 'अप्रमेय' अर्थात् प्रमाणकोटिके बाहर है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण होते हैं। उनमेंसे इन्द्रियग्राह्य न होनेके कारण तो आत्मा प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणगम्य हो ही नहीं सकते। बाकी रहा शब्द प्रमाण इसमें भी यह निश्चय है कि अपनी सत्ताके ज्ञान बिना प्रमाण करनेवालेकी प्रमाणमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। और वही सत्ता आत्मा है। अतः आत्मा प्रमाणके द्वारा सिद्ध नहीं है, प्रमाणके पहिले ही सिद्ध है अर्थात् स्वतःसिद्ध वस्तु है। अतः आत्मा अप्रमेय है। आत्मा अद्वैत वस्तु है, इस कारण प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयरूपी त्रिपुटिके भीतर नहीं आ सकते, ऐसे अविनाशी आत्माके साथ होनेवाले ये सब शरीर नाशवान् हैं। इसलिये भीष्म द्रोणादिके शरीर भी नाशवान् हैं। युद्ध करने या न करने पर भी इनके शरीरोंका कभी न कभी नाश ही होगा अतः अर्जुनको स्वधर्म-पालनसे विरत नहीं होना चाहिये। 'युध्यस्व' शब्दके द्वारा युद्धरूपी कर्त्तव्य नहीं बताया गया है, केवल युद्धसे अर्जुन जो निवृत्त हो रहा था उसीको श्रीभगवान्ने सम्हाल दिया ॥१८॥

अब श्रुतिवचन द्वारा श्रीभगवान् आत्माका अविनाशी, अकर्त्ता तथा विकाररहित होना प्रमाणित करते हैं--

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीत नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अन्वय--यः (जो मनुष्य) एनं (इस आत्माको) हन्तारं वेत्ति (मारनेवाला करके जानता है) यः च (और जो मनुष्य)

एनं (इस आत्माको) हतं मन्यते (मारा जाता है करके जानता है) तौ उभौ (वे दोनों ही) न विजानीत (ठीक तत्त्वको नहीं जानते) अयं (यह आत्मा) न हन्ति (न मारता है) न हन्यते (और न स्वयं ही किसीके द्वारा हत होता है)।

सरलार्थ—जो आत्माको हन्ता मानता है या जो इसे हत मानता है वे दोनों ही तत्त्व वस्तुसे अपरिचित हैं क्योंकि न आत्मा मारता ही है और न मारा जा सकता ही है।

चन्द्रिका—श्रुतिमें लिखा है 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।' अर्थात् मारनेवाला यदि समझे कि आत्माको वह मारता है और मारे जानेवाला यदि समझे कि आत्मा मर गया तो ये दोनों ही भ्रान्त हैं। यह श्लोक इसी श्रुतिका अनुवादमात्र है। आत्मा अविनाशी तथा अकर्त्ता होनेके कारण न हनन क्रियाका कर्त्ता ही हो सकता है और न कर्म ही हो सकता है। अर्थात् न मार हो सकता है और न मारा ही जा सकता है। इसलिये अर्जुन भीष्म द्रोण आदिको मारेंगे और वे उनके हाथसे मारे जायेंगे यह धारणा अर्जुनकी भ्रान्तिमात्र है। शरीरके नाशसे अविनाशी तथा विकाररहित आत्माका कुछ भी नहीं होता ॥१९॥

दूसरे श्रुतिमन्त्रके अनुवादद्वारा आत्माकी अविकारिताको और भी स्पष्टरूपसे बता रहे हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

अन्वय—अयं (यह आत्मा) कदाचित् (कभी) न जायते म्रियते वा (न जन्मता है और न मरता है) वा (अथवा) भूत्वा (होकर) भूयः (पुनः) न भविता (नहीं होगा) न (यह भी नहीं है)। अजः (जन्मरहित) नित्यः (मृत्युरहित) शाश्वतः (क्षयरहित) पुराणः (वृद्धिरहित) अयं (यह आत्मा) शरीरे हन्यमाने (शरीरके हत होने पर) न हन्यते (नहीं हत होता है)।

सरलार्थ—यह आत्मा न कभी जन्मता है और न मरता है, अथवा कभी होकर फिर नहीं होगा यह भी नहीं है। जन्म, मृत्यु, क्षय, वृद्धि सबसे रहित यह आत्मा शरीरके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है।

चन्द्रिका—कठोपनिषद्‌में 'न जायते म्रियते वा विपश्चित' इत्यादि जो मन्त्र है यह श्लोक उसीका ही विस्तार मात्र है। इसमें यही स्पष्ट किया गया है कि अविनाशी, अकर्त्ता आत्मामें किसी प्रकारका भी विकार नहीं होता है। आत्मा न जन्मता है और न मरता है इसलिये आदि तथा अन्तके दो विकार आत्मामें नहीं हुये। बीचके दो विकार ह्रास वृद्धिके होते हैं सो भी निराकार होनेसे आत्मामें नहीं हैं, इस कारण आत्मा शाश्वत तथा पुराण कहा गया है। पुरानी वस्तु पञ्चभूतके संयोगसे बढ़ जाती है, और नई वस्तु ऐसा संयोग न पानेके कारण नहीं बढ़ती है। आत्मा किन्तु 'पुरापि नव एव' अर्थात् पुराना होने पर भी नवीनकी तरह एकरूप ही रहता है। यही पुराण शब्दका अर्थ है। इस प्रकारसे

सकलविकाररहित होनेके कारण शरीरके मृत्यु रूपी परिणाम द्वारा आत्माका कोई भी परिणाम नहीं होता है यही सिद्ध हुआ ॥ २० ॥

अविकारी तथा अविनाशी आत्माका स्वरूप कह कर अब इस विषयका उपसंहार करते हैं—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ! कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) यः (जो) एनं (इस आत्माको) अविनाशिनं नित्यं अजं अव्ययं (अविनाशी, नित्य अज अव्यय करके) वेद (जानता है) सः पुरुषः (वह मनुष्य) कथं कं हन्ति (कैसे किसीको मारेगा) कं घातयति (या किसी-को मारनेकी आज्ञा देगा ?)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! जो मनुष्य आत्माको अविनाशी नित्य अज तथा अव्यय जानता है वह कैसे किसीको मारेगा या मारनेकी आज्ञा देगा ?

चन्द्रिका—अर्जुनको जो यह आशङ्का थी कि वह भीष्म द्रोणादिको मारेगा और भगवान् अर्जुनके द्वारा उन्हें मरवा देंगे, इसका निराकरण पूर्वकथित अनेक उपदेशोंके द्वारा आत्माका स्वरूप कहते हुए बता कर अब अन्तमें श्रीभगवान्ने यही कह दिया कि अविनाशी तथा विकाररहित आत्माके विषयमें अर्जुनका इस प्रकार आशङ्का करना और उससे युद्ध-रूपी कर्त्तव्य पालनमें उदासीन हो जाना भ्रममात्र है। आत्मा जन्मरहित,

नाशरहित तथा सकल प्रकार विकाररहित है इसलिये न कोई आत्माको मार ही सकता है और न कोई उसके मारनेमें किसी दूसरेको लगा ही सकता है। अतः अर्जुनको इस प्रकार शोकमोहग्रस्त नहीं होना चाहिये ॥ २१ ॥

आत्मा तो मरता नहीं, किन्तु वास्तवमें होता क्या है, यही बता रहे हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।२२

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) नरः (मनुष्य) जीर्णानि वासांसि (पुराने फटे हुये वस्त्रोंको) विहाय (छोड़ कर) अपराणि (दूसरे) नवानि (नूतन वस्त्रोंको) गृह्णाति (पहिनता है), तथा (उसी प्रकार) देही (देहका स्वामी आत्मा) जीर्णानि शरीराणि (प्रारब्ध भोग द्वारा जीर्ण पुराने शरीरोंको) विहाय (त्याग करके) अन्यानि नवानि (दूसरे नये शरीरोंको) संयाति (पाता है)।

सरलार्थ—जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़ कर नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीरको त्याग कर नये शरीर धारण करता है।

चन्द्रिका—स्थूल शरीरका परिवर्तन ही जन्म मृत्यु है, आत्माका न जन्म है और न मृत्यु है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, जीवके ये तीन शरीर होते हैं। इनमेंसे स्थूल शरीर बदलता रहता है, सूक्ष्म और कारण बदलते नहीं। जीव जो कुछ कर्म करता है उसका संस्कार सूक्ष्म शरीरमें अङ्कित

हो जाता है और उसीके भोगके लिये भोगायतनरूपी स्थूल शरीर जीवको मिलता रहता है। इस प्रकारसे प्रारब्ध कर्मभोग जब एक शरीरमें समाप्त हो जाता है तब जीव उस शरीरको छोड़ कर नवीन प्रारब्ध भोगके लिये नवीन शरीरको प्राप्त कर लेता है। इस छोड़ने और पानेको मृत्यु तथा जन्म कहा जाता है। इसमें स्थूल शरीरका ही परिवर्तन होता है, आत्माका कुछ नहीं होता है। यही इस श्लोकका तात्पर्य है। इसमें कोई कोई यह भी अनुमान करते हैं कि जब जीव वस्त्र बदलनेकी तरह शरीर बदल लेता है, तो एक मनुष्यशरीर छोड़ते ही दूसरा मनुष्यशरीर मिल जाता है, स्वर्ग नरक आदि कुछ नहीं है, यही इस श्लोकसे सिद्ध हुआ। किन्तु ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है। क्योंकि इस श्लोकमें केवल शरीर बदलनेकी बात ही बताई गई है वह नवीन शरीर किस योनिमें मिलता है, कर्मानुसार प्रेतयोनिमें मिलता है या देवयोनिमें मिलता है या मनुष्ययोनिमें मिलता है यह कुछ भी नहीं बताया गया है। वेदमें भी लिखा है—'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा' अर्थात् एक शरीर छोड़ कर दूसरा शरीर या और भी उत्तम पितृलोकका शरीर, गन्धर्वलोकका शरीर, देवलोकका शरीर या प्रजापतिलोकका शरीर जीवको प्राप्त होता है। उन लोकोंमें भोगद्वारा कर्मक्षय होने पर पुनः जीवका मनुष्यलोकमें जन्म होता है। इसीको आवागमन कहते हैं ॥२२॥

इस प्रकारसे शरीरका परिवर्तन होने पर भी आत्मा अविकारी तथा एकरूपमें ही रहता है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वेनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अन्वय—शस्त्राणि (शस्त्र समूह) एनं (आत्माको) न छिन्दन्ति (काट नहीं सकते) पावकः (अग्नि) एनं (आत्माको) न दहति (जला नहीं सकती) आपः च (जल भी) एनं न क्लेदयन्ति (आत्माको गला नहीं सकता) मारुतः (वायु) न शोषयति (आत्माको नहीं सुखा सकती) अयं (आत्मा) अच्छेद्यः (काटे जाने लायक नहीं) अयं (आत्मा) अदाह्यः (जलाये जाने लायक नहीं) अक्लेद्यः (गलाये जाने लायक नहीं) अशोष्यः च एव (और सुखाये जाने लायक भी नहीं)। अयं (आत्मा) नित्यः (नित्य) सर्वगतः (व्यापक) स्थाणुः (स्थिर स्वभाव) अचलः (अचल) सनातनः (सदा रहनेवाला है)। अयं (आत्मा) अव्यक्तः (इन्द्रियोंके अगोचर) अयं (आत्मा) अचिन्त्यः (मन बुद्धिके अगोचर) अयं (आत्मा) अविकार्यः (अविकारी) उच्यते (कहलाता है), तस्मात् (इसलिये) एवं (पूर्वोक्त रूपसे) एनं (आत्माको) विदित्वा (जान कर) अनुशोचितुं न अर्हसि (तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये)।

सरलार्थ—आत्माको अस्त्रशस्त्रादि छेदन नहीं कर सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, जल गला नहीं सकता और वायु शुष्क नहीं कर सकती । इसलिये आत्मा न कटनेवाला, न जलनेवाला, न गलनेवाला और न सूखनेवाला है । यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर स्वभाव, अचल और चिरन्तन है अर्थात् न किसी कारणसे उत्पन्न ही हुआ है और न किसी कारणसे नष्ट ही हो जायगा। यह न दस इन्द्रियोंका ही गोचर है और न मन बुद्धिका ही गोचर है और न दुग्धसे दही घी आदिकी तरह विकार ही प्राप्त हो सकता है । अतः इसको ऐसा ही जानकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

चन्द्रिका—आत्माके इन लक्षणोंको बार बार भिन्न भिन्न शब्दोंसे कहनेका तात्पर्य यह है कि अति दुर्बोध्य आत्माके विषयमें पुनः पुनः समझाने पर ही जिज्ञासुके हृदयमें उसकी धारणा उत्पन्न हो सकती है। संसारमें साकार वस्तुके लिये ही अस्त्रसे छेदन, अग्निसे दाहन आदि सम्भव हो सकता है, आत्मा निराकार है, इस कारण वह छेदन दाहन आदिका पात्र नहीं बन सकता है और इसी कारण आत्माको परवर्ती श्लोकमें अच्छेद्य, अदाह्य आदि कहा गया है। आत्मा सर्वव्यापी है, इस कारण स्थिर स्वभाव है, और स्थिर स्वभाव है इस कारण अचल है क्योंकि जो वस्तु देशकालके द्वारा सीमाबद्ध होती है उसमें चाञ्चल्य अवश्य रहता है। शाखाहीन वृक्षको 'स्थाणु' कहते हैं। शाखाहीन होनेसे वह हिलता नहीं, आत्मा ऐसा ही स्थिर स्वभाव है। यथा वेदमें—'वृक्ष इव

स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' अद्वितीय आत्मा शून्यमें शाखाहीन वृक्षकी तरह स्तब्ध अर्थात् निश्चल है। अब इसमें प्रश्न यह हो सकता है कि जब पूर्वश्लोकमें 'देही' को शरीरसे शरीरान्तरमें जाते कहा गया है तो इस श्लोकमें उसे अचल तथा स्थिर कैसे कहा जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें आत्मा अचल तथा स्थिर है, क्योंकि सर्वव्यापक वस्तु कहीं से कहीं जा नहीं सकती। केवल भ्रान्त अन्तःकरणकी भावनाके अनुसार ही शास्त्रमें आत्माका जाना आना बताया जाता है। अन्तःकरणकी ओरसे आत्माका यह बन्धन तथा आवागमन आभिमानिक है वास्तविक नहीं है। जिस दिन शुद्ध तथा योगयुक्त अन्तःकरणमें यह पता लग जाता है कि आत्माका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, और न अन्तःकरणके सुख दुःखमें आत्मा सुखी दुखी होता है, वह तो इससे परे है, उसी दिन जीवको मुक्ति हो जाती है। यही इसमें तथ्य है। किन्तु इस तथ्यका शीघ्र पता लगना सम्भव न होनेके कारण ही संसारमें इतने धर्ममतकी सृष्टि हो गई है। जो सदासे एकरूप रहे, न किसी कारणसे बने या नष्ट होवे उसे 'सनातन' या चिरन्तन कहते हैं। आत्मा ऐसा ही सनातन है। संसारमें 'सावयव' पदार्थ ही इन्द्रियोंके गोचर, मनके गोचर तथा दूधसे दधि, मक्खन आदिकी तरह विकारको प्राप्त हो सकते हैं। आत्मा सावयव अर्थात् साकार नहीं है, अतः अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा प्रकाशित न होनेवाला, अचिन्त्य अर्थात् चिन्तासे न पाये जाने वाला और विकृत न होनेवाला है। आत्माको ऐसा जानने पर शोक करना सम्भव नहीं हो सकता। इसीलिये श्रीभगवान् अर्जुनको आत्माके विषयमें ऐसी तीव्र धारणा करके शोकशून्य होनेका उपदेश कर रहे हैं। किन्तु आत्मा

'अच्छेद्य' 'अदाह्य' है, इसलिये किसीको मार देनेमें कोई हानि नहीं है, इस प्रकार भ्रान्त विचारसे हत्याकाण्डका विस्तार नहीं होना चाहिये। क्योंकि जब तक 'मैं मारता हूं' यह अभिमान है, तब तक मारनेका पाप अवश्य ही लगता है। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने आगे जाकर कहा है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

जिसको 'मैं मारता हूं' यह अहंकार नहीं है और जिसकी बुद्धि मारनारूप व्यापारमें अभिमान द्वारा लिप्त नहीं होती है, ऐसा मुक्तात्मा किसीको मारने पर भी बद्ध नहीं होता है। बद्धजीवको हत्या आदिसे पाप अवश्य ही लगता है। अर्जुनके इस प्रकार मुक्तात्मा न होने पर भी स्वधर्मपालनजन्य उनको युद्धमें शत्रुनाश करने पर पाप नहीं लग सकता था। इस कारण श्रीभगवान्‌ने आत्माके स्वरूपकी धारणा कराकर उनका शोक नाश कर दिया और स्वधर्मपालनके लिये कर्तव्य बताया॥ २३-२५॥

अब प्रसङ्गोपात्त विरुद्ध युक्ति द्वारा भी अर्जुनका शोक नाश करा रहे हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो! नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

अन्वय—अथ च (अथवा यदि) एनं (आत्माको) नित्यजातं

(प्रत्येक शरीरके साथ उत्पन्न) नित्यं वा मृतं (और प्रत्येक शरीरनाशके साथ नष्ट) मन्यसे (तुम मानते हो), तथापि (तौभी) हे महाबाहो ! (हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन !) त्वं (तुम) एवं (इस प्रकार) शोचितुं न अर्हसि (शोक करने योग्य नहीं हो)। हि (क्योंकि) जातस्य (उत्पन्न जीवका) मृत्युः ध्रुवः (मरना निश्चय है) मृतस्य च (और मृत जीवका) जन्म ध्रुवं (पुनः जन्म होना निश्चय है), तस्मात् (इस कारण) अपरिहार्ये अर्थे (जन्ममृत्युरूप अवश्य होनेवाले विषयमें) त्वं शोचितुं न अर्हसि (तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये)।

सरलार्थ—अथवा यदि तुम आत्माको नित्य न मान कर प्रत्येक शरीरके साथ उत्पन्न तथा विनष्ट मानते हो, तो भी हे महाबाहो ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो जन्मता है वह निश्चय ही मरता है और जो मरता है उसीका पुनर्जन्म भी निश्चय है, इसलिये इस अवश्यम्भावी विषयमें तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

चन्द्रिका—ये दो श्लोक प्रसङ्गोपात्त कहे गये हैं इसमें तात्पर्य यही है कि आत्माको नित्य मानें या अनित्य किसी प्रकारसे भी शोक करना युक्त नहीं है। आत्माका यथार्थ स्वरूप पहिले श्लोकमें कहा ही गया है। 'महाबाहो' सम्बोधन द्वारा यही बताया गया है कि तुम पुरुषश्रेष्ठ हो तुम्हें आत्माके विषयमें ऐसा विरुद्ध विचार तो करना नहीं चाहिये, किन्तु यदि ऐसा ही करो तो भी शोक करना युक्तियुक्त नहीं हो सकता ॥२६–२७॥

अब इसी विषयको और भी व्यापकरूपसे सांख्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार कह रहे हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२८।।

अन्वय—हे भारत ! (हे अर्जुन !) भूतानि (समस्त प्राणि) अव्यक्तादीनि (उत्पत्तिसे पहिले अप्रकट ही रहते हैं) व्यक्त-मध्यानि (बीचमें प्रकट हो जाते हैं) अव्यक्तनिधनानि एव (पुनः नाशके बाद अप्रकट हो जाते हैं) तत्र (उसमें) का परि-देवना (शोक करनेकी क्या बात है ?)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! सभी जीव सृष्टिसे पहिले अ-प्रकट रहते हैं, बीचमें अर्थात् संसारकी स्थिति दशामें कुछ समय तक प्रकट रहते हैं और अन्तमें पुनः प्रलयके गर्भमें अप्रकट हो जाते हैं, इसमें शोक या विलाप करनेका क्या विषय है ?

चन्द्रिका—श्लोकमें 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' शब्द सांख्य दर्शनके सिद्धान्तानुसार दिया गया है। इसका सिद्धान्त यह है कि किसी वस्तुका नाश नहीं होता है, नाशः कारणलयः (सां० सूत्र) अर्थात् कार्यरूपी वस्तुका अपने कारणमें लय हो जाना ही नाश कहलाता है। वस्तु नष्ट नहीं होती है, केवल कारणमें छिप जाती है और पुनः कारणसे ही प्रकट हो जाती है। इसीको अव्यक्त और व्यक्त कहते हैं । इसी विचारके

अनुसार समस्त जीव सृष्टिसे पहिले अपने अपने कारणमें छिपे हुए थे, स्थिति दशामें कुछ समयके लिये प्रकट हुए हैं और पुनः प्रलयके समय स्व स्व कारणमें छिप जांयगे। यही विश्व रचनाका स्वरूप है। अतः इस स्वाभाविक सृष्टि स्थिति प्रलय क्रमको देखते हुए किसीके लिये शोक करना वृथा है। इसीको महाभारतके स्त्रीपर्वमें कहा गया है, यथा—

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना॥

जीव सब अदृश्य थे, दृश्य हुए हैं ओर पुनः अदृश्य हो जायेंगे, ये तुम्हारे नहीं हैं और तुम भी इनके नहीं हो। अतः वृथा क्यों शोक करते हो। 'भारत' सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि ऐसे उत्तम भरतवंशमें उत्पन्न होकर तुम्हें ये सब तत्त्वकी बातें समझनी चाहिये और शोकमोहसे मुक्त होना चाहिये॥ २८॥

किन्तु ऐसा प्रायः होता नहीं है, जीव शोक मोहमें मुग्ध देखे ही जाते हैं, इसमें आत्मतत्त्वविषयक अज्ञान ही कारण है—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं,
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति,
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

अन्वय—कश्चित् (कोई कोई) एनं (आत्माको) आश्चर्यवत् (अद्भुत वस्तु जैसे) पश्यति (देखता है) तथा एव च (और ऐसा ही) अन्यः (दूसरा कोई) आश्चर्यवत् (अद्भुत वस्तु जैसे)

वदति (बोलता है) अन्यः च (और भी कोई) एनं (आत्माको) आश्चर्यवत् (आश्चर्य जैसे) शृणोति (सुनता है) श्रुत्वा अपि च (किन्तु इस प्रकार सुनकर बोलकर, देखकर भी) कश्चित् एव एनं (कोई भी आत्माको) न वेद (यथार्थरूपसे नहीं जान पाता है)।

सरलार्थ—कोई कोई आत्माको अद्भुत वस्तु जैसे देखता है, दूसरा कोई ऐसा ही कहता है, तीसरा कोई ऐसा ही सुनता है, किन्तु सुनने, बोलने, देखने पर भी इसके यथार्थ स्वरूपका जाननेवाला विरल ही एक आध होता है।

चन्द्रिका—आत्माके स्वरूपके विषयमें अनुकूल प्रतिकूल अनेक युक्तियोंके द्वारा समझा कर अन्तमें श्रीभगवान् कहते हैं कि तुम्हें क्या दोष देवें आत्माके विषयमें प्रायः सभीकी ऐसी भ्रान्ति रहती है और इसी कारण संसारमें इतना शोक मोह है। कोई कोई तो 'आत्मा साकार भी है, निराकार भी है, हाथ नहीं तो भी पकड़ता है, आंख नहीं तो भी देखता है, कान नहीं तो भी सुनता है, पास भी है दूर भी है' इत्यादि परस्पर विरुद्ध बातोंको शास्त्रमें पढ़ कर आश्चर्य जैसे ही आत्माको देखता है, कोई कोई ऐसा ही कहता है और तीसरा कोई ऐसा सुनता है, किन्तु इस प्रकार देखने, कहने तथा सुनने पर भी आत्माका यथार्थ स्वरूप जाननेवाला संसारमें बहुत ही विरल है। इस श्लोकमें 'न वेद' शब्दका यही अर्थ है कि लाखोंमें एक आध कोई भाग्यवान् पुरुष आत्माको जान लेता है। 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये' हजारों मनुष्योंमेंसे विरल ही किसी किसीकी चेष्टा आत्मालाभके लिये होती है इत्यादि

वचनोंके द्वारा श्रीभगवान्ने ही आत्माकी परम दुर्लभता बता दी है। तथापि श्रेष्ठवंशोद्भव तथा प्रारब्धवान् होनेके कारण अर्जुनको आत्माके स्वरूपके विषयमें धारणा करके शोकमुग्ध नहीं होना चाहिए यही आशय है ॥ २९ ॥

इसी आशयको उपसंहारमें व्यक्त करते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।

अन्वय—हे भारत ! (हे श्रेष्ठ भरतवंशज अर्जुन !) अयं देही (शरीरका प्रभु यह आत्मा) सर्वस्य देहे (सबके देहमें) नित्य (सदा) अवध्यः (वध किये जाने वाला नहीं है) तस्मात् (इसलिये) त्वं सर्वाणि भूतानि शोचितुं न अर्हसि (तुम्हें किसी भी जीवके लिये शोक करना उचित नहीं है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! सबके शरीरमें रहनेवाला शरीरका प्रभु आत्मा सदा अवध्य है। इसलिये भीष्मादि किसीके लिये भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

चन्द्रिका—अविकारी, निराकार, नित्य आत्माके विषयमें इतने विचारके द्वारा जब यही निश्चय हुआ कि शरीरके नाशमें आत्माका नाश नहीं होता है और संसारमें सभी जीवोंके विषयमें यही नित्य सत्य सिद्धान्त है तो 'भीष्म द्रोणादिको मैं कैसे मारूंगा, गुरुओंका नाश कैसे किया जा सकता है' इत्यादि शोकमोहके द्वारा आच्छन्न होकर अपने वर्णगत कर्त्तव्यसे विमुख होनेका कोई भी कारण अर्जुनको नहीं हो सकता

है। अतः आत्माके विषयमें ऐसी ही धारणा करके अर्जुनको स्वधर्मपालन करना चाहिये यही अन्तिम निष्कर्ष है ॥३०॥

उत्तमाधिकारका इतना विवेक बता कर अब मध्यमाधिकारका विवेचन कर रहे हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

अन्वय—स्वधर्मं अपि च (अपने क्षत्रियधर्मको भी) अवेक्ष्य (देख कर) न विकम्पितुं अर्हसि। (तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिये) हि (क्योंकि) धर्म्यात् युद्धात् (धर्मयुद्धके अतिरिक्त) क्षत्रियस्य (क्षत्रियका) अन्यत् (दूसरा कुछ) श्रेयः (कल्याणकारी) न विद्यते (नहीं है)।

सरलार्थ—तत्त्वविचारके अतिरिक्त यदि अपने क्षत्रियधर्मकी ओर भी देखो तौभी तुम्हें अपने कर्त्तव्यपथसे विचलित नहीं होना चाहिये, क्योंकि धर्मयुद्धके सिवाय क्षत्रिय जातिके लिये कल्याणकी वस्तु और कुछ भी नहीं है।

चन्द्रिका—प्रथम आत्माके अविनाशी, अविकारी स्वरूपके विषयमें यथेष्ट प्रकाश डाल कर श्रीभगवान्ने अर्जुनको समझा दिया कि शोक मोहमें मग्न होकर युद्धसे उन्हें निवृत्त नहीं होना चाहिये। अब यह कहते हैं कि यदि उतना उच्च विचार न किया जाय तौभी केवल अपनी जातिका कर्त्तव्य देखते हुए अर्जुनको धर्मपालनसे डिगना या हिम्मत हारना

नहीं चाहिये, क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुद्ध परम श्रेयस्कर वस्तु है। श्रीभगवान् मनुने भी कहा है—

> समोत्तमाधमैः राजा चाहूतः पालयन् प्रजाः।
> न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥

समान समान, उत्तम या अधम किसी योद्धाके द्वारा भी बुलाये जाने पर क्षत्रिय राजाको प्रजा पालन तथा क्षात्रधर्मरक्षाके विचारसे संग्रामसे विमुख नहीं होना चाहिये। महर्षि पराशरने भी कहा है—

> क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान्।
> निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥

प्रजारक्षा करते हुए क्षत्रियको हाथमें शस्त्र लेकर शत्रुकी सेनाओंको मार कर धर्मानुसार पृथिवी पालन करना चाहिये। क्षत्रिय वीरके लिये शास्त्रमें जब यह धर्म बताया गया है तो अर्जुनको शोकमोहग्रस्त न होकर धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होना उचित है॥ ३१॥

इस विषयमें और भी कह रहे हैं—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

अन्वय—हे पार्थ! (हे अर्जुन!) यदृच्छया च (आपसे आप) उपपन्नं (प्राप्त) अपावृतं (खुले हुए) स्वर्गद्वारं (स्वर्गके द्वाररूपी) ईदृशं युद्धं (इस प्रकारके युद्धको) सुखिनः क्षत्रियाः (भाग्यवान् क्षत्रियगण) लभन्ते (पाते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! विना मांगे आपसे आप प्राप्त खुला हुआ स्वर्गद्वाररूपी इस प्रकार धर्मयुद्ध विशेष सौभाग्यसे ही क्षत्रियको मिलता है।

चन्द्रिका—श्रीभगवान् मनुने कहा है—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥

युद्धमें मुख न मोड़ कर क्षत्रिय नरपतिगण परस्पर अस्त्रप्रहार करते हुए उत्तम स्वर्ग लाभ करते हैं। अतः धर्मयुद्ध स्वर्गका खुला हुआ द्वार है इसमें सन्देह नहीं। और यह धर्मयुद्ध भी विना प्रार्थना किये ही मिला, क्योंकि पाण्डवोंने तो स्वयं युद्धमें कुटुम्बनाश करना नहीं चाहा था, बल्कि जीविकाके लिये पांच गांव मात्र लेकर वे सन्तुष्ट होना चाहते थे। किन्तु उसपर भी जब दुर्योधनने विना युद्धके नहीं माना तो युद्धकी प्रेरणा कौरवोंकी ओरसे ही हुई। इस प्रकार आपसे आप प्राप्त धर्मयुद्धका मौका भाग्यवान् क्षत्रियको ही मिलता है। अतः इहलोक परलोकमें सुखदायी तथा कीर्त्तिदायी धर्मयुद्धसे अर्जुनको विमुख नहीं होना चाहिये यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है॥३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥
अकीर्त्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषाञ्च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तवं सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अन्वय—अथ चेत् (इसलिये यदि) त्वं (तुम) धर्म्यं (धर्मसे युक्त) इमं संग्रामं (इस युद्धको) न करिष्यसि (नहीं करोगे) ततः (तो) स्वधर्मं (अपने क्षत्रियधर्मको) कीर्त्तिं च (और यशको) हित्वा (त्याग करके) पापं अवाप्स्यसि (पापको पाओगे)। अपि च (इसके सिवाय, और भी) भूतानि (सब लोग) ते (तुम्हारे) अव्ययां (स्थायी) अकीर्तिं (अपयशको) कथयिष्यन्ति (कहेंगे) सम्भावितस्य (मानी पुरुषका) अकीर्तिः (अपयश) मरणात् (मृत्युसे) अतिरिच्यते (अधिक होता है)। महारथाः च (दुर्योधनादि महारथगण भी) त्वां (तुम्हें) भयात् (भयके कारण) रणात् (युद्धसे) उपरतं (निवृत्त) मंस्यन्ते (समझेंगे) येषां (जिनके) त्वं (तुम) बहुमतः भूत्वा (बहुमान्य होकर भी अब) लाघवं यास्यसि (दृष्टिमें गिर जाओगे)। तव अहिताः (तुम्हारे शत्रुगण) तव सामर्थ्यं निन्दन्तः (तुम्हारी शक्तिकी निन्दा करते हुए) बहून् (अनेक) अवाच्यवादान् (तुम्हारे लिये जो कहना नहीं चाहिये ऐसे कुवाक्य) वदिष्यन्ति च (कहेंगे)

ततः (उससे) दुःखतरं (अधिक दुःखकर) किं नु ? (और क्या हो सकता है ?) हतः वा स्वर्गं प्राप्स्यसि (युद्धमें हत होने पर भी स्वर्गलाभ करोगे) जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे (और विजयी होने पर पृथ्वीका उपभोग करोगे) तस्मात् (इसलिये) हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) युद्धाय (युद्धके लिये) कृतनिश्चयः (हृदयमें निश्चय करके) उत्तिष्ठ (उठो)।

सरलार्थ—इसलिये यदि तुम इस धर्मयुद्धसे विमुख रहोगे तो अपना क्षत्रियजातिधर्म तथा यशको खो कर पापभागी बनोगे। लोग सब तुम्हारी अक्षय अपकीर्ति कहा करेंगे, और मानी व्यक्तिका अपयश मृत्युसे भी अधिक कष्टकर होता है। दुर्योधन आदि महारथिगण यही सोचेंगे कि तुमने कर्ण आदिसे डर कर लड़ना छोड़ दिया, इस प्रकारसे अब तक तुम्हारा जो उनके हृदयमें गौरव था सो मिट्टीमें मिल जायगा। तुम्हारे शत्रुगण भी तुम्हारी शक्तिकी निन्दा करते हुए कुत्सित भाषासे तुम्हारा अपवाद गावेंगे, इससे दुःखकर वस्तु और क्या हो सकती है ? यदि युद्धमें मृत्यु हुई तो तुम्हें स्वर्गलाभ होगा और यदि जीत गये तो पृथ्वीका राज्यभोग मिलेगा, अतः हे अर्जुन ! हृदयमें युद्धके लिये ही निश्चय कर उठो।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें श्रीभगवान्ने दो बातों पर अर्जुनका ध्यान दिलाया है—एक तो स्वधर्मत्याग करने पर उन्हें पाप लगेगा और द्वितीय युद्धसे विरत होने पर लोकमें उनकी बड़ी अकीर्ति होगी। मानी

पुरुषका मान प्राणसे भी प्रियतर तथा मूल्यवान् है। महाभारतके उद्योग-पर्वमें भी श्रीभगवान्ने युधिष्ठिरसे कहा है—'महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका' यशस्वी पुरुषके लिये मृत्यु अच्छी है, किन्तु अपयश अच्छा नहीं है। अतः जिस कार्यमें स्वधर्मत्यागजन्य पाप भी है और इहलोकमें निन्दा भी है, ऐसा कार्य अर्जुनको कदापि नहीं करना चाहिये। इसके सिवाय युद्धमें मृत्यु अथवा विजय लाभ दोनोंमें ही अर्जुनको लाभ है—एकमें स्वर्गसुख लाभ, दूसरेमें लौकिक राज्यसुख लाभ। अतः सब ओर विचार करने पर उनके लिये युद्ध करना ही सर्वथा युक्तियुक्त है यही श्रीभगवान्का उपदेश है ॥३३-३७॥

अब प्रासङ्गिक तथा आगे कहे जानेवाले विषयके सामान्य इङ्गितरूपसे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

अन्वय—सुखदुःखे (सुख तथा दुःखको) समे कृत्वा (एकसा मानकर) लाभालाभौ जयाजयौ (लाभ हानि तथा जय पराजयको भी एकसा मानकर) ततः (तदनन्तर) युद्धाय युज्यस्व (युद्ध कार्यमें लग जाओ) एवं (ऐसा करने पर) पापं न अवाप्स्यसि (तुम्हें पाप नहीं लगेगा)।

सरलार्थ—सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय इन सबमें एकसा भाव रखकर स्वधर्मपालन बुद्धिसे युद्ध कार्यमें लग जाओ उससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा।

चन्द्रिका—यह उपदेश प्रासङ्गिक है क्योंकि इस प्रकार सुख-दुःख आदिमें समत्व बुद्धि न होने पर भी केवल स्वधर्म पालन बुद्धि रहनेसे ही अर्जुनको या अन्य किसी क्षत्रियको पाप नहीं लग सकता है, जैसा कि पूर्वश्लोकोंमें कहा जा चुका है। यहां तो श्रीभगवान् द्वारा उन्हें समत्वबुद्धिरूपी कर्मयोग आगे हो से बताना है जिसका फल निष्काम कर्मयोग द्वारा अन्तमें मोक्षलाभ है इसलिये उसीके सामान्य इङ्गितरूपसे यह उपदेश दिया गया ॥३८॥

इङ्गित करनेके बाद अब प्रकृत विषय कहना प्रारम्भ करतेहैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

अन्वय—सांख्ये (तत्त्वज्ञान योगके विषयमें) एषा (अब तक वर्णित) बुद्धिः (विचार) ते (तुम्हें) अभिहिता (मैंने बताया), योगे तु (अब कर्मयोगके विषयमें) इमां (आगे वर्णित विचार-को) शृणु (सुनो), हे पार्थ! (हे अर्जुन!) यथा बुद्ध्या युक्तः (जिस कर्मयोगबुद्धिके द्वारा युक्त होकर) कर्मबन्धं (कर्मके बन्धनको) प्रहास्यसि (त्याग करोगे)।

सरलार्थ—तुम्हारे कर्त्तव्यके विषयमें ज्ञानयोगके अनुसार अब तक विचार बताया, अब कर्मयोगके अनुसार बताता हूं सुनो। हे अर्जुन! इस कर्मयोग बुद्धिके द्वारा युक्त होकर यदि तुम कर्त्तव्य करोगे तो तुम्हें कर्मका बन्धन कदापि नहीं प्राप्त हो सकेगा।

चन्द्रिका—पहिले ही भूमिकामें कहा गया है कि अर्जुनको निमित्त बना कर समस्त मुमुक्षुके कल्याणके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें ज्ञानयोग, उपासनायोग, कर्मयोगकी सामञ्जस्यानुसार साधना बताई है। इन तीनों योगोंमेंसे ज्ञानयोगमें आत्मानात्म विचारकी मुख्यता रहती है। आत्मा ही नित्य वस्तु है, बाकी सब सांसारिक पदार्थ अनित्य हैं, अतः आत्माकी नित्यताको समझ कर क्षणभङ्गुर शरीरके लिये शोक नहीं करना चाहिये, किन्तु वर्णाश्रमोचित अपना धर्मपालन करना चाहिये, इत्यादि इत्यादि ज्ञानयोगके उपदेश हैं। ज्ञानयोगमें कर्मकी मुख्यता नहीं रहती है। ज्ञानयोगी केवल प्रारब्धानुसार प्राप्त कर्मोंको करते हैं, कर्मका कोई खास अनुष्ठान नहीं करते और प्रारब्धका शेष होनेपर उनके भोजन, स्नान आदि कर्म ही रह जाते हैं। यद्यपि भूमिकामें वर्णित विज्ञानके अनुसार तीनों योगोंका मिलित साधन ही विशेष कल्याणकर होता है, क्योंकि जैसा कि पहिले कहा गया है, एकके अभावमें दूसरे योगकी सिद्धिमें अनेक बाधाएं होनेकी आशंका रहती है, और इसीलिये 'सर्वभूतहिते रताः' आदि शब्दोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका समुच्चय अर्थात् एक साथ साधन भी बताया है, तथापि प्रत्येक योगके भीतर अन्तिम सिद्धि दानका बीज विद्यमान है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इनमेंसे ज्ञानयोगका वर्णन करके अब कर्मयोगका वर्णन करते हैं। कर्मयोगमें कर्मको योगबुद्धिसे करना होता है। नहीं तो वह कर्म 'अहंकार' 'मोह' आदि उत्पन्न करके बन्धनका हेतु हो जाता है। केवल व्यक्तिगत सुखको लक्ष्य करके जो कर्म किया जाता है, उसमें स्वार्थजन्य बन्धन तो अवश्य ही है इसके अतिरिक्त स्वार्थबुद्धिसे देशसेवादि कर्म भी बन्धनका ही कारण होता है।

इसमें केवल स्वार्थ कुछ उदार हो जाता है अर्थात् देशके कल्याणद्वारा हमारा कल्याण तथा स्वार्थलाभ होगा यही बुद्धि रहती है। पश्चिम आदि आत्मविचार-शून्य देशोंमें इसी उदार स्वार्थबुद्धिसे लोग देशसेवादि कर्म करते हैं और इसी स्वार्थबुद्धिके कारण ही स्वजाति तथा स्वदेश सेवाके लिये वे परजाति तथा परदेशपीड़न करनेमें सङ्कोच नहीं करते। यही कारण है कि उनका वह सब 'कर्मयोग' न होकर 'कर्मभोग' ही होता है और उसमें रागद्वेष, सुखदुःख, आशा नैराश्य, सिद्धि असिद्धि आदिके द्वन्द्व अर्थात् द्विधाभाव और विषमभाव सदा ही विद्यमान् रहनेके कारण वह बन्धनका ही कारण बन जाता है। इसमें सिद्धिलाभ होने पर 'मैंने ही देशका उद्धार कर दिया' इस प्रकार अहंकारमूलक रजोगुणका बन्धन होता है और असिद्धि होने पर 'नैराश्य' 'निश्चेष्टता' 'जड़ता' आदि जन्य तमोगुणका बन्धन होता है। किन्तु श्रीभगवान्‌के द्वारा बताये हुए कर्मयोगमें इस प्रकार रजोगुण, तमोगुणका अभाव रहनेसे यह 'योग' शुद्धसत्त्वगुणकी सहायतासे कर्मबन्धनको तोड़ कर कर्मयोगीको मुक्ति ही प्रदान करता है। गीतामें 'समत्वं योग उच्यते' ऐसा कह कर श्रीभगवान्‌ने जय अजय, सिद्धि असिद्धि, रागद्वेष आदिमें समता बुद्धि रखनेको ही 'योग' कहा है। यह 'सम' क्या वस्तु है इसके विषयमें भी गीतामें लिखा है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः' अर्थात् रागद्वेषमय द्वन्द्वभावसे परे यह दोषहीन सम ब्रह्म ही है, अतः समत्व बुद्धिवाला कर्मयोगी ब्रह्ममें युक्त होकर ही कर्म करता है, इस प्रकार ब्रह्ममें रहनेके कारण ही इसका नाम 'योग' है। इस तरहसे ब्रह्ममें युक्त होकर फलाफलकी परवाह न करके कर्त्तव्य बुद्धिसे अथवा परमात्मा-

को प्रीतिके लिये अथवा विश्वको उनका रूप मानकर जगत्सेवा द्वारा परमात्माकी पूजारूपसे जो कुछ किया जाय उसीको योग अर्थात् कर्मयोग कहते हैं। इसमें व्यक्तिगत सेवा, देशसेवा या जगत्सेवा कुछ भी हो, किसी प्रकारसे भी कर्मयोगीको बन्धन प्राप्त नहीं हो सकता है। यही ज्ञान-योग और कर्मयोगका समुच्चय तथा उपासनायोगका साथ ही साथ मधुर संमिश्रण गीताका प्रतिपाद्य विषय है जिसको 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं' 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यं' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने स्थान स्थान पर बताया है ॥३९॥

अब इस कर्मयोगकी महिमा बता रहे हैं:—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

अन्वय—इह (इस कर्मयोगमें) अभिक्रमनाशः (प्रारम्भका विनाश) न अस्ति (नहीं है), प्रत्यवायः (बीचका विघ्न) न विद्यते (नहीं है) अस्य धर्मस्य (इस कर्मयोगरूपी धर्मका) स्वल्पं अपि (थोड़ा भी) महतः भयात् (भीषण भवभयसे) त्रायते (योगीको त्राण कर देता है)।

सरलार्थ—इस कर्मयोगमें प्रारम्भका विनाश भी नहीं है और बीचमें कोई विघ्न भी नहीं है। इसका थोड़ा भी अनुष्ठान भीषण संसारभयसे जीवके उद्धारका कारण बन जाता है।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें निष्काम कर्मयोगकी महिमा तथा सकाम कर्मसे उसकी श्रेष्ठता बताई गई है। खेती आदि कार्यमें यदि न होने

पर प्रारम्भमें ही खेतीका नाश हो सकता है, अथवा यज्ञादि सकाम कर्ममें यज्ञीय द्रव्योंके न मिलने पर प्रारम्भमें ही उसका नाश हो सकता है। द्वितीयतः प्रारम्भकी खेतीमें शिलावृष्टि, चूहे आदि द्वारा खेत खा जाना आदि बीचके विघ्न भी बहुत कुछ हो सकते हैं। इस प्रकार सकाम यज्ञादिमें भी मन्त्रोंका दुष्ट उच्चारण, अश्रद्धाके साथ या अविधिपूर्वक क्रिया आदिके द्वारा यज्ञके बीचमें ही बहुत कुछ विघ्न उपस्थित हो सकते हैं। किन्तु निष्काम कर्मयोगमें ऐसे प्रारम्भके या बीचके कोई भी विघ्न होनेकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि इसमें जब कोई अपना मतलब ही नहीं रहता, फलाफलकी परवाह भी नहीं रहती, केवल परमात्मामें युक्त रह कर उन्हींकी सेवा रूपसे कार्य किया जाता है, तो इसमें जो कुछ किया जायगा उसीसे कर्मयोगी आत्माकी ओर तथा समाधिकी ओर अग्रसर होगा। अतः इसमें न प्रारम्भका नाश ही है और न बीचका विघ्न ही है। और इस तरहसे थोड़ा भी कर्मयोग बहुत फलप्रद होता है क्योंकि परमात्मामें युक्त होकर योगी जो कुछ करेगा उससे वह मुक्तिकी ओर ही आगे बढ़ेगा जिससे भवभयनाशमें मदद मिलेगी, यही इस श्लोकका तात्पर्य है ॥४०॥

पुनरपि निष्कामयोगकी प्रशंसा तथा सकामसे उसकी श्रेष्ठता बता रहे हैं :—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

अन्वय—हे कुरुनन्दन! (हे अर्जुन!) इह (आध्यात्मिक कल्याणके मार्गमें) व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धिः एका

(बुद्धि एक ही होती है) अव्यवसायिनां च (निश्चय भावशून्य व्यक्तियोंकी) बुद्धयः (बुद्धि) बहुशाखाः हि (अनेक शाखाओंसे युक्त अतः) अनन्ताः (अनेक प्रकारकी होती है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! जो बुद्धि आध्यात्मिक कल्याण पथमें निश्चय स्वभाव रहती है वह सदा एकमुखिनी ही होती है। किन्तु जिन कामनापरायण अविवेकियोंकी बुद्धिमें इस प्रकार निश्चयता नहीं है उनकी बुद्धियां सकाम अनेक भावोंसे युक्त होनेके कारण अनन्त प्रकारकी होती हैं।

चन्द्रिका—बुद्धि ज्ञानयोगमयी हो या निष्काम कर्मयोगमयी हो जिसका लक्ष्य आत्मा है वह बुद्धि एकमुखिनी ही होती है क्योंकि ऐसी बुद्धिके द्वारा साधक अनन्त प्रकार कार्य करने पर भी सभीका एक ही परिणाम चित्तशुद्धि द्वारा परमात्माकी प्राप्ति ही होता है। किन्तु सकाम कर्म परायण मनुष्योंका लक्ष्य एक ही आत्मा न होकर भिन्न भिन्न कर्मोंकी भिन्न भिन्न फलप्राप्ति होती है, इसलिये उनकी बुद्धिमें अनेक शाखा तथा अनेक प्रकार होते हैं। वे कभी धनलाभके लिये कुछ सकाम कर्म करते हैं, कभी स्वर्गलाभके लिये कुछ सकाम कर्म करते हैं, कभी पुत्रलाभके लिये पुत्रेष्टि यज्ञादि करते हैं! वेदके सकाम कर्मकाण्डमें तथा अनेक शाखाओंमें ऐसे अनेक सकाम यज्ञादि कर्मोंके वर्णन हैं। अतः इन कर्मोंमें फंसे हुए मनुष्योंकी बुद्धि 'व्यवसायात्मिका' न होकर 'बहुशाखा' तथा 'अनन्ता' होती है॥ ४१॥

अब सकाम कर्मियोंकी बहुशाखायुक्त बुद्धिका वर्णन कर रहे हैं:—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) अविपश्चितः (अविवेकी) वेदवादरताः (वेदके सकाम कर्मकाण्डकी बातोंमें रत) अन्यत् न अस्ति इति वादिनः (स्वर्गादि सुख देनेवाले कर्मकाण्डके सिवाय और कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले लोग) यां इमां (ये जो सब) पुष्पितां वाचं (सकाम कर्मफलके विषयमें मधुर सुन्दर बात) प्रवदन्ति (कहते हैं) कामात्मानः (कामपरायण) स्वर्गपराः (स्वर्गसुखको ही विशेष माननेवाले ऐसे जो लोग) जन्मकर्मफलप्रदां (जन्मरूपी कर्मफलको देने वाली) भोगैश्वर्य गतिं प्रति (भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके विषयमें) क्रियाविशेषबहुलां (प्रचुर क्रियाकाण्डसे युक्त बात कहते हैं) भोगैश्वर्यप्रसक्तानां (भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त) तया (सकाम कर्मकाण्डकी बातोंसे) अपहृतचेतसां (मुग्धचित्त उन मनुष्योंकी) व्यवसायात्मिका बुद्धिः (निश्चयात्मिका बुद्धि) समाधौ (निष्काम योगमें) न विधीयते (नहीं ठहरती है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! अविवेकी, कामपरायण, स्वर्गादि

सुखको ही प्रधान माननेवाले, वैदिक सकामकर्मकाण्डमें मुग्ध होकर उसके अतिरिक्त और कुछ भी सेव्य नहीं है ऐसा कहने वाले जो लोग प्रारम्भमें मधुर सकाम कर्मफलके विषयमें मीठी बात करते हैं और पुनः पुनः जननमरणकारी भोग सम्पत्ति देनेवाली वैदिक क्रियाकाण्डके विषयमें भी बात करते हैं, सकाम भोगऐश्वर्यमें आसक्त कर्मकाण्डमें हतचित्त उन व्यक्तियोंकी बुद्धि निष्काम योगमें निश्चित होकर नहीं ठहरती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें सकाम कर्मियोंकी बुद्धिकी दशा बताई गई है। इसके विषयमें मुण्डक श्रुति में लिखा है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

सकाम कर्मकाण्डी लोग स्वर्गभोग दिलानेवाले इष्टापूर्त्त आदि यज्ञको ही सर्वोत्तम समझते हैं। इसका फल यह होता है कि सकाम यज्ञके द्वारा थोड़े समय स्वर्गसुख लाभ होनेके बाद उन्हें पुनः मनुष्ययोनि अथवा इससे भी हीन पशु आदि योनि मिलती है। अतः बुद्धिमान् दूरदर्शी जनको प्रारम्भमें मधुर किन्तु अन्तमें दुखदायी सकाम कर्मकाण्डमें फँसना नहीं चाहिये। किन्तु नश्वर सुखमें मुग्ध सकाम जीव इस उपदेशको प्रायः मानते नहीं हैं। वे वैदिक सकाम कर्मकाण्डमें ही फँसे रहते हैं और उसीकी प्रशंसा करते रहते हैं। इस प्रकारसे उनकी बुद्धि 'बहुशाखा' तथा 'अनन्त' सकाम भावसे युक्त होनेके कारण निष्काम आत्मारूपी परमफलको प्राप्त करानेवाले योगमें निश्चल होकर ठहरती नहीं है। यही इन श्लोकोंका निष्कर्ष है॥ ४२—४४॥

सकामकर्मको बुराइयां बता कर अब अर्जुनको निष्काम होनेका उपदेश कर रहे हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

अन्वय—वेदाः (वेद समूह) त्रैगुण्यविषयाः (तीन गुणके सकाम विषयोंसे पूर्ण हैं), हे अर्जुन! (हे अर्जुन!) निस्त्रैगुण्यः भव (तुम निष्काम हो जाओ) निर्द्वन्द्वः (राग द्वेषादि द्वन्द्वसे रहित) नित्यसत्त्वस्थः (सदा सत्त्वगुणमें स्थित) निर्योगक्षेमः (योग क्षेमसे रहित) आत्मवान् (आत्मनिष्ठ हो जाओ)।

सरलार्थ—वेद सांसारिक त्रिगुणमय सकाम कर्मोंसे भरे पड़े हैं, हे अर्जुन! तुम निष्काम हो जाओ और इसलिये रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे शून्य, सदा सत्त्वगुणमें स्थित, योगक्षेमकी चिन्तासे रहित तथा आत्मनिष्ठ बने रहो।

चन्द्रिका—वेदके ब्राह्मणभागमें सत्त्व रजः तमोगुणमय अनेक प्रकारके सकाम यागयज्ञोंका विधान है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु ये ही सब कर्म ईश्वरार्पणबुद्धिसे निष्काम होकर करने पर इनके द्वारा चित्तशुद्धि तथा आत्मोन्नति अवश्य होती है। जैसा कि गीताके १७वें अध्यायमें सात्त्विक यज्ञका लक्षण वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही कहा है। इस लिये यहां पर वैदिक कर्मोंकी निन्दा नहीं समझनी चाहिये, केवल सकाम भावकी ही निन्दा है। और ऐसी निन्दा वेदके ज्ञानकाण्डरूपी

उपनिषद्में भी की गई है जैसा कि 'इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्टं' इत्यादि मन्त्रमें पहिले ही बताया गया है। श्रीमद्भागवतके ११वें स्कन्धमें भी लिखा है—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

आसक्तिरहित होकर फलाफल ईश्वरमें समर्पित करते हुए वेद-विहित कर्मोंको करने पर भी परम सिद्धि लाभ हो सकता है, वेदमें कुकर्मी जीवोंको विहित कर्ममें प्रवृत्त करनेके लिये ही सकाम यज्ञादि कर्मोंकी इतनी स्तुति की गई है। यही कारण है कि इस श्लोकमें श्रीभगवान् अर्जुनको कर्मत्याग करनेका उपदेश न देकर 'निस्त्रैगुण्य' शब्दके द्वारा केवल निष्काम होनेको कह रहे हैं। बिना राग द्वेष आदि द्वन्द्वोंके जीते मनुष्य निष्काम नहीं बन सकता है, अतः अर्जुनको 'निर्द्वन्द्व' होनेको कहा है। त्रिगुणसे अतीत होनेके लिये प्रथमतः सत्त्वगुणके द्वारा रजोगुण तमोगुणको जीतना पड़ता है, पश्चात् सत्त्वगुणको भी त्याग देकर साधक निस्त्रैगुण्य बन सकता है, इसलिये अर्जुनको 'नित्य-सत्त्वस्थ' होनेको कहा गया है। अप्राप्त वस्तुके पानेका नाम 'योग' है और पायी हुई वस्तुकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है, यही योगक्षेमका अर्थ है। विषयी लोग ही इस प्रकार योगक्षेमके धन्धेमें लगे रहते हैं। इस लिये अर्जुनको योगक्षेमरहित होनेका उपदेश दिया गया है। बिना आत्मनिष्ठ हुए मनुष्योंमें इनमेंसे कोई भी गुण नहीं आ सकता। आत्मनिष्ठ व्यक्तिका योगक्षेम भगवान् ही वहन करते हैं। उन्होंने स्वयं ही कहा है--

'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्'।

मुझमें सदा रत भक्तका योगक्षेम मैं ही चलाया करता हूं। अतः निष्काम कर्मयोगीके लिये 'आत्मवान्' होना नितान्त आवश्यक है ॥४५॥

अब इसमें यदि कोई शङ्का करे कि सकाम कर्म छोड़ देने पर तज्जन्य स्वर्गादि सुखसे जीवको वञ्चित रहना पड़ेगा तो इसके समाधानमें कहते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

अन्वय—सर्वतः (चारों ओर) संप्लुतोदके (जल भर जाने पर) उदपाने (कूप आदि छोटे जलाशयोंमें) यावान् अर्थः (जितना प्रयोजन रहता है), विजानतः ब्राह्मणस्य (ब्रह्मतत्त्वज्ञ ब्राह्मणका) सर्वेषु वेदेषु (सकाम कर्मकाण्ड सम्बन्धीय वेदोंमें) तावान् (उतना ही प्रयोजन रहता है)।

सरलार्थ—बाढ़, नदी या समुद्र आदिके द्वारा सर्वत्र जल भर जाने पर कूप आदि छोटे जलाशयोंका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मतत्त्वके जाननेवाले पुरुषके लिये वेदके सकाम कर्मकाण्डका उतना ही प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें यही भाव बताया गया है कि निष्काम कर्मयोगके द्वारा आनन्दमय आत्माके राज्यमें पहुंचनेवाले योगीको वैदिक

सकाम कर्मोंके नाशवान् सुखके लिये लालायित होनेका प्रयोजन नहीं रहता। इसमें दृष्टान्त यही दिया गया है कि जिस प्रकार चारों ओर बाढ़ आदिके आ जाने पर नहाने पीने आदिका यथेष्ट जल मिलनेसे कूएसे कष्ट करके पानी खींचनेकी आवश्यकता नहीं रहती, ठीक उसी प्रकार असीम ब्रह्मानन्द समुद्रमें गोता खानेवाले ब्रह्मज्ञ पुरुषोंको सकाम कर्मोंके झगड़ेमें नहीं पड़ना पड़ता। क्योंकि असीम आनन्दमें छोटे मोटे सभी आनन्द समाये जाते हैं। श्रुतिमें भी लिखा है—'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' अर्थात् ब्रह्मानन्द पूर्ण तथा असीम है, जीवगण सकाम कर्मोंके द्वारा उसी पूर्णका अंश मात्र उपभोग करते हैं। ब्रह्मका असल आनन्द आकाशमें स्थित सूर्यके प्रकाशकी तरह है और विषयका सुख जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके प्रकाशकी तरह है। असीम ब्रह्मानन्द ही प्रकृतिके सात्त्विक तरङ्गमें प्रतिबिम्बित होकर प्रेम, भक्ति आदिके सुखरूपसे, राजसिक तरङ्गमें प्रतिबिम्बित होकर काम, लोभ आदि जन्य सुखरूपसे, और तामसिक तरङ्गमें प्रतिबिम्बित होकर मोह, निद्रा आदि जन्य सुखरूपसे प्रतीत होता है। यह सभी प्रतिबिम्बित आनन्द अर्थात् छाया सुखमात्र है। किन्तु वास्तविक ब्रह्मानन्दके मिलने पर इन छाया सुखोंकी कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिये पाण्डवगीतामें लिखा है—'तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं वाञ्छति दुर्मतिः' पवित्रसलिला गङ्गाके तट पर प्यास मिटानेके लिये कूआ खोदना मूर्खता मात्र है। अतः वैदिक यज्ञ हो या और भी किसी प्रकारका कर्म हो, योगीको निष्कामभावसे उसका अनुष्ठान करके असीम आनन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान होना चाहिये यही तात्पर्य है ॥ ४६ ॥

अब वह निष्काम कर्म कैसे किये जाना चाहिये उसीका स्वरूप कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अन्वय—कर्मणि एव (कर्म करनेमें ही) ते (तुम्हारा) अधिकारः (अधिकार है) कदाचन (कभी) फलेषु मा (फलमें अधिकार नहीं है), कर्मफलहेतुः (फलकी आकांक्षासे कर्मकरनेवाला) मा भूः (तुमको नहीं होना चाहिये), अकर्मणि (कर्मके न करनेमें) ते सङ्गः (तुम्हारी इच्छा) मा अस्तु (नहीं होनी चाहिये)।

सरलार्थ—तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करनेमें ही है, उसके फलमें नहीं है, फलकी आकांक्षासे तुम्हें कर्ममें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये और फल नहीं मिलेगा इस विचारसे कर्ममें अरुचि भी नहीं होनी चाहिये।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें निष्काम कर्मयोगको किस भावसे करना चाहिये सो बहुत ही सुन्दर रीतिसे बताया गया है। संसारमें प्रायः फलकामनासे ही मनुष्य कर्म करता है और जहां फलकी आशा नहीं, वहां कर्म करना छोड़ देता है। किन्तु कर्मयोगका लक्षण इससे ठीक विपरीत ही है। इसमें फलकामनाद्वारा कर्ममें आसक्ति नहीं होनी चाहिये और फल मिलता नहीं इस कारण कर्ममें अनासक्ति या अरुचि भी नहीं होनी चाहिये। फलाफलकी परवाह न करके केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे कर्म करना चाहिये यही निष्कर्ष है ॥ ४७ ॥

अब नीचेके तीन श्लोकोंमें कर्मयोगके स्पष्ट लक्षण बताये जाते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

अन्वय—हे धनञ्जय ! (हे अर्जुन !) योगस्थः (योगमें स्थित होकर) सङ्गं त्यक्त्वा (आसक्तिको छोड़ कर) सिद्ध्यसिद्ध्योः (सिद्धि तथा असिद्धिमें) समः भूत्वा (एक भाव रख कर) कर्मांणि कुरु (कर्मोंको करो), समत्वं (यही एक भाव रखना) योगः उच्यते (योग कहाता है) । हे धनञ्जय ! (हे अर्जुन !) हि (क्योंकि) बुद्धियोगात् (समत्व बुद्धि योगसे) कर्म (सकाम कर्म) दूरेण अवरं (अत्यन्त निकृष्ट है), बुद्धौ (इसलिये समत्वबुद्धिकी) शरणं अन्विच्छ (शरण लो), फलहेतवः (फलकी आकांक्षासे कर्म करनेवाले) कृपणाः (तुच्छ चित्तके होते हैं)। बुद्धियुक्तः (समत्वबुद्धिसे युक्त कर्मयोगी) इह (इस संसारमें) उभे सुकृतदुष्कृते (पुण्य पाप दोनोंको ही) जहाति (त्याग कर देता है) तस्मात् (इसलिये) योगाय युंज्यस्व (समत्वबुद्धि योगमें युक्त होजाओ) योगः कर्मसु कौशलम् (कर्ममें जो कौशल है उसे योग कहते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! योगयुक्त होकर आसक्तिको छोड़ सफलता विफलतामें समभाव रखते हुए कर्म करो, इस प्रकार समभाव रखनेको ही योग कहते हैं। समत्वबुद्धिसे सकाम कर्म बहुत ही निकृष्ट होता है, इस कारण हे अर्जुन! तुम समत्वबुद्धिकी ही शरण लो, फलाकांक्षासे काम करनेवाले बहुत ही दीनचित्तके होते हैं। समत्वबुद्धिसे युक्त पुरुष संसारमें पाप पुण्य दोनोंके बन्धनको त्याग देता है, इस लिये तुम इसी योगसे युक्त होजाओ, यह जो कर्म करनेकी चतुराई है, जिससे कर्म करने पर भी उसका बन्धन नहीं होता है उसे ही योग कहते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें दो प्रकारसे कर्मयोगके लक्षण कहे गये हैं, प्रथम 'समत्व' अर्थात् लाभ अलाभ, सफलता विफलता आदि सभीमें समभाव रखकर कर्त्तव्यबुद्धि, भगवत् प्रीति या भगवान्‌को सर्वत्र व्याप्त जान कर जीवसेवा द्वारा भगवत्पूजा करना और फलाफल उन्हींको समर्पण कर देना यही कर्मयोगका लक्षण है। द्वितीयतः कर्ममें जो कौशल है अर्थात् इस कौशल या चतुराईके साथ कार्य करना कि यह कर्म बन्धनका कारण न बनकर बन्धननाश तथा मोक्षका ही कारण बन जाय, इसे भी कर्मयोग कहते हैं। यह कौशल कर्म करनेमें निष्कामभाव रखनेसे ही हो सकता है। क्योंकि कामना ही बन्धनका कारण है और निष्कामता मोक्षका कारण है। फलाकांक्षा न रखनेसे 'सुकृत' 'दुष्कृत' किसीके साथ भी कर्मयोगीका सम्बन्ध नहीं रहेगा और इस प्रकार पाप पुण्य, धर्म

अधर्मरूपी द्वन्द्वोंसे परे ही ब्रह्मका राज्य है। अतः समत्वबुद्धिके साथ कर्मयोगके अनुष्ठान द्वारा योगी अनायास ही आनन्दमय मोक्षपदको पा सकता है यह सिद्धान्त हुआ ॥ ४८-५० ॥

अब इस समत्वयोगका अन्तिम फल बताते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

अन्वय—बुद्धियुक्ताः (समत्वबुद्धिके द्वारा युक्त) मनीषिणः हि (मनीषिगण ही) कर्मजं फलं त्यक्त्वा (कर्मसे उत्पन्न फलका त्याग करके) जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः (जन्मरूपी बन्धनसे मुक्त होकर) अनामयं (दुःखसे रहित) पदं (मुक्तिपदको) गच्छन्ति (पाते हैं)।

सरलार्थ—समत्वबुद्धिके द्वारा युक्त ज्ञानिगण ही सुख दुःखादि कर्मफलका त्याग करके जन्मरूपी बन्धनसे मुक्त होकर अनन्त शान्तिमय उपद्रवरहित मोक्षपदका लाभ करते हैं।

चन्द्रिका—फलाफल, शुभ अशुभ, सफलता विफलता आदिमें समभाव रख कर कर्मयोगके अनुष्ठानका यही फल होता है कि योगी कर्मसे उत्पन्न द्वन्द्वसे मुक्त हो जाता है, जिससे आगे जन्म होनेका कारण भी नष्ट होने पर संस्कार नाशसे जन्मरूपी बन्धन टूट जाता है और जन्ममृत्युसे परे अनन्त आनन्दमय परमपद योगीको प्राप्त हो जाता है यही इस श्लोकका तात्पर्य है ॥५१॥

अब इस प्रकार समत्वबुद्धि कब और कैसे प्राप्त होगी सो ही बता रहे हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

अन्वय—यदा (जब) ते बुद्धिः (तुम्हारी बुद्धि) मोहकलिलं (शरीरमें आत्मबुद्धि आदि अविवेकके मैलको) व्यतितरिष्यति (काट लेगी) तदा (तब) श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च (सकाम कर्मादिके विषयमें जो कुछ सुनना है या सुन चुके हो उसके प्रति) निर्वेदं (वैराग्यको) गन्ता असि (तुम प्राप्त करोगे)। यदा (जब) श्रुतिविप्रतिपन्ना (वैदिक सकाम कर्मकाण्डसे घबड़ाई हुई) ते बुद्धिः (तुम्हारी बुद्धि) निश्चला (चाञ्चल्यरहित होकर) समाधौ (कर्मयोगद्वारा आत्मामें) अचला स्थास्यति (अचलरूपसे ठहर जायगी) तदा (उस समय) योगं (कर्मयोगका यथार्थ फल) अवाप्स्यसि (तुम प्राप्त करोगे)।

सरलार्थ—जब तुम्हारी बुद्धि मोहममता आदि अविवेककी मलिनतासे मुक्त हो जायगी तभी तुम्हें सकाम कर्मकाण्डके सुने हुए तथा सुनने योग्य विषयोंमें वैराग्य प्राप्त होगा। इस प्रकारसे सकाम कर्मकाण्डसे विरक्त तुम्हारी बुद्धि चाञ्चल्य छोड़ कर जब निश्चलरूपसे आत्मामें ठहर जायगी तभी योगका यथार्थ लक्ष्य तुम्हें प्राप्त हो जायगा।

चन्द्रिका—जब तक बुद्धिमें 'मैं मेरा' आदि ममतामूलक अविवेककी मलिनता रहती है तब तक जीव प्रायः वैदिक सकाम कर्मोंके चक्करमें ही फंसा रहता है। उसको व्यवसायात्मिका बुद्धि प्राप्त न होकर कामनामयी चञ्चल बुद्धि ही प्राप्त हुई रहती है। किन्तु आत्मामें चित्तको ठहरा कर निष्कामभावसे जीव जितना ही वेदविहित कर्मोंको करता जाता है, उतना ही उसके चित्तकी सकामता तथा चञ्चलता नष्ट होकर अन्तमें आत्मा ही में बुद्धि एकान्तरूपसे निश्चल हो जाती है। उस समय वह बुद्धि साधारण बुद्धि न कहला कर प्रज्ञा या ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है। और इस प्रकार प्रज्ञासे युक्त पुरुष 'स्थितप्रज्ञ' कहलाते हैं। वे अपनी प्रज्ञाको ज्ञानमय ब्रह्ममें लवलीन करते हुए सत्य ही बोलते हैं, सत्य ही सोचते हैं और सत्य ही करते हैं। आनन्दमय ब्रह्ममें इस प्रकारसे सदा प्रतिष्ठित रहनेके कारण स्थितप्रज्ञ योगीको सदा आत्मप्रसाद अर्थात् आत्माका असीम आनन्द मिलता रहता है। यही योगका अन्तिम फल होनेके कारण श्रीभगवान्‌ने इसीके लाभको ही सच्चा योगका लाभ बताया है ॥५२–५३॥

अब प्रसङ्गसे प्राप्त स्थितप्रज्ञके लक्षणके विषयमें अर्जुनकी जिज्ञासा होती है—

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ! ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अन्वय—हे केशव ! (हे कृष्ण !) स्थितप्रज्ञस्य समाधिस्थस्य (जिसकी प्रज्ञा आत्मामें ठहर गई है और जो समाधिमें

स्थित हो गया है उसका) का भाषा (क्या लक्षण है) स्थितधीः (स्थितप्रज्ञ पुरुष) किं प्रभाषेत (कैसे बोलते हैं) किं आसीत (कैसे रहते हैं) किं व्रजेत (कैसे विचरते हैं ?)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे केशव ! समाधिप्राप्त स्थितप्रज्ञ पुरुषका क्या लक्षण है ? और वे कैसे बोलते हैं, रहते हैं तथा विचरते हैं ?

चन्द्रिका—पूर्व उपदेशमें 'स्थितप्रज्ञ' के विषयमें श्रीभगवान्के कुछ कहने पर अर्जुनको विशद रूपसे इस विषयमें जाननेकी इच्छा हुई और तभी उन्होंने श्रीभगवान्को ऐसा प्रश्न किया। अब उत्तरमें श्रीभगवान् क्रमशः 'स्थितप्रज्ञ' के लक्षण तथा साधनोपाय दोनों ही बतावेंगे। 'केशव' सम्बोधनका यही तात्पर्य है कि 'क' अर्थात् ब्रह्मा और 'ईश' अर्थात् शंकर सबके सहायक होनेके कारण श्रीभगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् हैं इसलिये यथार्थ रहस्यकी बात उत्तमरूपसे बता सकेंगे ॥५४॥

अब प्रश्नके उत्तररूपसे स्थितप्रज्ञका लक्षण तथा साधनोपाय बताते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) यदा (जिस समय) सर्वान् (सब) मनोगतान् कामान् (मनकी इच्छाओंको) प्रज-

हाति (परित्याग कर देता है) तदा (उस समय) आत्मनि एव आत्मना (अपनेसे ही अपनेमें) तुष्टः (आनन्दमय योगी) स्थितप्रज्ञः उच्यते (स्थितप्रज्ञ कहलाता है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने उत्तर दिया—हे अर्जुन! जिस समय योगी मनकी समस्त वासनाओंको एकबारगी त्याग देता है और बाहरी विषयोंसे सुखकी अपेक्षा न रख कर अपने आत्मामें ही आनन्दमग्न रह जाता है, उस समय उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

चन्द्रिका—अर्जुनने चार प्रश्न किये हैं, इसलिये श्रीभगवान् भी क्रमशः चारोंके ही उत्तर देते हैं। यह उत्तर प्रथम प्रश्नका है। इसमें स्थितप्रज्ञका लक्षण बताया गया है। जब तक नित्यानन्दमय आत्माको भूलकर जीव अनित्य विषय सुखके खोजमें रहता है तभी तक उसके मनमें नानाप्रकारकी वैषयिक इच्छाएं उत्पन्न होती रहती हैं। किन्तु अपनी प्रज्ञाको आत्मामें ठहरा कर जब योगी उसी आत्माके नित्य तथा असीम आनन्दका उपभोग करने लगता है तब योगीको क्षणभंगुर विषयोंसे सुख चाहनेका प्रयोजन नहीं रहता है। अतः उस समय स्वतः ही योगीके मनको सब कामनाएं नष्ट हो जाती हैं और बाहरी सुखोंसे निरपेक्ष होकर वह आत्मामें ही परम सन्तुष्ट रहता है। यही स्थितप्रज्ञका प्रथम लक्षण है॥ ५५॥

अब स्थितप्रज्ञका दूसरा लक्षण कहते हैं—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

अन्वय—दुःखेषु (दुःखोंके प्राप्त होनेपर) अनुद्विग्नमनाः (जिनके चित्तको क्षोभ नहीं होता हो) सुखेषु (सुखोंके प्राप्त होने पर) विगतस्पृहः (जिनके चित्तमें आसक्ति नहीं उत्पन्न होती हो) वीतरागभयक्रोधः (आसक्ति, भय तथा क्रोधसे रहित) मुनिः (ऐसे आत्मरत पुरुष) स्थितधीः उच्यते (स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं)।

सरलार्थ—दुःख आने पर भी जिनका चित्त व्याकुल नहीं होता है और सुख मिलने पर भी उसमें फंस नहीं जाता है, आसक्ति, भय तथा क्रोधसे रहित आत्मचिन्तनमें सदा रत ऐसे पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं।

चन्द्रिका—शरीरके रहते हुए रोगादिके द्वारा स्थूल दुःख, कुटुम्ब-मृत्यु आदि जन्य मानसिक दुःख, अतिवृष्टि अनावृष्टि वज्रपात आदिके द्वारा दैवदुःख आया ही करते हैं। जब तक आत्माका शरीरके साथ अभिमान सम्बन्ध रहता है तब तक बद्धजीव इन दुःखोंसे व्याकुल हो जाते हैं। किन्तु शरीरके साथ अभिमानको त्यागे हुए आत्मरत पुरुष इन दुःखोंको प्रारब्ध कर्मसे प्राप्त शरीरका भोगमात्र समझकर इनमें अधीर नहीं होते हैं। इसी प्रकार आत्माके आनन्दमें मग्न रहनेके कारण ऐसे पुरुषको विषयी जीवकी तरह वैषयिक सुखोंमें आसक्ति नहीं रहती है, वे सदा 'वीतराग' होते हैं। कामनाकी तृप्ति न होनेसे ही मनुष्यको क्रोध हो जाता है। ऐसे पुरुषको जब कामना ही नहीं है तो क्रोध भी नहीं हो सकता। जब तक देहके साथ अभिमान है तभी तक

उस पर विपत्तिकी आशंकासे जीवको भयादि उत्पन्न होता है। इसलिये जिसको देहाभिमान नहीं है उसको भय भी नहीं हो सकता है। इस तरहसे स्थितप्रज्ञ मुनि आसक्ति, भय तथा क्रोधसे शून्य होते हैं। यही स्थितप्रज्ञका दूसरा लक्षण है ॥ ५६ ॥

अब दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञका लक्षण कह रहे हैं—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

अन्वय—यः (जो) सर्वत्र (सभी विषयोंमें) अनभिस्नेहः (स्नेहशून्य हैं) तत् तत् शुभाशुभं प्राप्य (शुभ अथवा अशुभ विषयको पाकर) न अभिनन्दति न द्वेष्टि (न आनन्द ही मनाते हैं और न द्वेष ही करते हैं) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गई है अर्थात् वे ही स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं।

सरलार्थ—जो सभी विषयोंमें स्नेहशून्य अर्थात् निःसङ्ग होते हैं, जिनको शुभमें भी आनन्द नहीं है और अशुभसे भी द्वेष नहीं है, उन्हींकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित जाननी चाहिये अर्थात् वे ही सच्चे स्थितप्रज्ञ हैं।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें 'स्थितधीः किं प्रभाषेत' स्थितप्रज्ञ योगी कैसे बोलते हैं इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है। विषयमें आसक्ति न रहनेके कारण स्थितप्रज्ञ योगी सभीमें निःसङ्ग रहते हैं अर्थात् किसी वस्तुके प्रति उनके चित्तका आकर्षण या लगाव नहीं रहता है। यही

'सर्वत्र अनभिस्नेह' शब्दका तात्पर्य है। जहां राग है वहीं द्वेष भी है क्योंकि विषयी जीवको चित्तके अनुकूल विषयोंमें राग और प्रतिकूल विषयोंमें द्वेष होता है। किन्तु स्थितप्रज्ञ योगीका चित्त विषयसे परे ब्रह्ममें सदा लवलीन रहनेके कारण उनमें न राग ही होता है और न द्वेष ही होता है। क्योंकि ये इन दोनों ही से परे होते हैं। इसलिये वे न शुभको पाकर ही आनन्दमें विह्वल हो जाते हैं और न अशुभको पाकर ही द्वेषसे दग्ध होने लगते हैं। वे शुभ अशुभ दोनों ही को प्रारब्धानुसार प्राप्त समझ कर धीरभावसे दोनोंको ही ग्रहण करते हैं और ऐसी ही उदासीनकी तरह लौकिक जगत्में बातचीत करते हैं ॥५७॥

अब तृतीय प्रश्नका उत्तर दिया जाता है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अन्वय—यदा च अयं (जब योगी) कूर्मः (कछुआ) अङ्गानि इव (अपने अङ्गोंकी तरह) इन्द्रियार्थेभ्यः (विषयोंसे) इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) संहरते (खींच लेता है) तस्य (तब उसकी) प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (प्रज्ञाको प्रतिष्ठित जानना चाहिये)।

सरलार्थ—जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गोंको सिकोड़ लेता है उसी प्रकार जब योगी विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंको खींच लेते हैं, तभी उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित जाननी चाहिये।

चन्द्रिका—अब इस श्लोकमें तथा आगेके और पांच श्लोकोंमें 'किमासीत' अर्थात् स्थितप्रज्ञ योगी कैसे रहते हैं, इस प्रश्नका उत्तर दिया

गया है। वेदमें लिखा है कि—पराञ्चि खानि व्यतृणोत् स्वयम्भुस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ अर्थात् प्रजापतिने मनुष्यकी इन्द्रियोंको बाहरकी ओर कर दिया है, इसलिये मनुष्य अपनी इन्द्रियोंके द्वारा बाहरी विषयोंकी ही सेवा करता है अन्तरात्माको देख नहीं सकता है। केवल कोई कोई धीर पुरुष अमृतत्व पानेकी इच्छा करके जब इन्द्रियोंको भीतरकी ओर खींच लेते हैं तभी उन्हें अन्तरात्माका दर्शन हो जाता है। अतः इन्द्रियोंके रोके बिना न परमात्मामें मन ही लग सकता है और न आत्माका अनुभव ही हो सकता है। इस कारण जो योगी कछुवेकी तरह सब इन्द्रियोंको रोक लेवें वे ही स्थितप्रज्ञ हैं॥ ५८॥

किन्तु केवल रोकने मात्रसे विषयोंका आत्यन्तिक नाश नहीं होता है क्योंकि—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥

अन्वय—निराहारस्य देहिनः (संग्रह न करनेवाले विषयोंके भी) विषयाः (विषय समूह) विनिवर्त्तन्ते (रुक जाते हैं) रसवर्जं (किन्तु रस अर्थात् सूक्ष्म संस्कारको छोड़ कर) अस्य (स्थितप्रज्ञका) रसः अपि (सूक्ष्म विषय संस्कार भी) परं दृष्ट्वा (परमात्माको देख कर) निवर्त्तते (नष्ट हो जाता है)।

सरलार्थ—उपवास, रोग आदिके कारण विषयोंका संग्रह न होने पर अज्ञ पुरुषका भी विषय निवृत्त हो सकता

है, किन्तु इसमें विषयका मूल संस्कार नष्ट नहीं हो सकता। मूल संस्कारके साथ एकबारगी ही विषयका नाश केवल ब्रह्मकी उपलब्धि होने पर ही स्थितप्रज्ञका हो जाता है।

चन्द्रिका—'निराहार' शब्दका अर्थ जो आहरण अर्थात् संग्रह विषयका न करे। मनुष्य उपवास करे, बीमार होजाय या विषयसे दूर रहे तौ भी संग्रहका मौका न आनेसे विषय रुक सकता है। अन्नके रससे इन्द्रियोंमें तेजी आती है, इसलिये निराहार पुरुषकी इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। यही कारण है कि पूजा आदिके पहिले उपवास करानेकी विधि शास्त्रमें पाई जाती है। ऐसो प्रकार रुग्नावस्थामें भी इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। और विषयके पाससे हट जाने पर भी आकर्षणका मौका नहीं मिलता है। अतः इन उपायोंसे मूर्ख व्यक्तिका भी विषय रुक सकता है। किन्तु ऐसा विषयका रुकना स्थायी नहीं हो सकता है। क्योंकि इनके द्वारा विषयकी सूक्ष्म चाह या संस्कार नष्ट नहीं होता है जिसको 'रसवर्ज' शब्दके द्वारा बताया गया है। यह तो केवल ऊपरके दबावके द्वारा विषयका रोकना हुआ इससे स्थायी फल नहीं हो सकता है। यही कारण है कि योगशास्त्रमें 'निराहार' के बदले 'युक्ताहार' होनेका ही उपदेश किया गया है। विषयका मूलसहित नाश परमात्माके देख लेने पर हो जाता है। क्योंकि उस समय योगीको स्त्री पुरुष सभी एक ही आत्मा पर स्थित देखने लगते हैं, उनके चित्तमें भेदभाव नहीं रह जाता है। और इसी कारण मुक्तात्मा स्थितप्रज्ञमें काम आदि विषय वृत्ति नहीं उत्पन्न हो सकती है। इस अवस्थासे पहिले ध्यान आदि अथवा उपवास आदिके द्वारा विषयकी स्थूलवृत्ति नष्ट होने पर भी सूक्ष्म संस्कार चित्तमें अवश्य

ही रह जाता है, जो किसी प्रलोभनका मौका पाकर पुनः स्थूल भावको धारण कर सकता है ॥ ५९ ॥

अब दो श्लोकोंके द्वारा विषयका तीव्र वेग तथा संयमका उपाय बता रहे हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अन्वय--हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) यततः (यत्नमें लगे हुए) विपश्चितः अपि पुरुषस्य (विवेकी पुरुषके भी) मनः (मनको) प्रमाथीनि (अति बलवान्) इन्द्रियाणि (इन्द्रियगण) प्रसभ (जबरदस्ती, बलात्कारके साथ) हरन्ति (हर लेती हैं, विषयोंमें फंसा लेती हैं)। तानि सर्वाणि (उन सब इन्द्रियोंको) संयम्य (वशमें करके) युक्तः (योगीको) मत्परः (आत्मामें रत) आसीत (रहना चाहिये), हि (क्योंकि) यस्य इन्द्रियाणि (जिनकी इन्द्रियां) वशे (वशमें हैं) तस्य (उन्हींकी) प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! इन्द्रियगण इतने बलवान् हैं कि संयमके प्रयत्नमें लगे हुए विवेकी पुरुषके भी मनको वे जबरदस्ती विषयकी ओर खींच लेती हैं। इस कारण योगीको चाहिये कि अति यत्नके साथ समस्त इन्द्रियोंको वशमें ला

कर आत्मामें लगे रहें, क्योंकि जिनकी इन्द्रियां वशीभूत होगई हैं उन्हींकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो सकती है।

चन्द्रिका—श्रीभगवान् मनुने कहा है—'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' बलवान् इन्द्रियां विद्वानोंके भी चित्तको विषयकी ओर आकर्षण कर लेती हैं। फिर अविद्वान् साधारण व्यक्तिकी बात ही क्या है? इस श्लोकमें भी यही कहा गया है कि अच्छे बुरेका विवेक भी है, इन्द्रिय संयमके लिये कोशिश भी कर रहे हैं ऐसे विवेकी पुरुषके भी चित्तको अति बलवान् इन्द्रियां जिस तरह कोई डाकू जबरदस्ती गृहस्थोंका धन छीन लेता है ऐसेही देखते देखते विषयकी ओर खींच लेती हैं, और विवेकी विवश हो जाते हैं। इसलिये योगीको चाहिये कि विशेष प्रयत्नके साथ इन्द्रियों-को रोक कर आत्मामें लगे रहें। क्योंकि आत्मामें लगे रहे बिना इन्द्रियोंका पूरा संयम नहीं हो सकता है। श्रीभगवान्ने आगे भी कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

त्रिगुणमयी मायाके बन्धनको काटना बहुत ही कठिन है, केवल मायाके पति परमात्माकी शरण लेनेसे ही माया कट सकती है, अन्यथा नहीं। निश्चल ब्रह्ममें चित्तको लवलीन किये बिना चञ्चल मन कभी अपने स्वाभाविक चाञ्चल्यको छोड़ नहीं सकता है। अतः जिनकी इन्द्रियां वशमें आगई हैं वे ही स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं॥६०-६१॥

अब यह विषयवृत्ति उत्पन्न होती कैसे है सो कह रहे हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

अन्वय—विषयान् ध्यायतः (विषयोंकी चिन्ता करनेवाले) पुंसः (पुरुषको) तेषु (विषयोंमें) सङ्गः (आसक्ति) उपजायते (उत्पन्न हो जाती है), सङ्गात् (आसक्तिसे) कामः (कामना) संजायते (उत्पन्न होती है), कामात् (कामनाकी तृप्तिमें बाधा होने पर) क्रोधः (क्रोध) अभिजायते (उत्पन्न हो जाता है)। क्रोधात् (क्रोधके द्वारा अन्तःकरणके ग्रस्त होने पर) सम्मोहः भवति (कर्त्तव्य अकर्त्तव्यके विषयमें विवेक नष्ट हो जाता है) सम्मोहात् (सम्मोहके द्वारा चित्तके ग्रस्त होने पर) स्मृति-विभ्रमः (शास्त्र तथा गुरुपदेश वाक्योंकी स्मृति बिगड़ जाती है) स्मृतिभ्रंशात् (ऐसी स्मृतिके भ्रष्ट होनेसे) बुद्धिनाशः (कार्य अकार्य निर्णयकारी बुद्धिका नाश हो जाता है) बुद्धिनाशात् (बुद्धिका नाश हो जाने पर) प्रणश्यति (मनुष्यका सर्वस्व नाश हो जाता है)।

सरलार्थ—विषयकी चिन्ता करते करते उसमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्तिसे कामना और उसकी अतृप्तिमें क्रोध हो जाता है, क्रोधी मनुष्यमें अच्छे बुरेका विवेक नहीं रहता, जिससे शास्त्र तथा आचार्य वाक्योंकी स्मृति ही बिगड़ जाती है, इस प्रकारसे स्मृतिके नाश द्वारा बुद्धिका नाश और बुद्धिके नाशसे सर्वस्व नाश होजाता है।

चन्द्रिका—इन्द्रियोंका संयम न करनेसे मनुष्योंकी कैसी दुर्दशा होती है सो ही इन दो श्लोकोंमें कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—'असंकल्पाज्जयेत्कामं, क्रोधं कामविवर्जनात्' कामका संकल्प त्याग करके कामजय करना चाहिये और कामजय द्वारा क्रोधका जय करना चाहिये। किन्तु जो ऐसा न करके विषयोंका ही चिन्तन तथा संकल्प विकल्प करता रहता है उसकी उसमें आसक्ति हो जाती है और आसक्ति-से कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। कामनाकी तृप्तिमें बाधा मिलने पर क्रोध आ जाता है जिससे कर्त्तव्य अकर्त्तव्य भूल कर मनुष्य पूज्य पुरुषोंका भी अपमान कर डालता है, इसी क्रोधजनित अविवेकसे शास्त्रवाक्य तथा आचार्य उपदेशकी स्मृति नष्ट हो जाती है, और शास्त्रविषयिणी स्मृतिके लोप होने पर बुद्धि तथा उसकी विचारशक्ति नष्ट हो जाती है। बुद्धि ही मनुष्यमें मनुष्यत्वको कायम रख सकती है, जिसकी बुद्धि नहीं है, वह नराकार पशुतुल्य है, अतः बुद्धिनाशसे मनुष्यका नाश हो जाता है अर्थात् मनुष्य कहलाने योग्य उसमें जो कुछ था सभी नष्ट हो जाता है। यहां 'प्रणश्यति' शब्दका अर्थ 'मृत्यु' नहीं है, सर्वस्व नाश है। यही असंयमी विषयीकी अन्तिम दशा है ॥६२-६३॥

अब अन्तिम प्रश्नके उत्तररूपसे जितेन्द्रिय पुरुषकी उत्तम स्थितिका वर्णन कर रहे हैं—

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥६५॥

अन्वय—रागद्वेषविमुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः (रागद्वेषसे मुक्त अपने वशमें स्थित इन्द्रियोंके द्वारा) विषयान् चरन् (विषयोंका ग्रहण करता हुआ) विधेयात्मा (संयतचित्त पुरुष) प्रसादं (शान्तिजन्य सात्त्विक प्रसन्नताको) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं)। प्रसादे (सात्त्विक प्रसन्नताके उदय होने पर) अस्य (योगीके) सर्वदुःखानां (सकल दुःखोंका) हानिः (नाश) उपजायते (हो जाता है), हि (क्योंकि) प्रसन्नचेतसः (प्रसन्नचित्त योगीकी) आशु (शीघ्र ही) बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते (बुद्धि आत्मामें ठहर जाती है)।

सरलार्थ—राग द्वेषसे रहित तथा अपने वशमें स्थित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण करते हुए संयतचित्त योगी शान्तिमय सात्त्विक आनन्दका लाभ करते हैं। ऐसी सात्त्विक प्रसन्नतामें उनके सकल दुःखोंका नाश हो जाता है क्योंकि उनकी बुद्धि शीघ्र आत्मामें स्थिर हो जाती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें 'स्थितधीर्व्रजेत किम्' अर्थात् स्थितप्रज्ञ कैसे विचरते हैं इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है। विषयोंका चिन्तन करते करते रागद्वेष आदि द्वारा इनमें फँस कर अन्तमें कैसे जीवका सर्वनाश होता है, सो पूर्व श्लोकोंमें बता कर अब इन श्लोकोंमें यही कहा गया है कि जो योगी मनको संयत रखते हैं तथा रागद्वेषमें फँसते नहीं हैं उनकी संयत इन्द्रियां आवश्यकतानुसार विषय सेवा करती हुई भी बन्धनका कारण नहीं होती हैं क्योंकि केवल पान भोजनादि विषय ग्रहणमें ही बन्धन

नहीं है, किन्तु इनके साथ चित्तके रागद्वेष सम्बन्ध द्वारा ही बन्धनका उदय होता है। अतः इस प्रकार संयतचित्त योगी विषयसेवासे चञ्चल न होकर जितेन्द्रियता द्वारा शान्ति तथा सात्त्विक चित्तप्रसाद ही लाभ करते हैं। उनका चित्त विषयसे हट कर आत्मामें ही स्थिर हो जाता है, जिस कारण शारीरिक मानसिक किसी प्रकारके दुःखका भी प्रभाव उन पर नहीं पड़ता है। वे आत्मामें चित्तको स्थिर करके आत्मप्रसाद ही लाभ करते हैं ॥६४-६५॥

अब विरुद्ध शब्द द्वारा इसी विषयको कह रहे हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अन्वय—अयुक्तस्य (योगहीन पुरुषकी) बुद्धिः (आत्माके विषयकी बुद्धि) नास्ति (नहीं है) अयुक्तस्य (योगहीन पुरुषकी) भावना च न (आत्माके विषयकी भावना भी नहीं है) अभावयतः (भावनाहीन पुरुषकी) शान्तिः च न (शान्ति भी नहीं है) अशान्तस्य (शान्तिहीन पुरुषको) कुतः सुखम् (सुख कहां) ?

सरलार्थ—अयुक्त पुरुषकी आत्मविषयिणी बुद्धि नहीं है और आत्मविषयिणी भावना भी नहीं है, भावनाके अभावसे उसे शान्ति नहीं मिलती और जहां शान्ति नहीं है वहां सुख कैसे आवेगा।

चन्द्रिका—आत्मामें अन्तःकरणको युक्त रख कर विषयसेवा करते रहने पर भी योगी आध्यात्मिक शान्ति तथा सुख लाभ करते हैं। किन्तु

जिसका अन्तःकरण ऐसा युक्त नहीं रहता है उसकी क्या दशा होती है इसी बातको इस श्लोकमें प्रतिपादित किया गया है। अन्तःकरणके शुद्ध न रहनेसे बुद्धि आत्मामें स्थिर न होकर विषयोंमें ही चञ्चल होती रहती है, जिस कारण चित्तमेंसे आत्माकी भावना नष्ट हो जाती है। और जहां आत्माकी भावना नष्ट हुई वहां विषयकी भावना चित्तको ग्रास करके उसकी शान्तिसुधाको चिरकालके लिये अवश्य ही पी जायगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। विषयसे विमुख आनन्दमय आत्मामें स्थित शान्त चित्तमें ही निर्मल अध्यात्मप्रसादका विकाश हो सकता है। अतः जहां ऐसा नहीं है, किन्तु चित्त आत्मासे ही विमुख तथा विषयतरङ्ग द्वारा अशान्त है वहां सुख स्वप्नमें भी लब्ध नहीं हो सकता है। अतः आत्मामें युक्त रागद्वेषसे मुक्त संयत अन्तःकरणमें ही आत्मप्रसादका उदय हो सकता है यही विज्ञान व्यतिरेक अर्थात् विरुद्ध युक्ति द्वारा प्रतिपादित हुआ ॥६६॥

अब अयुक्त पुरुषकी ऐसी दशा कैसे होती है इस विषयका वर्णन करते हुए प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं—

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो! निगृहीतानि सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

अन्वय—हि (क्योंकि) चरतां इन्द्रियाणां (विषयमें विचरनेवाली इन्द्रियोंमेंसे) मनः (मन) यत् अनुविधीयते (जिस

इन्द्रियके साथ रहता है) तत् (वह इन्द्रिय) वायुः (पवन) अम्भसि (जलमें) नावं इव (जिस प्रकार नावको डामाडोल कर डुबा देता है उसी प्रकार) अस्य (साधककी) प्रज्ञां (विवेक बुद्धिको) हरति (नाश कर देती है)। हे महाबाहो! (हे वीर-वर अर्जुन!) तस्मात् (इस कारण) यस्य इन्द्रियाणि (जिनकी इन्द्रियां) इन्द्रियार्थेभ्यः (विषयोंसे) सर्वशः (सब तरहसे मन-के भी साथ) निगृहीतानि (वशमें आगई हैं) तस्य प्रज्ञा प्रति-ष्ठिता (वे ही स्थितप्रज्ञ पदको पा गये हैं)।

सरलार्थ--क्योंकि विषयमें विचरनेवाली इन्द्रियोंमेंसे जिस एकके साथ भी मन रहता है वही इन्द्रिय जिस प्रकार प्रबल पवन समुद्रमें तरणीको इतस्ततः विक्षिप्त कर डुबा देता है, उसी प्रकार साधककी विवेक बुद्धिको नष्ट कर देती है। इस कारण हे महाबाहो! मनके सहित समस्त इन्द्रियां जिस योगीके सम्पूर्ण वशमें आ गई हैं उन्हें ही स्थितप्रज्ञ जानना चाहिये।

चन्द्रिका--बुद्धि आत्मामें युक्त न रहनेसे क्यों ऐसी दुर्दशा होती है सो ही इन श्लोकोंमें बताया गया है। पहिले श्लोकोंमें कहा गया है कि यदि मन आत्मामें युक्त रहे तो संयत इन्द्रियोंके द्वारा विषय सेवा करते हुए भी योगी आत्मप्रसाद लाभ कर सकता है। किन्तु यदि मन आत्मामें युक्त न होकर किसी इन्द्रियके पीछे पड़ जाय तो दशा ठीक उलटी होती है। अर्थात् आत्मासे च्युत मनके साथ वही

विक्षिप्त इन्द्रिय तरङ्गविक्षिप्त समुद्रमें नावकी तरह बुद्धि तथा विवेकका सर्व्यानाश करती हुई साधकको घोर विषय पङ्कमें निमग्न कर देती है। और इस कार्यके लिये एक ही इन्द्रिय यथेष्ट है, दो चारकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियमें ही मनुष्यको पशु बनानेकी अपूर्व शक्ति निहित है। अतः जिस धीर योगीने मन सहित समस्त इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे आत्मवश कर लिया है उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गई है यही जानना चाहिये। और ऐसे स्थितप्रज्ञ योगीको ही आत्मप्रसाद, अनन्त आनन्द तथा आत्माका साक्षात्कार लाभ हो सकता है ॥६७-६८॥

अब इस प्रकार संयतेन्द्रिय योगीकी स्थिति कैसी होती है सो ही बताया जाता है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६९ ॥

अन्वय—सर्वभूतानां (समस्त विषयी लौकिक जीवोंके लिये) या निशा (जो रात्रि है) संयमी (जितेन्द्रिय स्थितप्रज्ञ योगी) तस्यां (उसमें) जागर्त्ति (जागते हैं), यस्यां (जिसमें) भूतानि (विषयी लौकिक जीव) जाग्रति (जागते हैं) पश्यतः मुनेः (आत्मदर्शी मुनिके लिये) सा निशा (वह रात्रि है)।

सरलार्थ—लौकिक जीव आत्मतत्त्वके विषयमें निद्रितसे रहते हैं इसलिये उनके लिये वह रात्रि है, किन्तु स्थितप्रज्ञ योगी उसमें सदा जाग्रत रहते हैं। उसी प्रकार वैषयिक वस्तुओंमें रत रहनेके कारण लौकिक जीव उसमें जागते रहते हैं, किन्तु तत्त्वदर्शी मुनिके लिये वह रात्रि है।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें आलंकारिक वर्णनके द्वारा स्थितप्रज्ञ योगीकी उत्तमा स्थिति बताई गई है। कौएके लिये रात रात है, किन्तु उलूके लिये वही दिन है, क्योंकि वह दिनमें छिपा रहता है और रात्रि आने पर तब निकलता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्वके विषयमें योगीके जागे रहने पर भी विषयी उसमें लेटे ही रहते हैं, उसके लिये अन्धकारमयी रात्रिकी तरह वह वस्तु प्रच्छन्न ही रहती है। ठीक उसी प्रकार वैषयिक वस्तुओंमें विषयीके जागते रहने पर भी योगी उसमें निद्रित ही रहते हैं अर्थात् उनके चित्त पर विषयका कोई भी प्रभाव नहीं रहता है। यही भोगीसे योगीकी विशेषता तथा संयमी स्थितप्रज्ञ-पुरुषकी दिव्य स्थिति है ॥६९॥

उनके समुद्रवत् गम्भीर शान्त हृदयका वर्णन कर रहे हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यंप्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।७०।

अन्वय—यद्वत् (जिस प्रकार) आपूर्यमाणं (चारों ओरसे नदनदियोंके जलद्वारा परिपूर्ण) अचलप्रतिष्ठं (तथापि अपने तटकी मर्यादाको न छोड़नेवाले) समुद्रं (समुद्रमें) आपः (समस्त जलराशि) प्रविशन्ति (प्रवेश कर जाती है) तद्वत् (उसी प्रकार) सर्वे कामाः (समस्त कामनाएं) यं (जिस योगीके समुद्रवत् विशाल हृदयमें) प्रविशन्ति (प्रवेश कर लवलीन हो जाती हैं) सः (वेही स्थितप्रज्ञ योगी) शान्तिं आप्नोति (अविनाशी शान्तिको पाते हैं) कामकामी (विषयोंका चाहनेवाला विषयी) न (शान्तिको नहीं पाता है)।

सरलार्थ—चारों ओरसे अनन्त नदनदियोंके द्वारा परिपूर्ण किये जाने पर भी अपनी मर्यादाका अतिक्रम न करते हुए अपने दोनों तटोंके बीचमें ही अचल गम्भीररूपसे प्रतिष्ठित समुद्रमें जिस प्रकार अनन्त जलराशि आकर लवलीन हो जाती है ठीक उसी प्रकार जिस स्थितप्रज्ञ योगीकी धीर स्थिर समुद्रवत् विशाल सत्तामें समस्त कामनाएं आकर लवलीन हो जाती हैं वे ही शाश्वती शान्तिके अधिकारी होते हैं, विषयकामी लौकिक जीवोंके भाग्यमें यह शान्ति नहीं है।

चन्द्रिका—स्थितप्रज्ञ योगीकी उत्तमा स्थितिके वर्णन प्रसङ्गमें उनके अति विशाल हृदयका वर्णन इस श्लोकके द्वारा किया गया है। संसारमें जीव प्रायः त्रिविध स्थितिके होते हैं। प्रथम 'कामकामी' अर्थात् विषयी जो विषयका दास बना रहता है। द्वितीय 'मुमुक्षु' जो विषयके त्यागके लिये उद्योग कर रहा है, किन्तु अभी आत्मामें इतना बल नहीं कि विषयके सामने आने पर भी धैर्य रख सके। ऐसे साधकको सदा विषयसे दूर ही रहना होता है। वैराग्य, एकान्तवास आदि इसके साधन हैं। तृतीय स्थितप्रज्ञ या मुक्तात्मा जिनके अनन्त शान्त हृदयमें अपनी सब कामनाएं तो लय हो ही चुकी हैं, अधिकन्तु अन्य कोई कामकामी जिनके पास आने पर भी कामनाशून्य हो महात्मा हो जाता है। ये ही सबसे उत्तम कोटिके योगी पुरुष हैं जिनका वर्णन इस श्लोकमें आया है। समुद्रमें चाहे कितनी ही नदियां आकर गिर जांय, समुद्र कभी अपने तटकी मर्यादाको न उलंघन करता और न अपनी गम्भीरताको

ही छोड़ कर चञ्चल होता है । अधिकन्तु वे नदियां ही समुद्रमें मिलकर समुद्र हो जाती हैं, उनका पृथक् अस्तित्व तथा चाञ्चल्य सब कुछ नष्ट हो जाता है । मुक्तात्मा पुरुष ठीक ऐसे ही होते हैं, उनकी समुद्रवत् विशाल धीर गम्भीर सत्तामें अपनी सकल कामनाएं विलीन हो जाती हैं और उनकी शरणमें आये हुए कामियोंको भी कामनाएं विलीन हो जाती हैं। वे सब उनके दिव्य सङ्गसे धन्य हो जाते हैं । ऐसे ही कामनाहीन आत्माराम योगी सदा शान्तिमयी तथा नित्यानन्दमयी ब्राह्मी स्थितिको लाभ करते हैं । विषयचञ्चल जीवके भाग्यमें कदापि यह शान्ति नहीं मिल सकती है। यही इस श्लोकका तात्पर्य है । इस श्लोकके द्वारा जगज्जीवोंको उपदेश देते हुए श्रीभगवान्‌ने अपनी भी अनुपम अलौकिक स्थिति बता दी है । वास्तवमें श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रकी भी ऐसी ही समुद्रवत् गम्भीर अलौकिक ब्राह्मी स्थिति थी । जिस कारण वे स्वयं योगीश्वर, आत्माराम रह कर हजारों गोपगोपी तथा नाना अधिकारके भक्तोंका उद्धार अपने अवतारकालमें कर सके थे। उनके पूर्णावतार होनेके कारण सभी रसके भक्त उनके अवतारकालमें प्रकट हुए थे यथा कान्तारसकी व्रजगोपियां, दास्यरसके उद्धवादि, सख्यरसके अर्जुन, गोपालबालकादि, वात्सल्य रसके नन्द यशोदादि, वीररसके भीष्मादि, इत्यादि। किन्तु श्रीभगवान्‌की यह अलौकिक महिमा थी कि किसी रसके द्वारा भी उनके भक्त बनने पर उसी रसके द्वारा भक्तको तन्मय बनाकर श्रीभगवान् उन्हें अपनेमें लय कर लिया करते थे, जिससे भक्त समस्त भावोंको भूलकर भगवान्‌में ही लय हो जाता था । इतना तक कि कामरसके द्वारा उपासक पूर्वजन्मके ऋषि गोपियोंका

भी उन्होंने इस तरहसे कामभाव छुड़ाकर उद्धार कर दिया था। उन्होंने निज मुखसे कहा है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जितः क्वथितो धानः प्रायो बीजाय नेष्यते ॥

जिस प्रकार भुने हुए धानसे अङ्कुर नहीं उग सकता है ठीक उसी प्रकार मुझमें कामके द्वारा रति होने पर भी वह काम काम नहीं रह सकता है। ऐसे कामादि भाव श्रीभगवान्‌में अर्पित होने पर कैसे नष्ट होते हैं इसका समाधान श्रीशुकदेवने परीक्षितके प्रश्नके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कर दिया है, यथा—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते ॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह इत्यादि किसी भी भावके द्वारा भगवान्‌में रत होने पर भगवान् उसी भावके द्वारा भक्तको अपनी ओर खींचकर तन्मय कर डालते हैं। फल यह होता है कि तन्मयदशामें मनोलयके साथ साथ मनमें उत्पन्न कामादि भाव भी लय हो जाते हैं। और भक्त इन मलिन भावोंसे मुक्त होकर उत्तमा गतिको प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकारसे श्रीभगवान् कृष्णने स्वयं आत्माराम तथा योगीश्वर रह कर कामादि भावके द्वारा उपासक व्रजगोपिकादियोंको मुक्त कर दिया था। किन्तु ऐसी धीरता, गम्भीरता, अलौकिकता और असाधारण शक्तिशालिता पूर्णावतार तथा मुक्तात्मामें ही सम्भव हो सकती है। साधारण पुरुष ऐसे अलौकिक

कार्योंको कर नहीं सकते। यही श्रीभगवान्‌के निजमुखके उपदेशमें निज चरित्र कथा है ॥ ७० ॥

स्थितप्रज्ञकी उत्तमा स्थितिको बताते हुए अब अन्तिम प्रश्नका अन्तिम उत्तर दे रहे हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

अन्वय—यः पुमान् (जो योगी पुरुष) सर्वान् कामान् (सकल प्राप्त कामनाओंको) विहाय (परित्याग करके) निस्पृहः (अप्राप्त कामनाओंके प्रति स्पृहाहीन) निर्ममः (शरीरादिके प्रति ममत्वहीन) निरहंकारः (अहंभाव रहित होकर) चरति (प्रारब्ध क्षयके रूपसे विचरता रहता है) सः शान्ति अधिगच्छति (उसे ही मोक्षरूपी आत्यन्तिक शान्ति मिलती है)। हे पार्थ! (हे अर्जुन!) एषा ब्राह्मी स्थितिः (यही ब्रह्मविषयक स्थिति है) एनां प्राप्य (इसको पाकर) न विमुह्यति (योगी पुनः संसारमोह-में नहीं फँसता है) अन्तकाले अपि (शरीर त्यागके समय भी) अस्यां स्थित्वा (इस ब्रह्मभावमें स्थित होने पर) ब्रह्मनिर्वाणं ऋच्छति (मोक्षको पा लेता है)।

सरलार्थ--जो योगी पुरुष समस्त कामनाओंको परित्याग करके अप्राप्त विषयोंके प्रति भी स्पृहाहीन तथा ममत्व और अहंभावसे रहित होकर प्रारब्धक्षय निमित्त संसारमें विचरता रहता है उसे ही शाश्वत शान्ति मिलती है। हे अर्जुन! स्थितप्रज्ञ योगीकी यही उत्तमा स्थिति ब्रह्ममयी स्थिति कहलाती है। इस स्थितिके लाभ होने पर पुनः योगी संसारमें नहीं फंसता है और शरीरत्यागके समय भी यह स्थिति मिल जाय तो आनन्दमय ब्रह्ममें ही योगी लवलीन हो जाता है।

चन्द्रिका--पूर्वश्लोकमें कामनाहीन पुरुष ही शान्तिलाभ कर सकते हैं ऐसा कह कर अब अन्तिम दोनों श्लोकोंके द्वारा स्थितप्रज्ञ योगीकी इसी उत्तमा ब्राह्मीस्थितिका वर्णन 'व्रजेत किम्' इस प्रश्नके अन्तिम उत्तर रूपसे कर रहे हैं। स्थितप्रज्ञ योगी समस्त विषयोंका मनसे भी परित्याग कर देते हैं और अप्राप्त विषयोंके प्रति भी स्पृहा नहीं रखते, मैं मेरा आदि भाव शरीर कुटुम्ब आदि किसीके प्रति भी उनका नहीं रहता है, अविद्याका पूर्ण नाश हो जानेके कारण किसी वस्तुके प्रति उनका अहम्भाव भी नहीं रहता है, वे केवल जीवन्मुक्त अवस्थामें स्थित रह कर अवशिष्ट प्रारब्धमात्रका भोग करते रहते हैं। इस दशामें विचरते हुए वे जो कुछ कार्य करते हैं वह सब या तो प्रारब्धभोगरूपमें होता है या जगत्कल्याणके लिये विराट केन्द्रद्वारा चालित होकर होता है। वे सब कुछ करते हुए भी अनन्त आनन्दमय अनन्त ब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित रहते हैं। उनके लिये समस्त संसार उस समय प्रस्तर खोदित मूर्ति-

की तरह व्यापक आत्मामें ही भासमान दिखने लगता है। वे सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते हैं। यही स्थितप्रज्ञ मुक्तात्मा पुरुषकी ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्ममयी स्थिति है। प्रपञ्चसे परे, माया राज्यसे बाहर विराजमान इस अनन्तानन्दमय अनुपम स्थितिको पाकर योगी पुनः संसार जालमें नहीं फंस सकते हैं। क्योंकि उनके लिए उस समय अद्वैतसे पृथक् कोई संसारसत्ता ही नहीं रहती है। वे अद्वैतभावमें ही सकलद्वैतभावका विलास देख कर उसीके द्वारा अद्वैतानन्दका आस्वाद लाभ करते हैं। यदि समस्त जीवन पुरुषार्थ करते करते शरीर त्यागके समय भी यह ब्राह्मीस्थिति मिल जाय तौभी योगी ब्रह्ममें ही लवलीन हो जाते हैं। इस श्लोकमें 'अपि' शब्दका यही तात्पर्य है कि जब अन्तसमयमें भी ब्राह्मीस्थिति मिलने पर योगीको ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्ममें लवलीनता हो जाती है तो जो अलौकिक प्रारब्धवान् साधक बाल्यकालसे ही ब्रह्मचारी तथा वैराग्यवान् होकर ब्रह्मनिष्ठ होजाय उनकी मुक्ति तो करायत्त ही है, इसमें सन्देह नहीं। यही कर्मयोग तथा ज्ञानयोगकी ब्रह्ममयी, आनन्दमयी अन्तिम दशा है, जिसको श्रीअर्जुनको निमित्त बनाकर श्रीभगवान् वासुदेवने जगज्जनोंके कल्याणके लिये उत्तम रीतिसे दर्शा दिया ॥७१-७२॥

इसप्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः।

गीताके द्वितीयाध्यायमें प्रथमतः आत्मानात्मविवेकयुक्त ज्ञानयोगका विवेचन करके पश्चात् कर्मयोगका विवेचन किया गया है। उसमें यही बताया गया है कि फलाकांक्षारहित होकर सिद्धि असिद्धिमें समबुद्धि रखते हुए जो कर्त्तव्यकर्मका अनुष्ठान है उसीको कर्मयोग कहते हैं। ब्रह्म सम है, इस कारण बुद्धि समभावमें युक्त होते ही ब्रह्ममें युक्त हो जाती है, और इस प्रकार समत्वबुद्धिसे युक्त पुरुष योगी कहलाते हैं, उनका समस्त कर्म तथा उसका फलाफल परमात्मामें ही अर्पित होता है और वे आत्मामें युक्त होकर कर्म करते करते 'आत्मरति' तथा स्थितप्रज्ञ हो जाते हैं। यही ज्ञानयोग तथा कर्मयोगकी अन्तिम गति है और इसी कारण ब्राह्मीस्थिति दिलानेवाली इस बुद्धिकी विशेष प्रशंसा श्रीभगवान्‌ने द्वितीयाध्यायमें कर्मयोग वर्णन प्रसङ्गमें की है। इस पर अर्जुनकी यह शङ्का होती है कि जब समत्वबुद्धि ही श्रेष्ठ तथा अन्तिम लक्ष्य है तो कर्मके झञ्झटमें पड़नेकी आवश्यकता क्या है, विवेक तथा ज्ञान द्वारा भी तो समत्वबुद्धि लायी जा सकती है? इसी प्रश्नबीज पर तृतीयाध्यायका विषय प्रारम्भ हुआ है। इसमें श्रीभगवान्‌ने यही बताया है कि विना कर्म किये एकबारगी यह समत्वबुद्धि तथा आत्मरति प्राप्त नहीं होती। क्योंकि प्रकृतिके त्रिगुणमय वेग द्वारा जीव स्वभावतः कर्म करने लगता है। उसी

स्वभावको बलात् न तोड़ कर निष्कामताकी ओर उसे मोड़ देना ही कौशल या योग है। और इसी योगका नियमित अनुष्ठान करते करते समत्वबुद्धिके परिपाकमें योगी जब 'आत्मरति' होजाता है तब उसका कोई "कार्य नहीं रहता" अर्थात् अवश्य करने योग्य कर्त्तव्य नहीं रहता, वह 'आत्मरति' होकर विधिनिषेधसे परे हो जाता है, केवल प्रारब्धभोग आदि रूपसे अनायास कुछ कार्य करता है इसीको गीतामें नैष्कर्म्यसिद्धि कही गयी है। अतः बलात् कर्मत्याग या सन्न्यास द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि नहीं होती है; किन्तु निष्काम कर्मयोगके करते करते ही 'आत्मरति' होकर होती है, इसलिये प्रथमसे ही कर्मसन्न्यास न करके कर्मयोगका अनुष्ठान करना चाहिये, यही इस अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है। अब अर्जुनके शङ्कारूपसे इस विषयकी अवतारणा की जाती है—

अर्जुन उवाच।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन!।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव!॥ १॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

अन्वय—हे जनार्दन! हे केशव! (हे कृष्ण!) चेत् (यदि) कर्मणः (कर्मकी अपेक्षा) बुद्धिः (आत्मरति देनेवाली समत्वबुद्धि) ज्यायसी (श्रेष्ठतर) ते मता (तुम्हारे विचारमें है), तत्

किं (फिर क्यों) घोरे कर्मणि (हिंसात्मक युद्धकार्यमें) मां (मुझे) नियोजयसि (प्रवृत्त कर रहे हो)। व्यामिश्रेण वाक्येन इव (सन्दिग्ध जैसे वाक्यसे) मे बुद्धिं (मेरी बुद्धिको) मोहयसि इव (मुग्ध करते हो ऐसा प्रतीत होता है) तत् (इसलिये) एकं (एक उपायको) निश्चित्य (निश्चित करके) वद (कहो) येन (जिसके द्वारा) अहं (मैं) श्रेयः आप्नुयाम् (कल्याणको पा जाऊं)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! यदि कर्मसे ज्ञान-दायिनी समत्वबुद्धि ही तुम्हें अधिक श्रेष्ठ जान पड़ती है तो फिर क्यों मुझे हिंसायुक्त युद्धकार्यमें प्रवृत्त कर रहे हो। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम मिले जुले सन्दिग्धवाक्योंसे मेरी बुद्धिको भ्रममें डाल रहे हो, इस कारण मुझे निश्चित एक उपाय बताओ जिससे मैं कल्याणको प्राप्त कर सकूँ।

चन्द्रिका—जैसा कि अवतरणिकामें कहा गया है श्रीभगवान्के दूसरे अध्यायके उपदेशसे अर्जुनको यही जँचा कि भगवान् कर्मसे बुद्धिकी श्रेष्ठता दिखला रहे हैं। क्योंकि समत्व बुद्धिके द्वारा ही साधक 'आत्मरति' तथा स्थितप्रज्ञ होकर ब्राह्मीस्थितिको पा सकता है, यह श्रीभगवान्का अन्तिम उपदेश था। और जब ऐसा ही है तो कुटुम्बवधरूपी हिंसामय युद्धकार्यमें न पड़ कर बुद्धि और ज्ञानकी सहायतासे ही 'आत्मरति' हो जाना चाहिये यही अर्जुनकी श्रीभगवान्के प्रति उक्ति है। श्रीभगवान्ने पूर्वाध्यायमें 'व्यामिश्र' वाक्य तो कहीं भी नहीं कहा था, उन्होंने प्रथमतः आत्मानात्मविवेकरूपी ज्ञानयोग बता कर अर्जुनको क्षत्रियवर्णोचित युद्धकर्तव्यमें प्रवृत्त किया था और पुनः कर्मयोगका मार्ग बतलाते हुए यही

कहा था कि समत्वबुद्धिके साथ कर्मयोगके करते करते कर्मबन्धनको काट लोगे और स्थितप्रज्ञ होकर ब्राह्मीस्थितिका लाभ करोगे । इसमें सन्देहजनक या बुद्धिका मोहजनक वाक्य कुछ भी नहीं था, केवल अधिकारभेदसे दोनों मार्गोंका वर्णन और अन्तमें दोनों ही का समान फल ब्राह्मीस्थितिका उपदेश था । किन्तु 'बुद्धि' की बार बार प्रशंसा तथा जीवन्मुक्तकी ज्ञानमयी स्थितिके कहनेसे अर्जुनको अपनी स्थिति तथा कर्त्तव्यका ठीक पता न चला, इसलिये घबड़ा कर उन्होंने ऐसा ही कहा। भगवान्ने 'व्यामिश्र' वाक्य नहीं कहा था किन्तु अर्जुनको अपनी बुद्धिके अनुसार ऐसा ही जँचा इसी तात्पर्यके प्रकट करनेके लिये श्लोकमें 'इव' शब्दकी प्रयोग किया गया है । 'जनार्दन' सम्बोधनका यह तात्पर्य है कि तुम इष्टसिद्धिके लिये सकल जीवोंके द्वारा 'अर्दित' अर्थात् प्रार्थित होते हो, मैं भी अपनी इष्टसिद्धिके अर्थ प्रार्थना कर रहा हूं, मुझे ठीक ठीक बताओ । 'केशव' सम्बोधनका यह तात्पर्य है कि तुम केशव अर्थात सर्वेश्वर हो, इस लिये तुम्हारे शिष्यरूपसे शरणागत मेरा भी कल्याणमार्ग तुम्हें बताना चाहिये ॥१-२॥

अब प्रश्नके अनुसार उत्तर दे रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

अन्वय—हे अनघ ! (हे पुण्यात्मा अर्जुन !) अस्मिन् लोके (इस संसारमें) द्विविधा निष्ठा (दो प्रकारके मोक्षमार्ग) मया पुरा प्रोक्ता (मैंने पूर्व अध्यायके उपदेशमें कहे हैं) ज्ञानयोगेन

(ज्ञानयोगके द्वारा) सांख्यानां (ज्ञानमार्गी व्यक्तियोंका) कर्मयोगेन (कर्मयोगके द्वारा) योगिनाम् (कर्मयोगी व्यक्तियोंका)।

सरलार्थ—श्री भगवान्ने कहा—हे निष्पाप अर्जुन! मैंने पूर्व अध्यायके उपदेशमें तुम्हें बताया है कि इस संसारमें मोक्षलाभके दो मार्ग होते हैं, यथा ज्ञानयोगके द्वारा ज्ञानमार्गियोंका और कर्मयोगके द्वारा कर्ममार्गियोंका।

चन्द्रिका—ये ही दो उपाय श्रीभगवान्ने सृष्टिके आदिकालमें भी कहे थे और अर्जुनको भी कहे हैं, इस लिये 'पुरा' शब्दके ये दो ही प्रकारके अर्थ किये जा सकते हैं। अर्जुनको 'अनघ' अर्थात् निष्पाप कह कर ऐसे उत्तम मोक्षप्रद उपदेशमें उनका अधिकार बताया गया है। ज्ञानयोगमें आत्मा अनात्मा विचारकी मुख्यता रहनेसे कर्मकी गौणता है। इसमें केवल शरीररक्षार्थ स्वाभाविक कुछ कर्म रहते हैं। कर्मयोगमें कर्मकी मुख्यता रहती है जैसा कि पहिले कहा गया है। दोनोंमेंसे किसी एक मार्गके द्वारा ही मुमुक्षु अपवर्ग लाभ कर सकता है। इसमें परस्परका साध्य साधन सम्बन्ध नहीं है, केवल मोक्षलाभके लिये दो प्रकारके 'निष्ठा' अर्थात् मार्ग हैं। किन्तु जैसा कि भूमिकामें निर्णय किया गया है दोनोंका समुच्चय रहनेसे परस्पर सहायता द्वारा साधक शीघ्र तथा विघ्नरहित होकर लक्ष्य स्थान पर पहुंच सकता है। यही श्रीभगवान्के दोनों मार्ग बतानेका तात्पर्य है ॥३॥

अब अधिकारानुसार कर्मयोगकी आवश्यकता बता रहे हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

अन्वय—पुरुषः (कोई व्यक्ति) कर्मणां अनारम्भात् (कर्मोंका आरम्भ न करके) नैष्कर्म्यं (निष्कर्मताको) न अश्नुते (नहीं प्राप्त करता है), सन्न्यसनात् एव च (और केवल कर्मत्याग द्वारा भी) सिद्धिं (मोक्षरूपी सिद्धिको) न समधिगच्छति (नहीं पा सकता है)।

सरलार्थ—कर्मका आरम्भ न करके कोई भी निष्कर्मताको नहीं पा सकता है और केवल कर्मत्यागसे भी सिद्धि नहीं मिलती है।

चन्द्रिका—अर्जुनकी शंकाके उत्तरमें श्रीभगवान् अब कर्म करनेकी आवश्यकता क्रमशः बता रहे हैं। कर्मका आरम्भ न करके ही निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती है। श्लोकमें 'नैष्कर्म्य' शब्द योगीकी उस दशाके लिये प्रयोग किया गया है जब कि 'आत्मरति' हो जाने पर उनके लिये कोई कर्मका विधिनिषेध या अवश्यकर्त्तव्यता नहीं रह जाती। यह दशा कर्मके अनारम्भद्वारा नहीं प्राप्त होती है, किन्तु जैसा कि दूसरे अध्यायमें कहा गया है आत्मामें युक्त रह कर सिद्धि असिद्धिमें समभाव रखते हुए वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्यकर्मके नियमित अनुष्ठान द्वारा प्राप्त होती है। किन्तु उस समय भी योगीका एकबारगो ही कर्माभाव नहीं हो जाता, क्योंकि प्रारब्ध भोगके लिये शरीर रहते तक कुछ स्वाभाविक कर्म रहते ही हैं और इसके सिवाय विराटकेन्द्रकी प्रेरणासे जगत्कल्याणकारी कुछ कर्म भी

उनके शरीर द्वारा हो सकते हैं। किन्तु इन कर्म्मोंके साथ योगीका कोई कामनासम्बन्ध न रहनेसे वे कर्म नहीं कहे जा सकते और इसी लिये श्लोकमें उस अवस्थाको नैष्कर्म्यसिद्धिकी अवस्था कही गई है। यही इस श्लोकके प्रथम अर्द्धांशका तात्पर्य है। इसके दूसरे आधे अंशका तात्पर्य यह है कि 'सन्न्यसन्' अर्थात् कोरे कर्मत्यागद्वारा भी सिद्धि नहीं मिलती। क्योंकि जब प्राकृतिक वेग ही कर्म करानेका है तो जबरदस्ती उस वेगको बन्द कर देनेसे कैसे शुभ फल मिल सकता है? उससे तो उलटा वह वेग भीतर भीतर काम करके मनुष्यकी और भी अधोगति करा देगा। इस कारण कोरे कर्मत्यागसे भी सिद्धि नहीं मिल सकती। सिद्धि तो इसी प्राकृतिक वेगको कर्मयोगरूपी कौशलके द्वारा आत्माकी ओर लगानेसे ही क्रमशः मिल सकती है। यही दूसरे अर्द्धांश श्लोकका तात्पर्य है ॥ ४ ॥

अब कोरे कर्मत्यागसे क्यों नहीं सिद्धि या नैष्कर्म्यसिद्धि हो सकती है इसका कारण कह रहे हैं—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अन्वय—हि (क्योंकि) जातु (कभी) क्षणं अपि (क्षणभर भी) कश्चित् (कोई मनुष्य) अकर्मकृत् (कर्म न करके) न तिष्ठति (नहीं रह सकता है), प्रकृतिजैः गुणैः (सत्त्व रज तम रूपी प्राकृतिक गुणोंके द्वारा) हि (क्योंकि) सर्वः (सब लोग) अवशः (विवश होकर) कर्म कार्यते (कर्म कराये जाते हैं)।

सरलार्थ—क्योंकि क्षण भर भी कर्म न करके कोई रह

नहीं सकता। प्राकृतिक तीन गुणोंके द्वारा विवश होकर सबको कर्म करना ही पड़ता है।

चन्द्रिका—सत्व, रज और तम ये तीन प्रकृतिके गुण हैं। इन्हींके परिणामसे सृष्टि होती है, इस लिये प्रत्येक जीवके भीतर तीन गुणके वेग भरे रहते हैं। पूर्व जन्ममें इन तीन गुणोंके द्वारा सुख दुःख मोहात्मक जो कुछ संस्कार बन चुके हैं इन्हींके अनुसार भोगायतन रूपसे वर्त्तमान शरीर मिला है, इस लिये ये ही सब गुण पूर्व संस्कारके अनुसार जीवको अवश्य ही कर्ममें प्रवृत्त करावेंगे। अतः शरीर रहते जब कर्मत्याग होना असम्भव है तो जबरदस्ती ऊपरसे कर्मत्याग कर देने पर भीतरसे कर्म त्याग न होकर उल्टी दुर्दशा ही होगी यही इस श्लोकका तात्पर्य है ॥५॥

वह दुर्दशा क्या होगी, सो बता रहे हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

अन्वय—यः (जो) कर्मेन्द्रियाणि (हस्तपदादि कर्मेन्द्रियोंको) संयम्य (रोक कर) मनसा (मनके द्वारा) इन्द्रियार्थान् (शब्दादि इन्द्रिय विषयोंको) स्मरन् आस्ते (चिन्तन करता रहता है) सः विमूढ़ात्मा (ऐसा मूढ़मति पुरुष) मिथ्याचारः (कपटी) उच्यते (कहलाता है)।

सरलार्थ—कर्मेन्द्रियोंको ऊपरसे रोक कर जो मन ही मन विषयचिन्ता करता रहता है ऐसा मूढ़चित्त पुरुष कपटी या ढोंगी कहलाता है।

चन्द्रिका--'लोग मुझे ज्ञानी कहेंगे, प्रपञ्चरूप कर्ममें क्यों मैं पड़ूं' ऐसा दम्भपूर्ण विचार करके कोई यदि हाथ पांवसे कर्म करना भी छोड़ देवे तो भी क्या होगा ? भीतर तो त्रिगुणमयी प्रकृतिका वेग भरा पड़ा है, हाथ पांवके रोकने पर भी मन तो नहीं रुकता, इस लिये दशा यह होगी कि हाथ पांवके रोकने पर भी मनमें रागद्वेषका चक्कर चलता ही जायगा और अन्तमें ऐसा मनुष्य घोर कपटी तथा ढोंगी बन जायगा। अवश्य जो साधक संयमके अङ्गरूपसे प्रथमतः कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियोंको रोक लेवे और धीरे धीरे मनको भी रोक लेवे वह मिथ्याचार' नहीं कहलाता है, क्योंकि उनका रोकना हठसे नहीं होता है, किन्तु साधनारूपसे ही क्रमशः होता है। किन्तु यहां तो रोकनेका लक्ष्य ही दूसरा है। इस श्लोकमें 'संयम्य' शब्दका अर्थ संयम करना नहीं है, किन्तु हठसे रोकना मात्र है, जिसके फलसे मन तो रुकता नहीं है, उल्टा इन्द्रियोंका वेग और भी बढ़ जाता है, कहीं कहीं अनेक प्रकारके रोग भी हो जाते हैं। अतः ज्ञानी बननेके दम्भसे प्रकृतिके सरल हुए विना इस प्रकार हठात स्थूल इन्द्रियों-का रोकना ठीक नहीं है, अधिकन्तु मिथ्याचार या कपटाचार ही है ॥६॥

इस कपटाचारसे वचनेका उपाय क्या है सो बता रहे हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

अन्वय—हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) यः तु (किन्तु जो पुरुष) इन्द्रियाणि मनसा नियम्य (मनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियोंको संयत

करके) असक्तः (फलाकांक्षा रहित होकर) कर्मेन्द्रियैः (हस्त-पदादि कर्मेन्द्रियोंके द्वारा) कर्मयोगं आरभते (कर्मयोगका अनुष्ठान करता है) सः विशिष्यते (वह श्रेष्ठ है)।

सरलार्थ—किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियोंको संयत करके फलाकांक्षाशून्य हो कर्मेन्द्रियोंकी सहायतासे कर्मयोगका अनुष्ठान करता है वह श्रेष्ठ है।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें मिथ्याचारसे बचनेका उत्तम, सरल, स्वाभाविक उपाय कर्मयोग बताया गया है। इसमें हाथ पांव आदि इन्द्रियोंको जबरदस्ती रोकना नहीं पड़ता है, बल्कि जो कुछ स्थूलप्रकृतिका स्वाभाविक वेग है वह इन अङ्गोंके सञ्चालन द्वारा धीरे धीरे शान्त होने लगता है। दूसरी ओर मनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियोंके संयत करनेसे विषयमें आसक्ति नहीं बढ़ती है, जिससे कामनाशून्य तथा फलासक्तिरहित होकर आत्मामें युक्त हो योगी कर्मयोगका अनुष्ठान कर सकता है और इसका फल 'आत्मरति' तथा ब्राह्मीस्थिति अवश्य ही है। एक ओर कुछ न करने पर भी मिथ्याचार और पापी है, दूसरी ओर सब कुछ करने पर भी पुण्यात्मा, पवित्र और योगी है तथा अन्तमें आत्माका अनन्त आनन्दमय अमृतमय रसास्वादन है, यही कर्मयोगका अनुपम रहस्य है। अतः ऐसा कर्मयोगी अवश्य ही श्रेष्ठ तथा विशिष्ट है॥७॥

रहस्य बता कर अब भक्तको कर्त्तव्यमें लगा रहे हैं—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥८॥

अन्वय—त्वं (तुम) नियतं (वर्णाश्रमके अनुसार विहित) कर्म कुरु (कर्मको करो) हि (क्योंकि) अकर्मणः (कर्म न करनेकी अपेक्षा) कर्म ज्यायः (कर्म करना अच्छा है) अकर्मणः ते (कर्मशून्य रहने पर तुम्हारा) शरीरयात्रा अपि च (शरीरका निर्वाह भी) न प्रसिध्येत् (नहीं चलेगा)।

सरलार्थ—तुम वर्णाश्रमानुसार विहित कर्मोंको करो, क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही अच्छा है। एकदम कर्मशून्य होकर हाथपांव हिलाना बन्द कर देनेसे शरीरका निर्वाह होना भी असम्भव हो जायगा।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें स्वभावके अनुसार कर्मकी अत्यावश्यकता बता कर अर्जुनकी वृत्तिको कर्मकी ओर प्रेरित किया गया है। जीवका स्वभाव ही ऐसा है कि बिना इच्छाके केवल प्रकृतिवेगसे ही बहुत कुछ कर्म करने पड़ते हैं। खाना, पीना, मलमूत्रत्याग करना आदि भी तो कर्म ही है और इनके लिये हाथ पांव हिलाना अवश्य पड़ता है। इस लिये कर्मशून्य होने पर शरीरका निर्वाह होना भी असम्भव हो जायगा और मनुष्य इस संसारमें जीवनधारण नहीं कर सकेगा अतः देहके रहते जब कर्मत्याग नहीं हो सकता है तो जिस वर्णके लिये जो कर्म विहित है उसे ही आसक्तिशून्य होकर कर्त्तव्यबुद्धिसे करते रहना मङ्गलजनक होगा यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥८॥

वर्णाश्रमविहित कर्म ही यज्ञ है अतः इसीका निर्देश कर रहे हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥

अन्वय--यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र (यज्ञके लिये कर्म करनेके अतिरिक्त अन्य कर्म द्वारा) अयं लोकः (कर्म करने वाला मनुष्य) कर्मबन्धनः (कर्मसे बन्धनको पाता है), हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) तदर्थं (यज्ञके अर्थ) मुक्तसङ्गः (आसक्तिरहित होकर) कर्म समाचर (कर्म को किये जाओ)।

सरलार्थ—यज्ञअतिरिक्त कर्मके द्वारा कर्माधिकारी बन्धनको पाता है, इसलिये हे अर्जुन ! तुम आसक्ति छोड़ कर यज्ञके लिये ही कर्म किये जाओ।

चन्द्रिका--इस श्लोकमें 'यज्ञ' शब्दका रहस्य समझने योग्य है। यहां पर केवल वैदिक अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदिको ही यज्ञ नहीं कहा है। यज्ञ शब्दका प्रयोग यहां बहुत ही व्यापक रूपसे हुआ है। मनुष्य प्राक्तन कर्मानुसार जिस वर्णमें, जिस आश्रममें या व्यापकप्रकृतिके जिस अधिकारमें स्थित है, उसीमें प्रतिष्ठित रहनेके अर्थ नित्य कर्त्तव्य रूपसे जो कुछ विहित कर्म करे सभीको यहां पर यज्ञ कहा गया है। इनके नियमित अनुष्ठानसे पतनसे बच कर मनुष्य अनायास ही आत्माकी ओर अग्रसर हो सकता है, इसलिये वर्णाश्रम तथा अधिकारानुकूल कर्मोंका नाम 'यज्ञ' है। ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति सदा ऊपरकी ओर होनेके कारण तथा अंश और पूर्णरूपसे जीवके साथ ब्रह्मका स्वाभाविक सम्बन्ध रहनेके कारण ऊपरकी ओर जीवका खिंचाव स्वाभाविक है। उसी स्वभावके

पथमें 'अविद्या' कण्टक है, किन्तु वर्णाश्रमोचित नित्यकर्म उस कण्टकको हटाकर जीव और ब्रह्मके स्वाभाविक आकर्षण तथा सम्बन्धको बनाये रखता है । इसलिये इन कर्मोंको नियमित रूपसे करते रहने पर जीवकी कदापि अधोगति नहीं हो सकती है और वह अनायास ही आत्माकी ओर धीरे धीरे अग्रसर होने लगता है । यही कारण है कि ये सब कर्म यज्ञ कहे गये हैं । इस लक्षणको और भी उदारताके साथ प्रयोग करने पर 'यज्ञ' शब्दका यही अर्थ निकलेगा कि जिन कार्योंके द्वारा साक्षात् या परम्परा रूपसे जीव परमात्माकी ओर कुछ भी अग्रसर हो सकता है वे सभी 'यज्ञ' कहे जा सकते हैं । अतः गीतामें कथित 'द्रैव्ययज्ञ' 'तपोयज्ञ' 'जपयज्ञ' 'ज्ञानयज्ञ' आदि सभी यज्ञ हैं । इनका सकामभावसे अनुष्ठान स्वर्गादि फलप्रद होनेके कारण परम्परा रूपसे आत्माकी ओर अग्रसर करनेवाला होता है और इनका निष्कामभावसे अनुष्ठान साक्षात्‌रूपसे याज्ञिकको परमात्माके प्राप्तिपथमें ले जाता है । यही कारण है कि श्रीभगवान् अर्जुनको यों कर्म करनेकी अपेक्षा 'यज्ञार्थ' कर्म करनेको कहते हैं और उसमें भी साक्षात्‌रूपसे 'आत्मरति' होनेके लिये 'मुक्तसङ्ग' अर्थात्. फलाकांक्षारहित होकर कर्म करनेको कहते हैं । यही 'यज्ञ' शब्दका गम्भीर तात्पर्य तथा श्रीभगवान्‌के उपदेशका गूढ़ तात्पर्य है ॥९॥

अब समष्टि व्यष्टि विचारसे जगच्चक्रके साथ यज्ञका स्वाभाविक सम्बन्ध बता रहे हैं —

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

अन्वय —पुरा (सृष्टिके आदिमें), प्रजापतिः (ब्रह्माने) सहयज्ञाः (यज्ञके साथ) प्रजाः (ब्राह्मणादि प्रजाओंको) सृष्ट्वा (उत्पन्न करके) उवाच (कहा) अनेन (इस यज्ञके द्वारा) प्रसविष्यध्वं (वृद्धिको पाते रहो) एषः (यह यज्ञ) वः (तुम्हारा) इष्टकामधुक् (चाहे हुए फलका देनेवाला) अस्तु (हो)। अनेन (यज्ञके द्वारा) देवान् (देवताओंको) भावयत (तृप्त तथा सम्वर्द्धित करो) ते देवाः (ये देवतागण) वः (तुम्हें) भावयन्तु (सम्वर्द्धित करें), परस्परं भावयन्तः (इस तरह परस्पर सम्वर्द्धन करते हुए) परं श्रेयः (विशेष कल्याणको) अवाप्स्यथ (प्राप्त करोगे)।

देवाः (देवतागण) यज्ञभाविताः (यज्ञसे तृप्त होकर) इष्टान् हि भोगान् (इच्छित भोगोंको) वः (तुम्हें) दास्यन्ते (देंगे) तैः दत्तान् (देवताओंके द्वारा दी हुई वस्तुओंको) एभ्यः (देवताओंको) अप्रदाय (यज्ञादिरूपसे न देकर) यः भुङ्क्ते (जो स्वयं उपभोग करता है) सः स्तेनः एव (वह चोर है)। यज्ञशिष्टाशिनः (यज्ञ शेष भोजन करनेवाले) सन्तः (सत्पुरुषगण) सर्वकिल्बिषैः (सकल पापोंसे) मुच्यन्ते (मुक्त होते हैं) ये तु (किन्तु जो लोग) आत्मकारणात् (अपने ही लिये) पचन्ति (भोजन बनाते हैं) ते पापाः (ऐसे दुरात्मागण) अघं भुञ्जते (पाप भक्षण करते हैं)। भूतानि (जीवगण) अन्नात् भवन्ति (अन्नसे उत्पन्न होते हैं) पर्जन्यात् (मेघकी वृष्टिसे) अन्नसम्भवः (अन्नकी उत्पत्ति होती है) पर्ज्जन्यः (वृष्टि) यज्ञाद् भवति (यज्ञसे होती है) यज्ञः कर्मसमुद्भवः (यज्ञ ऋत्विक यजमानादिके द्वारा किये हुए वैदिककर्मसे होता है) कर्म (कर्मको) ब्रह्मोद्भवं (प्रकृतिसे उत्पन्न) विद्धि (जानो) ब्रह्म (प्रकृति) अक्षरसमुद्भवं (परमात्मासे उत्पन्न है), तस्मात् (इसलिये) सर्वगतं ब्रह्म (सर्वव्यापक परमात्मा) नित्यं (सदा) यज्ञे प्रतिष्ठितम् (यज्ञमें अधिष्ठान करते हैं)। हे पार्थ! (हे अर्जुन!) एवं (इस प्रकारसे) प्रवर्त्तितं (ईश्वरके चलाये हुए) चक्रं यः इह न अनुवर्त्तयति (कर्मचक्र या यज्ञचक्रके अनुसार जो इस संसारमें नहीं चलता है) अघायुः (पापजीवन) इन्द्रियारामः (इन्द्रियलम्पट) सः मोघं जीवति (वह वृथा ही जीवन धारण करता है)।

सरलार्थ—प्रजापति ब्रह्माने सृष्टिके आदिकालमें यज्ञसहित प्रजाको उत्पन्न करके उन्हें कहा कि तुम सब यज्ञके द्वारा वृद्धिको पाते रहो, यज्ञ ही तुम्हारा इष्टफलदाता हो जाय। तुम यज्ञद्वारा देवताओंको तृप्त करो और देवतागण अन्नादि द्वारा तुम्हें तृप्त करें, इस प्रकार परस्पर सम्वर्द्धनसे तुम परमकल्याणका लाभ करोगे। देवतागण यज्ञसे तृप्त हो तुम्हें इच्छित भोगोंका प्रदान करेंगे, उनको दी हुई वस्तुओंको उन्हें न समर्पण कर जो स्वयं भोजन करता है वह देवधन हरण-कारी चोर है। यज्ञमें देवताओंको अन्न देकर प्रसादभोजन करनेसे मनुष्य सकल पापसे मुक्त होता है, जो केवल अपने ही लिये अन्नपाक करता है, वह दुरात्मा पाप भोजन करता है। अन्न अर्थात् अन्न परिणामसे उत्पन्न रस रक्त वीर्य द्वारा जीवकी उत्पत्ति होती है, वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है, यज्ञ वैदिक कर्ममूलक है, कर्म प्रकृतिके त्रिगुणमय कम्पनसे होता है और प्रकृति ब्रह्मसे होती है, इसलिये क्रम-विचारसे सर्वव्यापी परमात्मा सदा यज्ञमें अधिष्ठान करते हैं, यही सिद्ध हुआ। हे अर्जुन! परमात्माके द्वारा इस प्रकार चलाये हुए कर्मचक्रके अनुसार जो नहीं चलता है, उसका जीवन पापमय तथा वह केवल इन्द्रियलम्पट है, संसारमें उसका रहना ही व्यर्थ है।

चन्द्रिका—महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है "अनुयज्ञं जगत् सर्वं

यज्ञदचानुजगत् सदा" अर्थात् यज्ञके पीछे जगत् है और जगत्के पीछे यज्ञ है। देवताओंने प्रथम यज्ञ करके तब सृष्टि की थी और जगत् भी यज्ञके द्वारा ही देवताओंका सत्कार करता है। इस प्रकारसे यज्ञ द्वारा कर्मके चालक देवताओंके साथ जीवजगत्का सम्बन्ध बना रहता है। यही महाभारतके इस श्लोकार्द्धका तात्पर्य है। कोई क्रिया शक्तिके बिना नहीं चलती, यज्ञद्वारा अपूर्व दैवशक्ति उत्पन्न होती है जिसके बलसे सृष्टिक्रिया चल सकती है, इसलिये सृष्टिके पहिले यज्ञ करनेकी तथा प्रत्येक शुभकार्यके पहिले यज्ञ हवनादि करनेकी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि देवताओंने यज्ञ करके ही सृष्टि रची थी और प्रजापतिने भी 'सहयज्ञाः' अर्थात् यज्ञके साथ ही प्रजाकी उत्पत्ति की। जो शक्ति आदिमें सृष्टिको उत्पन्न कर सकती है, वही बीचमें भी सृष्टिकी रक्षा तथा उन्नति भी करा सकती है, इसीलिये सृष्टिकी रक्षा तथा उन्नतिके लिये सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने प्रजाको यज्ञ ही करनेको कहा और यज्ञद्वारा कर्मके प्रेरक देवताओंको सम्बर्द्धित करनेकी आज्ञा दी। प्रत्येक गृहस्थके नित्यनैमित्तिक कर्मके अन्तर्गत ऐसे अनेक यज्ञ रक्खे गये हैं जिनके नित्य अनुष्ठानसे केवल देवताओंके साथ ही नहीं अधिकन्तु समस्त विश्वमें व्याप्त परमात्माकी अनेक विभूतियोंके साथ अनायास अधिदैव सम्बन्ध स्थापन करके मनुष्य परम कल्याणका अधिकारी हो सकता है। दृष्टान्तरूपसे पञ्चमहायज्ञको समझ सकते हैं। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ ये पांच महायज्ञ द्विजमात्रके नित्यकर्म हैं। वेद तथा शास्त्रका नित्य पाठ करना ब्रह्मयज्ञ है जिससे ऋषियोंके साथ मनुष्योंका सम्बन्धस्थापन तथा उनकी तृप्ति होती है। हवनसे देवयज्ञ, तर्पणसे पितृयज्ञ, पशुपक्षियोंको अन्न देनेसे भूतयज्ञ

और अतिथिको नारायण समझकर भोजन देनेसे नृयज्ञ साधन होता है। इन पांच यज्ञोंके द्वारा अपने ऊपरकी ऋषि, देव, पितृ ये तीन विभूति, अपने नीचेकी पश्वादि योनिमें व्याप्त विभूति तथा मनुष्यमें व्याप्त नारायणकी विभूति सबके साथ गृहस्थ सम्बन्ध कर सकता है। यही एक विश्वव्यापी 'चक्र' है जिसका 'अनुवर्त्तन' करनेसे न केवल 'खाने पीने चलने फिरने' आदिमें जो नित्य जीवहिंसा होती है जिसको धर्मशास्त्रमें 'पञ्चसूना' दोष कहा गया है, उससे गृहस्थ बच जाता है, अधिकन्तु 'देवता ऋषि पितर' आदिके साथ 'परस्पर भावना' द्वारा इहलोक परलोकमें परम कल्याणको प्राप्त कर सकता है। यही गीतोक्त 'यज्ञशेष भोजन द्वारा पापनाश' तथा 'परस्पर भावना' द्वारा 'परमश्रेयःप्राप्ति' शब्दोंका तात्पर्य है। जब कर्मके चालक देवताओंकी कृपासे ही अन्न मिलता है तो उनको प्रथम 'निवेदन' न करके खाना 'मनुष्यत्व' तथा 'कृतज्ञता' नहीं है। इस लिये ऐसे स्वार्थी इन्द्रियसेवी जन देवधनहरणकारी 'चोर' तथा 'पापी' कहे गये हैं। वेदमें भी 'केवलाघो भवति केवलादी' अर्थात् केवल अपने लिये पाक करनेवाले पापी होते हैं ऐसा कह कर भगवद्वाक्यकी ही पुष्टि की गई है। इतना कह कर पुनः श्रीभगवान्ने 'यज्ञचक्र' द्वारा अन्नसे ब्रह्म तकका सम्बन्ध बताया है। अन्नरसके द्वारा वीर्यादि बन कर प्रजाकी उत्पत्ति होती है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। मनुसंहितामें लिखा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा॥

अग्निमें हवन करने पर वह आहुति सूर्यदेवताको प्राप्त होती है और सूर्यदेवताकी कृपासे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है।

अतः यज्ञसे प्रजाका विशेष सम्बन्ध हुआ। यज्ञ वैदिककर्मके द्वारा होता है, कर्म प्रकृतिके त्रिगुण परिणामसे होता है और प्रकृति ब्रह्मकी शक्तिस्वरूपिणी है, यथा श्वेताश्वतर श्रुतिमें—'यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिः' अर्थात् विश्वको प्रसव करनेवाली प्रकृति परमात्मासे ही प्रकट होती है। अतः 'यज्ञचक्र' द्वारा अन्नसे लेकर ब्रह्मपर्यन्त सभीका परस्पर सम्बन्ध है। जब यह सम्बन्ध नित्य तथा प्राकृतिक है तो अपने अपने वर्णाश्रमोचित नित्यनैमित्तिक कर्मरूपी यज्ञके द्वारा इस सम्बन्धको बनाये रखना ही उन्नतिका कारण हो सकता है और इसको छोड़ कर केवल इन्द्रियसेवामें रत पुरुषका जीवन ही व्यर्थ है इसमें क्या सन्देह है। इस कारण कर्मत्याग न करके निष्काम-बुद्धिसे वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्योंको करते रहना ही सर्वथा उचित है यही उपदेश श्रीभगवान्ने अर्जुनको प्रदान किया॥१०—१६॥

अब इस चक्रका दायित्व कब तथा किस अधिकारमें जीवको नहीं रहता है सो ही बता रहे हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

अन्वय—यः तु मानवः (किन्तु जो मनुष्य) आत्मरतिः (आत्मामें रमण करने वाला) आत्मतृप्तः (आत्माके रमणसे ही तृप्त) आत्मनि एव सन्तुष्टः च (और आत्मामें ही सन्तुष्ट) स्यात् (रहता है) तस्य (उसका) कार्यं न विद्यते (कोई कर्त्तव्य

नहीं रहता है) । इह (संसारमें) कृतेन (करनेमें) तस्य (उसका) अर्थः न एव (कोई प्रयोजन नहीं रहता है) अकृतेन (न करनेमें) कश्चन न (कोई भी हानि नहीं रहती है), च (तथा) अस्य (उसका) सर्वभूतेषु (सकल जीवोंमें) कश्चित् (किसी प्रकारका) अर्थव्यपाश्रयः (प्रयोजन सम्बन्ध) न (नहीं रहता है) ।

सरलार्थ--किन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रत, आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है उसका संसारमें कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है । उनका न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है और न न करनेसे ही कोई हानि होती है तथा समस्त जीवोंके साथ उनका कोई प्रयोजन सम्बन्ध भी नहीं रहता है ।

चन्द्रिका--कर्मचक्र या यज्ञचक्रके साथ लौकिक जीवोंका स्वाभाविक सम्बन्ध बताकर अब किस उन्नत अलौकिक दशामें जीव उससे तथा उसके विधिनिषेधसे परे हो सकता है सो ही इन दोनों श्लोकोंके द्वारा बताया गया है । संसारका सभी कर्त्तव्य मनुष्योंका तभी तक रहता है, जब तक किसी भी भावसे उसके किसी अङ्गके साथ मनुष्यका अभिमान या अभिनिवेश सम्बन्ध बना हुआ है । स्थूल सूक्ष्म शरीरके साथ 'मैं मेरा' अभिमान, परिवारके साथ ममत्वाभिमान, वर्णाभिमान, आश्रमाभिमान आदि प्रवृत्तिमूलक अभिमानोंसे ही उन उन भावोंमें कर्त्तव्य तथा दायित्वका उदय होता है । इस कारण जब साधक इन अभिमानोंको छोड़ कर इनसे परे विराजमान आत्मामें ही 'रमण' करने लगता है,

बाह्यविषयोंके साथ रमण या सम्बन्धको बिलकुल ही त्याग देता है, उसी रमणमें ही उसको परमा 'तृप्ति' मिलती है, जिससे बाह्यविषयकी कुछ भी अपेक्षा या चाह न रखता हुआ वह आत्मामें ही 'सन्तुष्ट' रह सकता है, तब संसारके साथ उसका कोई भी कर्त्तव्य सम्बन्ध नहीं रह जाता है। वह प्रवृत्ति मार्गके विधिनिषेधसे सर्वथा अतीत हो जाता है। ऐसे आत्माराम मुक्तात्मा पुरुषका किसीके साथ कोई मतलब ही नहीं रहता है, उसको न कुछ करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है और न करनेके अभावमें ही कुछ प्रत्यवाय रहता है। क्योंकि वे इन सब द्वन्द्वोंसे परे ही रहते हैं। किन्तु इसके द्वारा यह नहीं सिद्धान्त करना चाहिये कि ऐसे आत्माराम मुक्तात्मा पुरुष कुछ करते ही नहीं। मुक्तात्मा पुरुष दो प्रकारसे कर्म करते हैं—एक प्रारब्धके वेगसे और दूसरा विराट केन्द्रकी प्रेरणासे। जिन कर्मोंके भोगार्थ उनको शरीर मिला था, मुक्त होने पर भी विना भोगे वे कर्म समाप्त नहीं हो सकते। इस लिये शास्त्रमें लिखा है—'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' अर्थात् प्रारब्ध कर्मका भोगद्वारा ही क्षय होता है। इसी प्रारब्धभोगके लिये मुक्तात्माको कर्म करना पड़ता है। इन कर्मोंमें भी तारतम्य रहता है। सांख्ययोगके आश्रयसे जो पुरुष मुक्त हुए हैं, उनका प्रारब्ध थोड़ा रहता है, इसलिये मुक्तावस्थामें स्नान भोजन आदिके अतिरिक्त विरल ही वे कुछ कर्म करते हैं। किन्तु कर्मयोगके द्वारा जो पुरुष मुक्तिलाभ करते हैं उनके प्रारब्ध संस्कारमें कर्मका वेग अधिक रहनेसे उनके द्वारा प्रारब्धभोगरूपसे अनेक कर्म होते हैं। द्वितीयतः ऐसे पुरुषका केन्द्र यदि अनुकूल हो तो उस देशकालके उपयोगी जगत्कल्याणकर अनेक कर्म ईश्वरकी प्रेरणासे उनके द्वारा अनायास ही

होते हैं। श्रीभगवान् शङ्कराचार्य, महर्षि याज्ञवल्क्य आदि ऐसी ही कोटिके मुक्तात्मा थे, जिनके द्वारा संसारमें धर्मरक्षाके अर्थ कितने ही महान् अलौकिक कर्म हो गये हैं। किन्तु वे सभी कर्म उनके द्वारा 'अनायास' होते हैं। इनमें उनकी व्यक्तिगत इच्छाशक्ति कुछ भी नहीं रहती है। इसीलिये श्रीभगवान्ने कहा है कि उनका संसारके साथ कोई 'कर्त्तव्य' नहीं रहता है। यही इन दोनों श्लोकोंका तात्पर्य है ॥१७-१८॥

आत्माराम पदवीका रहस्य बताकर अब उसकी प्राप्तिका उपाय बता रहे हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

अन्वय—तस्मात् (इसलिये) असक्तः (आसक्तिरहित होकर) सततं (सदा) कार्यं कर्म (वर्णाश्रमविहित कर्त्तव्य कर्म-को) समाचर (किये जाओ) हि (क्योंकि) पूरुषः (मनुष्य) असक्तः (आसक्तिरहित होकर) कर्म आचरन् (कर्म करता हुआ) परं (परमपदको) आप्नोति (प्राप्त करता है)।

सरलार्थ—इसलिये आसक्ति छोड़कर सदा वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्यकर्मको करते रहो, क्योंकि ऐसे विहित कर्त्तव्यको करता हुआ ही मनुष्य परमगतिको प्राप्त करता है।

चन्द्रिका—कर्मचक्रके प्राकृतिक होनेसे उसका छोड़ना असम्भव तथा अवनतिकर है, अन्य पक्षमें निष्कामभावसे वर्णाश्रमविहित इसी कर्मको करता हुआ योगयुक्त पुरुष अन्तमें आत्मरति होकर कर्मचक्रसे

परे तथा परमपद पर स्थित हो सकता है, जिस समय संसारके साथ उस मुक्तात्मा 'आत्मरति' योगीका कोई कर्त्तव्य सम्बन्ध नहीं रह जाता है और वह केवल प्रारब्ध वेगसे या भगवत्प्रेरणासे ही अनायास कर्म कर सकता है, अतः अर्जुनको भी फलाफलमें आसक्तिरहित होकर क्षत्रिय-वर्णोचित अपने कर्त्तव्यका पालन करना चाहिये और इसीसे अंतमें अर्जुन-को परमगति प्राप्त होगी यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥१९॥

दृष्टान्त द्वारा इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन कर रहे हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥२०॥

अन्वय—जनकादयः (जनक आदि श्रेष्ठ पुरुषगण) कर्मणा एव हि (कर्मके द्वारा ही) संसिद्धिं आस्थिताः (मोक्षको पा गये हैं), लोकसंग्रहं एव अपि संपश्यन् (लोगोंको स्वधर्ममें प्रवृत्त करनेका प्रयोजन देखकर भी) कर्त्तुं अर्हसि (तुम्हें कर्म करना चाहिये)।

सरलार्थ—जनक, अश्वपति, अजातशत्रु आदि श्रेष्ठ पुरुषोंने कर्मके द्वारा ही मोक्ष लाभ किया है । इसके सिवाय लोकसंग्रह अर्थात् मनुष्योंको स्वधर्ममें प्रवृत्त करनेका प्रयोजन जान कर भी तुम्हें कर्म करना चाहिये ।

चन्द्रिका—श्रीभगवान्‌में युक्त रह कर फलाफलमें समत्वबुद्धिके साथ कर्मयोगका अनुष्ठान करनेसे अन्तमें मोक्षलाभ होता है इसके

दृष्टान्त जनक, अश्वपति, अजातशत्रु आदि मुक्तात्मागण हैं। वे सब मोक्षलाभसे पहिले भी योगरूपसे निष्काम कर्मका अनुष्ठान करते थे और जीवन्मुक्त अवस्थामें प्रारब्धक्षय तथा भगवत्प्रेरणाद्वारा जगत्कल्याणमें रत रहते थे। अतः अर्जुनको भी योगयुक्त होकर राजर्षि जनकादिके आदर्श पर अपने वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्यका पालन करना चाहिये। इसके सिवाय 'लोकसंग्रह' भी श्रेष्ठ पुरुषोंकी कर्मप्रवृत्तिका दूसरा कारण है। साधारण मनुष्यगण जिससे कुमार्गमें न पड़ जांय, किन्तु अपने धर्ममें ही बने रहें, उसको लोकसंग्रह कहते हैं। इस लोकसंग्रहके विचारसे भी श्रेष्ठ पुरुष चाहे वे मुक्त हों या न हों कर्म करते हैं, यही श्रीभगवान्‌के कथनका उद्देश्य है ॥२०॥

क्यों ऐसा करना होता है इसीका कारण बता रहे हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥२१॥

अन्वय—श्रेष्ठः (श्रेष्ठ पुरुष) यत् यत् आचरति (जो जो आचरण करते हैं) इतरः जनः (लौकिक साधारण मनुष्य) तत् तत् (वैसा ही वैसा आचरण करता है)। सः (श्रेष्ठ पुरुष) यत् (जो कुछ) प्रमाणं कुरुते (प्रमाणरूपसे बताते हैं) लोकः (साधारणजन) तत् अनुवर्त्तते (उसीके अनुसार चलते हैं)।

सरलार्थ—श्रेष्ठ पुरुष जैसे जैसे आचरण करते हैं इतरजन ऐसे ही ऐसे करने लगते हैं। जिन आचरणोंको श्रेष्ठ पुरुष प्रमाणरूपसे बताते हैं उन्हींके अनुसार लौकिक मनुष्य चलते हैं।

चन्द्रिका—श्रेष्ठ पुरुष लौकिक जीवोंके पथप्रदर्शक हैं। लौकिक जीवोंमें स्वयं विचार कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्णयकी शक्ति कम होनेके कारण वे सदा बड़ोंका ही अनुसरण करते हैं। इसलिये बड़ोंको सावधान होकर सदा ऐसा ही आचरण करना चाहिये जिससे आदर्श न बिगड़े, बड़ोंके बुरे आदर्शको देख कर छोटे खोटे रास्ते पर न चल पड़ें, किन्तु अपने ही धर्ममें बने रहें, इसीका नाम 'लोकसंग्रह' है। जब बड़ेको भगवान्ने बड़ा बनाया है तो संसारके प्रति उनका स्वाभाविक कर्त्तव्य यह है कि अपने बड़प्पनको बनाये रक्खें, नहीं तो उनके अनुचित आचरणको देख कर यदि छोटे बिगड़ें तो उसका प्रत्यवाय बड़ेको अवश्य ही लगेगा और वे पापभागी होंगे। अतः श्रेष्ठजनके आदर्श बिगड़ने पर जब लौकिकजन तथा श्रेष्ठजन दोनोंकी ही विशेष हानि तथा संसारकी हानि है, तो लोकसंग्रहार्थ प्रमाणरूपसे श्रेष्ठपुरुषोंको उत्तम आदर्श स्थापन अवश्य ही करना चाहिये और अर्जुन जैसे आदर्श पुरुषको इसी लोकसंग्रहके लिये वर्णाश्रमविहित कर्मयोगका अनुष्ठान अवश्य ही कर्त्तव्य है यही श्रीभगवान्के उपदेशका निष्कर्ष है ॥२१॥

अब अपने ही दृष्टान्त द्वारा इसी कर्त्तव्यकी ओर अर्जुनका ध्यान दिला रहे हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! (अर्जुन !) मे (मेरा) त्रिषु लोकेषु (तीन लोकोंमें) किञ्चन (कुछ भी) कर्त्तव्यं न अस्ति (कर्त्तव्य नहीं है) अनवाप्तं (कोई अप्राप्त वस्तु) अवाप्तव्यं न (पाने लायक भी नहीं है) कर्मणि वर्त्ते एव (तौभी मैं कर्म करता रहता हूं)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) यदि अहं जातु (यदि मैं कदाचित्) अतन्द्रितः (आलस्य छोड़ कर) कर्मणि न वर्त्तेयं (कर्मानुष्ठान न करूं) मनुष्याः (संसारके लोग) सर्वशः (सब प्रकारसे) मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते (मेरे ही पथका अनुसरण करेंगे)। चेत् (यदि) अहं (मैं) कर्म न कुर्य्यां (कर्म न करूं तो) इमे लोकाः उत्सीदेयुः (ये सब लोक नष्ट हो जायेंगे), संकरस्य च (और ऐसा होने पर मैं वर्णसङ्करका) कर्त्ता स्यां (कर्त्ता होऊंगा) इमाः प्रजाः उपहन्याम् (इन प्रजाओंके नाशका भी कारण हो जाऊंगा)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! इन तीनों लोकोंमें मेरा कोई भी कर्त्तव्य नहीं है और न कोई अप्राप्त वस्तुका प्राप्त करना ही है, तथापि मैं कर्म करता रहता हूं। क्योंकि हे अर्जुन ! यदि मैं अनलस होकर कदाचित् काम न करूं, तो सब मनुष्य मेरे ही आदर्शका अनुसरण करते हुए कर्म करना छोड़ देंगे। जिससे कर्मनाशसे धर्मनाश होकर प्रजाओंका नाश होगा, वर्णसङ्कर

उत्पन्न होंगे और मैं ही इस प्रकारसे प्रजानाश तथा वर्णसंकरोत्पत्तिका कारण कहलाऊंगा।

चन्द्रिका—पूर्व श्लोकोंमें यही सिद्धान्त निश्चय हुआ है कि आत्मरति तथा आत्मतृप्त हो जाने पर कुछ कर्त्तव्य नहीं रहता है। अतः श्री भगवान् जब स्वयं ही आत्मस्वरूप हैं तो संसारमें उनके लिये कर्त्तव्य क्या रह सकता है? किसी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिये स्पृहा होने पर भी जीव कर्म करने लगता है। किन्तु 'आप्तकाम' भगवान्में तो इस प्रकार स्पृहाकी ही सम्भावना नहीं हो सकती, अतः त्रिकालमें उनका कोई कर्त्तव्य भी नहीं रह सकता। तथापि वे अपने अवतारकालमें क्यों कर्म करते हैं सो ही इन श्लोकोंमें बताया गया है। संसारमें साधारण जीव श्रेष्ठ पुरुषोंके ही आदर्शका अनुसरण करते हैं, भगवान् तो सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः उनके आचरणोंका अनुसरण करना लौकिक जीवोंके लिये स्वाभाविक है। यही कारण है कि बड़े बड़े भगवान् रामचन्द्र आदि अवतारोंने भी लौकिक मर्यादाओंका भङ्ग नहीं किया था। श्रीभगवान् कृष्णने पूर्णावतार होने पर भी क्षत्रिय शरीर होनेके कारण युधिष्ठिरके यज्ञमें ब्राह्मणोंके चरण धोनेका काम किया था और सर्वज्ञ होने पर भी लौकिक मर्यादाके अनुसार सान्दीपनी मुनिका शिष्यत्व ग्रहण करके उनके पास विद्या पढ़ी थी और गुरुदक्षिणारूपसे उनके मृतपुत्रको जिला दिया था। ये ही सब उनके लौकिक आदर्श स्थापनके दृष्टान्त हैं। उनके इस प्रकार कर्म करनेका कारण यही है कि उनके कर्म त्याग कर देने पर उसी आदर्शका अनुकरण करता हुआ संसार भी कर्मत्याग कर देगा। वर्णाश्रमविहित नित्यनैमित्तिक कर्मोंका इस प्रकार लोप हो जानेसे संसारमें धर्मनाश होगा

और धर्मनाशसे प्रजानाश तथा वर्णसंकर प्रजाकी उत्पत्ति होगी, जिसका क्या क्या राष्ट्रनाशकारी विषमय परिणाम होगा सो प्रथमाध्यायमें पहिले ही बताया जा चुका है, और उनके ही अनुचित आदर्शके अनुकरण द्वारा ऐसी पापमयी स्थिति होनेके कारण वे ही इन सबके लिये 'जिम्मेवार' समझे जायेंगे, जो कि संसारके लिये बहुत ही हानिकारक होगा। अतः कर्त्तव्य न रहने पर भी केवल लोकसंग्रहके लिये स्वयं श्रीभगवान् तकको जब कर्म करना पड़ता है तो कर्त्तव्यके शृङ्खलामें सर्वथा बद्ध अर्जुनको अपना क्षत्रियवर्णोचित कर्त्तव्य अवश्य ही करना चाहिये इसमें व्यक्तिगत, जातिगत तथा लोकगत सभी प्रकारका कल्याण है यही श्रीभगवान्का निज दृष्टान्त द्वारा उनके प्रति तथा समस्त संसारके प्रति गम्भीर उपदेश है। 'पार्थ' इस सम्बोधनका यही तात्पर्य है कि तुम भी मेरे जैसे पवित्र क्षत्रियकुलोद्भव हो, इसलिये तुम्हें मेरे ही जैसा आचरण करना चाहिये। यहां पर इतना अवश्य ध्यान देने योग्य है कि लौकिक जीव भगवद्-वतारोंके लौकिक आदर्शोंका ही अनुकरण कर सकते हैं। उनके अलौकिक कार्योंका अनुकरण लौकिक जीवोंको कदापि नहीं करना चाहिये यथा श्रीमद्भागवतमें—

> नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
> विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥

अर्थात् अनीश्वर लौकिक जीवोंको अलौकिक ईश्वरके अलौकिक आचरणों-का अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार विषपान करने पर भी महेश्वर नीलकण्ठ ही हुए थे, किन्तु लौकिक जीव यदि विषपान करेगा तो उसका प्राण ही निकल जायगा ठीक उसी प्रकार लौकिक जीव यदि

मूर्खतासे श्रीभगवान् या भगवदवतारोंके अलौकिक चरित्रोंका अनुकरण करेगा तो शक्तिहीनताके कारण नाशको ही पावेगा, कोई मङ्गल या लाभ नहीं पावेगा। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके गोपीवस्त्रहरण, रासलीला, असंख्य पत्नी संग्रह, आदि ऐसे ही अलौकिक आचरण तथा चरित्र चर्चाके दृष्टान्त हैं, जिनके विषयमें लौकिक जनोंको अपने अपने अधिकारके अनुसार सावधान ही रहना चाहिये ॥ २२–२४ ॥

अब लोकसंग्रहार्थ कर्म किस रीतिसे करना चाहिये सो ही बता रहे हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ! ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

अन्वय—हे भारत ! (हे अर्जुन !) कर्मणि सक्ताः (कर्ममें फलाकांक्षा द्वारा आसक्त) अविद्वांसः (अज्ञानी पुरुषगण) यथा कुर्वन्ति (जिस प्रकारसे कर्म करते हैं) लोकसंग्रहं चिकीर्षुः (लोकसंग्रहकी इच्छा रखनेवाले) विद्वान् (ज्ञानी पुरुष) असक्तः (आसक्ति रहित होकर) तथा कुर्यात् (उसी प्रकारसे कर्मानुष्ठान करें)। कर्मसङ्गिनां अज्ञानां (कर्ममें आसक्त अज्ञजनोंका) बुद्धिभेदं न जनयेत् (बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये), विद्वान् (ज्ञानी पुरुष) युक्तः (योगयुक्त होकर) सर्वकर्माणि

समाचरन् (सब कर्मोंको करते हुए) याजयेत् (अज्ञजनोंको व संमार्गमें प्रवृत्त रक्खें)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! कर्ममें आसक्त अज्ञानी पुरुषगण जिस प्रकारसे कर्म करते हैं, ज्ञानी पुरुषको आसक्ति छोड़ कर केवल लोकसंग्रहकी इच्छासे इसी प्रकारसे कर्म करना चाहिये। कर्मासक्त अज्ञानियोंका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये, बल्कि विद्वान् जनको योगयुक्त होकर स्वयं सब कर्म करते हुए उन्हें कर्ममार्गमें प्रवृत्त रखना चाहिये।

चन्द्रिका—लौकिक जीव कर्ममार्गसे च्युत होकर भ्रष्ट न हो जांय इस विचारसे उन्हें कर्त्तव्यपथमें दृढ़ रखनेके अर्थ विद्वान् पुरुषोंको पथप्रदर्शकरूपसे कर्मका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये। इस प्रकारसे विद्वान् अविद्वान् दोनोंके द्वारा कर्मानुष्ठान देखे जाने पर भी दोनोंके भावमें यही भिन्नता रहेगी कि विद्वान् पुरुष आसक्तिरहित होकर केवल लोकसंग्रहार्थ कर्म करेंगे और अविद्वान् लौकिक मनुष्य लौकिक वासनादि द्वारा प्रेरित होकर कर्म करेंगे। विद्वानोंमें भी अमुक्त विद्वान् लोकसंग्रह-कार्यको अपना सामाजिक या जातिगत कर्त्तव्य समझ कर करेंगे और मुक्तात्मा विद्वान् कर्त्तव्य न रहने पर भी श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रकी तरह विराटकी प्रेरणासे जगत् कल्याणके लिये करेंगे। किन्तु मुक्त अमुक्त सभी विद्वानोंको कर्म करना होगा। क्योंकि ऐसा न होनेसे लौकिक जनोंका 'बुद्धिभेद' हो सकता है, जो कि विद्वानोंके लिये कर्त्तव्य नहीं है। किसीके अधिकारविरुद्ध बात करने या आचरण करने-

को 'बुद्धिभेद' कहते हैं। जैसा कि अज्ञानी तथा कर्ममार्गके अधिकारी जनोंके पास यदि ज्ञानी पुरुष कर्मत्यागका उपदेश करें या स्वयं कर्मत्याग कर देवें तो अज्ञानी जनोंका बुद्धिभेद हो जायगा वे यही समझ लेंगे कि जब उनके बड़े ज्ञानी जन कर्म नहीं करते तो उनके आदर्शानुसार कर्मत्याग ही कर देना चाहिये, इत्यादि। इस प्रकारसे बुद्धिभेद होने पर कर्ममें फलाकांक्षा द्वारा आसक्त पुरुषोंकी हानि होगी और वे कर्मच्युत होकर न इधरके रहे न उधरके। इसीलिये हैं श्रीभगवान् उपदेश करते हैं कि कर्मासक्त पुरुषोंको एकबारगी कर्मसे हटा देना नहीं चाहिये, उन्हें कर्ममार्गमें ही प्रवृत्त करके उसमें भावशुद्धिका उपदेश मिला देना चाहिये ताकि धीरे धीरे कर्माधिकारिगण कर्म करते हुए भी उसमें आसक्त न होकर कर्मबन्धनसे छूट जांय और निष्काम कर्मयोगके विमल आनन्दको प्राप्त कर सकें और इस प्रकारसे लोकसंग्रहके लिये विद्वान् जनको योगयुक्त होकर स्वयं कर्म करना होगा। और उन्हें कर्ममार्गमें विधिके साथ प्रवृत्त करना होगा, क्योंकि स्वयं कर्म न करके केवल उपदेशके द्वारा ज्ञानी जन इसमें कृतकार्य नहीं हो सकते ॥२५–२६॥

अब गुणविचार तथा प्रकृतिविचारसे इसी विज्ञानको और भी स्पष्टरूपसे कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो! गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

अन्वय—प्रकृतेः गुणैः (प्रकृतिके तीन गुणोंके द्वारा) सर्वशः (सब प्रकारसे) क्रियमाणानि कर्माणि (किये जाने वाले कर्मोंको) अहंकारविमूढ़ात्मा (अहंकारसे मूढ़बुद्धि पुरुष) अहं कर्त्ता इति (मैं करता हूं ऐसा) मन्यते (समझता है)। तु (किन्तु) हे महाबाहो! (हे अर्जुन!) गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् (गुण और कर्म आत्मासे विभिन्न है इस तत्त्वका जानने वाला) गुणाः गुणेषु वर्त्तन्ते (गुण गुण ही में रहते हैं आत्मामें नहीं) इति मत्वा (ऐसा समझ कर) न सज्जते (इनमें आसक्त नहीं होता है)। प्रकृतेः (प्रकृतिके) गुणसंमूढ़ाः (गुणोंमें मोहित जन) गुणकर्मसु (गुण और कर्मोंमें) सज्जन्ते (आसक्त होते हैं), अकृत्स्नविदः (अपूर्णवेत्ता) मन्दान् तान् (मन्दमति उनको) कृत्स्नवित् (पूर्णप्रज्ञ विद्वान् पुरुष) न विचालयेत् (बुद्धिभेद करके विचलित न करें)।

सरलार्थ—प्रकृतिके तीन गुणोंके द्वारा ही संसारमें सब कुछ कर्म होते हैं, किन्तु अहंकारसे मूढ़बुद्धि पुरुष 'मैंने ही किया है' ऐसा समझता है। अन्यपक्षमें गुणकर्मसे आत्माकी पृथकताको पहिचाननेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष गुण गुणमें ही रहता है ऐसा समझ उनमें आसक्त नहीं होता। प्रकृतिके गुणोंमें मुग्ध प्राकृत जन गुण तथा कर्मोंमें बद्ध हो जाते हैं, सर्वदर्शी

ज्ञानी पुरुषोंको चाहिये कि अल्पदर्शी उन मन्दमति जनोंको बुद्धिभेद द्वारा विचलित न कर देवें।

चन्द्रिका——विद्वान्‌जन कैसे रागरहित होकर कर्मयोगका अनुष्ठान करते हैं और उन्हीं कर्मोंमें अविद्वान् जन कैसे बद्ध हो जाते हैं यही इन श्लोकोंमें बताया गया है। प्रकृतिके सत्त्व, रज, तम रूपी तीन गुणोंके स्पन्दन तथा विकारसे संसारमें सभी प्रकारके कर्म उत्पन्न होते हैं, इसलिये इनका सम्बन्ध प्रकृतिसे तथा प्रकृतिपरिणामसे उत्पन्न स्थूल सूक्ष्म शरीरोंसे है। आत्माके साथ इनको कोई भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जब तक जीवभावका नाश होकर आत्मतत्त्वका पता न लग जाय, तब तक स्थूल सूक्ष्मशरीरके साथ जीव अहंकार द्वारा आत्माका सम्बन्ध लगा रखता है और यही समझता रहता है कि शरीरके द्वारा किये हुए कर्मोंका आत्मा ही कर्त्ता है। यही मायाका बन्धन है। किन्तु इस मायासे परे पहुंच कर जो पुरुष तत्त्वज्ञान प्राप्त कर चुके हैं और प्राकृति तथा त्रिगुण एवं त्रिगुणजात समस्त कर्मोंके साथ आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है इस रहस्यको भली भांति समझ गये हैं वे इन गुणोंमें नहीं फंसते हैं। वे गुणोंकी लीला गुणोंमें ही देखते हैं, आत्मामें नहीं देखते हैं, और आत्माको इन गुणोंसे तथा कर्मोंसे पृथक् जानकर कर्मबन्धनमें बद्ध नहीं होते हैं। यही योगयुक्त विद्वान् जनोंके आसक्तिरहित होकर कर्म करनेमें और अविद्वान् प्राकृत जनोंके अहंकार तथा ममतायुक्त होकर कर्म करनेमें अन्तर है। इसमें श्रीभगवान्‌का यही उपदेश है कि ऐसे प्राकृत जनोंका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये, इससे वे अपने सीधे स्वाभाविक पथसे विचलित होकर घबड़ा जाते हैं तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं,

उन्हें कर्ममार्गमें ही प्रवृत्त रख कर भावशुद्धि द्वारा धीरे धीरे निष्कामताकी ओर अग्रसर करना चाहिये ॥ २७–२९ ॥

विज्ञान बता कर अब कर्त्तव्यका निर्देश कर रहे हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अन्वय—मयि (मुझमें) सर्वाणि कर्माणि (सकल कर्मोंको) अध्यात्मचेतसा (विवेक बुद्धिसे) संन्यस्य (समर्पण करके) निराशीः (फलाशारहित) निर्ममः (ममतारहित) भूत्वा (होकर) विगतज्वरः (शोकरहित हो) युध्यस्व (युद्ध करो)।

सरलार्थ—विवेकबुद्धि द्वारा मुझमें सब कर्म समर्पण करके आशा-ममतारहित हो शोकशून्य हृदयसे युद्ध करो।

चन्द्रिका—कर्मके विषयमें समस्त विचार करनेके अनन्तर श्रीभगवान्ने अर्जुनके लिये यही कर्त्तव्य निश्चय कर दिया कि जब कर्म करना स्वाभाविक है, ज्ञानी अज्ञानी सभीको किसी न किसी भावसे कर्म करना ही पड़ता है तो इस स्वभाव पर बलात्कार न करके अपने वर्णाश्रमके अनुसार कर्म करना ही उचित होगा। इसमें लोकसंग्रहकार्यमें भी बाधा न होगी, साधारण जनोंके लिये उत्तम आदर्शका भी स्थापन होगा और प्रकृतिके अनुकूल विहित कर्मका अनुष्ठान होने पर कर्मी आध्यात्मिक पथमें भी अग्रसर हो सकेंगे। केवल इसमें 'कौशल' इतना ही करना होगा कि 'अध्यात्मचेतसा' अर्थात् विवेक तथा योगयुक्त बुद्धिके साथ परमात्मामें

फलाफलको समर्पण करते हुए कर्म करना होगा। अतः अर्जुनको भी लोकसंग्रह तथा आत्मलाभके विचारसे इसी योगबुद्धिके साथ युद्धकार्यरूपी अपने क्षत्रियधर्मका पालन करना चाहिये ॥३०॥

ऐसा करने तथा न करनेका क्या परिणाम होता है सो ही बता रहे हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

अन्वय—श्रद्धावन्तः (श्रद्धासे युक्त) अनसूयन्तः (दोषदर्शन न करनेवाले) ये मानवाः (जो मनुष्यगण) मे इदं मतं (मेरे इस मतका) नित्यं अनुतिष्ठन्ति (सदा अनुष्ठान करते हैं) ते अपि (वे ही) कर्मभिः मुच्यन्ते (कर्मबन्धनसे मुक्त होते हैं)। ये तु (किन्तु जो लोग) एतत् मे मतं अभ्यसूयन्तः (मेरे इस मतकी निन्दा करके) न अनुतिष्ठन्ति (इसका अनुष्ठान नहीं करते हैं) अचेतसः तान् (अविवेकी उनको) सर्वज्ञानविमूढान् (सकल ज्ञानसे शून्य) नष्टान् विद्धि (नष्ट जानो)।

सरलार्थ—मेरे इस मतका दोषदर्शन न करते हुए जो लोग श्रद्धाके साथ नित्य इसका अनुसरण करते हैं वे कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जो दोषदर्शी होकर इसका अनुसरण नहीं करते हैं, उन अविवेकी जनोंको सकलज्ञानसे शून्य तथा नष्ट जानो।

चन्द्रिका—स्वभावसे प्राप्त कर्मके विषयमें अपना समस्त मत तथा विचार प्रकट करके अब श्रीभगवान् यही सिद्धान्त निर्णय करते हैं कि इस कर्ममार्गका दोषदर्शन न करके श्रद्धा तथा योगयुक्त बुद्धिके साथ जो लोग इसका अनुष्ठान करते हैं उनको कर्मबन्धन प्राप्त न होकर समत्वबुद्धिके फलसे बन्धनमुक्ति ही मिलती है। गुणमें दोषदर्शन करनेको 'असूया' कहते हैं। असूयाका उदय होने पर मोक्षदानकारी कर्मयोगमें भी जीवको बन्धनकारी अनेक दोष दीखने लगते हैं। ऐसे मनुष्य स्वभाव-विरुद्ध आचरण करके नाशको प्राप्त होते हैं, इनके अन्तःकरणमें निष्काम कर्मयोगके परिणामरूपी आत्मरति तथा आत्मज्ञानका उदय नहीं होता है, वे सकल ज्ञानसे विमुख ही रहते हैं। अधिकन्तु अनुचित आदर्शके स्थापन द्वारा लोकसंग्रहको बिगाड़ कर वे प्रत्यवायके ही भागी होते हैं। अतः प्रकृतिके अनुकूल कर्ममार्गमें योगबुद्धिके साथ प्रवृत्त रहना ही प्रत्येक व्यक्तिका कर्त्तव्य है ॥३१-३२॥

अब इसी प्रकृतिके स्वाभाविक वेगको दिखा कर संयमकी उचित विधि बता रहे हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

अन्वय—ज्ञानवान् अपि (ज्ञानी पुरुष भी) स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं (अपनी प्रकृतिके अनुरूप) चेष्टते (चेष्टा करता है),

भूतानि (प्राणि समूह) प्रकृतिं यान्ति (अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चलते हैं) निग्रहः किं करिष्यति (इसलिये जबरदस्ती प्रकृतिके रोकनेसे क्या फल होगा ?) इन्द्रियस्य (इन्द्रियका) इन्द्रियस्यार्थे (रूपरसादि इन्द्रिय विषयमें) रागद्वेषौ (अनुकूल विषयके प्रति राग और प्रतिकूल विषयके प्रति द्वेष) व्यवस्थितौ (स्वभावसे निश्चित है), तयोः (रागद्वेषके) वशं न आगच्छेत् (वशमें नहीं आना चाहिये) हि (क्योंकि) तौ (राग द्वेष) अस्य परिपन्थिनौ (जीवके उन्नतिमार्गके विरोधी शत्रु हैं)।

सरलार्थ—ज्ञानी जन भी अपनी प्रकृतिके अनुरूप ही चेष्टा करते हैं, समस्त जीव प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं, अतः बलात्कार या जबरदस्तीसे प्रकृतिके रोकनेमें क्या फल होगा ? आत्माके अनुकूल विषयमें इन्द्रियोंका राग और प्रतिकूल विषयमें द्वेष स्वभावसे ही निश्चित है, तथापि रागद्वेषके वशमें नहीं आना चाहिये, क्योंकि वे कल्याणमार्गके सदा विरोधी होते हैं।

चन्द्रिका—पूर्वजन्मके कर्मानुसार जिस जीवको जो स्वभाव प्राप्त हुआ है उसीको यहां पर 'प्रकृति' कहा गया है। ज्ञानी अज्ञानी सभीको इसी प्रकृतिके अनुरूप कार्य करना पड़ता है। जिस आत्मरति ज्ञानवान् पुरुषका संसारमें कोई भी कर्त्तव्य नहीं है, उसे भी प्रकृतिकी ही प्रेरणाके अनुसार 'भोजन शयनादि' व्यापारोंको करना ही पड़ता है। अतः जब जबरदस्ती प्रकृतिका रोक देना असम्भव है, तो कर्त्तव्य यही होना चाहिये

कि रागद्वेषके वशीभूत न होकर निष्काम बुद्धि तथा समत्वबुद्धिके साथ स्वभावसे प्राप्त प्रकृतिके अनुरूप वर्णधर्म तथा आश्रमधर्ममें विहित कर्मोंका अनुष्ठान किया जाय। इससे लोकसंग्रह भी नहीं बिगड़ेगा और प्रकृतिके अनुकूल कल्याणपथमें प्रवृत्त रहनेसे अपनी पूर्ण उन्नति हो जायगी। इसमें केवल इतना ही करना होगा कि रागद्वेषादि छोटी मोटी वृत्तियोंको दबा कर वर्णाश्रम विहित प्रकृतिके अनुसार कर्त्तव्योंको करते रहना होगा। क्योंकि विषयोंके प्रति रागद्वेष ही द्वैत तथा द्वन्द्वकी सृष्टि करके जीवको संसारचक्रमें घुमाया करता है। अतः रागद्वेषका वशीभूत न होना तथा प्रकृति अनुकूल सत्पथमें निष्कामभावसे प्रवृत्त रहना यही परमश्रेयः का निश्चित मार्ग है और यही श्रीभगवान्‌के उपदेशका सारतत्त्व है॥ ३३-३४॥

अब उपसंहारमें प्रकृतिके अनुकूल स्वधर्मपालनकी विशेष उपयोगिता बता रहे हैं--

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

अन्वय--स्वनुष्ठितात् परधर्मात् (सब अङ्गोंसे पूर्ण अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा) विगुणः (अङ्गहीन सदोष) स्वधर्मः (अपना धर्म) श्रेयान् (कल्याणकारक है) स्वधर्मे (अपने धर्ममें) निधनं श्रेयः (मरना भी अच्छा है) परधर्मः भयावहः (किन्तु दूसरेका धर्माचरण भयोत्पादक है)।

सरलार्थ—सब अङ्गोंके द्वारा पूर्ण परधर्मकी अपेक्षा आंशिक

अङ्गहीन अपना धर्म अधिक कल्याणकारी है, अपने धर्ममें मृत्यु भी अच्छी है किन्तु परधर्मका आचरण भयदेनेवाला है ।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें प्रकृतिकी बलवत्ताकी पराकाष्ठा दिखाई गई है । योगदर्शनमें लिखा है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः' अर्थात् पूर्वकर्मके सात्त्विक आदि प्रकृति भेदके अनुसार जीवको ब्राह्मणादि जाति, आयु तथा भोग मिलते हैं । जो मनुष्य जिस धर्ममें उत्पन्न होता है, उसके भी मूलमें पूर्वकर्म ही है । अतः जब पूर्वकर्मके अनुसार प्रकृति बनी और प्रकृतिके अनुरूप धर्ममें ही जन्म हुआ, तो वही स्वधर्म उन्नतिका सच्चा कारण बन सकता है । यदि स्वधर्ममें कोई अङ्गहीनता या अपूर्णता भी हो, तथापि प्रकृतिके अनुकूल होनेके कारण इससे उन्नति ही होगी, इस लिये स्वधर्म ही श्रेष्ठ है, दूसरेका धर्म सब अङ्गोंके पूर्ण होने पर भी अपनी जन्मगत प्रकृतिके विपरीत होनेके कारण उससे कदापि कल्याण नहीं होगा । इस कारण यदि बलात्कार या हठसे भी कोई परधर्मका अनुष्ठान करने लगे तौभी वह अवनति तथा अकल्याणको ही उत्पन्न करेगा । यही कारण है कि श्रीभगवान्ने स्वधर्ममें मरना भी अच्छा बताया है और परधर्मको भयजनक कहा है । अतः अर्जुनको भी ब्राह्मणधर्म या संन्यासाश्रमधर्मरूपी भिक्षान्न भोजनादिकी चिन्ताको छोड़ कर क्षत्रियवर्णके अनुकूल धर्मयुद्धमें योगयुक्तभावसे प्रवृत्त होना चाहिये यही श्रीभगवान्के उपदेशका आशय है ॥ ३५ ॥

अब प्रसङ्गानुसार प्रकृति तथा इन्द्रियोंकी बलवत्ताके विषयमें अर्जुन प्रश्न करते हैं—

अ० उ०—अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अन्वय—हे वार्ष्णेय ! (हे वृष्णिवंशज कृष्ण !) अथ (अब बतावें) अयं पूरुषः (संसारका जीव) अनिच्छन् अपि (इच्छा न करने पर भी) केन प्रयुक्तः (किसके द्वारा प्रेरित होकर) बलात् नियोजितः इव (जबरदस्ती घसीटे जानेकी तरह) पापं चरति (पाप करता है) ?

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण ! अब बतावें मनुष्यका ऐसा कौन शत्रु है जो इच्छा न होने पर भी जबरदस्ती मनुष्यको पापपङ्कमें घसीट ले जाता है ?

चन्द्रिका—श्रीभगवान्‌ने पूर्वश्लोकोंमें यही बताया है कि प्रकृति तथा इन्द्रियोंका एकाएक रोकना बड़ा ही कठिन है, वे रोके भी नहीं रुकते, बलात् जीवको विषयमें प्रवृत्त कर देते हैं, इस कारण इनको जबरदस्ती न रोक कर निष्कामभावसे इन्हें विषयमें ही लगा रखना चाहिये, जिससे आपसे आप इनकी स्वाभाविक गति सरल हो जाय और ये दुःखके कारण न बन कर योगमार्गके सहायक ही बन सकें। अब इसी प्रसङ्गका आश्रय करके अर्जुन प्रश्न करते हैं कि कौनसी इन्द्रिय सबसे अधिक बलवती है जिसके द्वारा मनुष्य इच्छा न होने पर भी जबरदस्ती विषय तथा पापमें घसीटा जाता है। 'वार्ष्णेय' सम्बोधन द्वारा यही भाव प्रकट किया गया है कि तुम वृष्णिवंश अर्थात् मेरे मातामहके वंशमें प्रकट हुए हो, इस कारण आत्मीय जानकर मुझ दीनके प्रति उपेक्षा नहीं करोगे ॥३६॥

अब प्रश्नके अनुरूप विस्तृत उत्तर दे रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय! दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

अन्वय—रजोगुणसमुद्भवः (रजोगुणसे उत्पन्न) महाशनः (महान् पेटू) महापाप्मा (महान् पापी) एषः कामः एषः क्रोधः (काम और क्रोध) इह (आत्मोन्नति पथमें) एनं (कामको) वैरिणं विद्धि (शत्रु समझो)। यथा (जिस प्रकार) वह्निः (अग्नि) धूमेन (धुएंसे) आव्रियते (ढक जाती है) आदर्शः मलेन च (और दर्पण या सीसा धूलसे ढक जाता है) यथा (जिस प्रकार) गर्भः (गर्भ) उल्वेन (जरायु अर्थात् गर्भचर्म्मसे) आवृतः (ढका रहता है) तथा (उसी प्रकार) तेन (कामके द्वारा) इदं (ज्ञान) आवृतम् (ढका हुआ है)। हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) ज्ञानिनः (ज्ञानीके) नित्यवैरिणा एतेन कामरूपेण दुष्पूरेण अनलेन च (नित्यशत्रु इस कामरूपी सदा अतृप्त अग्निके द्वारा)

ज्ञानं आवृतम् (ज्ञान ढका हुआ है)। इन्द्रियाणि (इन्द्रिय समूह) मनः बुद्धिः (मन और बुद्धि) अस्य (कामका) अधिष्ठानं उच्यते (यह आश्रयस्थान कहलाता है), एषः (काम) एतैः (इन्द्रियादि-के द्वारा) ज्ञानं आवृत्य (ज्ञानको ढक कर) देहिनं विमोहयति (जीवको मुग्ध कर देता है)।

सरलार्थ—रजोगुणसे उत्पन्न असीम खानेवाला महापापी यह काम है जिसकी अतृप्तिमें क्रोधका भी उदय होता है। आत्माके पथमें इसी कामको शत्रु जानना चाहिये। जिस प्रकार धुएंसे अग्नि ढक जाती है, धूलसे सीसा ढक जाता है और झिल्लीसे गर्भ ढक जाता है ठीक ऐसा ही कामसे ज्ञान ढका हुआ है। हे अर्जुन! यह काम ज्ञानीका नित्य शत्रु है, अतिकठिनतासे तृप्त होने वाला अग्निरूप है, इसीने ज्ञानको आवृत कर रक्खा है! इसके रहनेके स्थान इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि कहे जाते हैं, यह इन्हींसे ज्ञानको ढक कर जीवको मुग्ध कर देता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें कामकी भीषणता तथा ज्ञानके साथ शत्रुता बताई गई है। द्वितीयाध्यायमें पहिले ही कहा गया है कि 'कामात् क्रोधोऽभि-जायते' अर्थात् कामसे ही क्रोधकी उत्पत्ति होती है, कामकी अतृप्तिमें क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इसलिये इन श्लोकोंमें प्रथमतः काम क्रोध दोनोंका ही नाम लेकर पश्चात् कामके ही विषयमें कहा गया है। कामकी उत्पत्ति रजोगुणमें है, काम प्रवृत्तिमूलक तथा रागमूलक है, प्रवृत्ति, राग ये सब रजोगुणके

धर्म हैं, अतः कामकी उत्पत्ति रजोगुणमें हुई। कामकी उत्पत्ति रजोगुणमें होने पर भी अवस्थाभेदसे काम सात्त्विक और तामसिक भी हो सकता है। जो काम धर्मसे अविरुद्ध है, संसारमें कुलभूषण, देशसेवक सुसन्तानकी उत्पत्तिके लिये गर्भाधान संस्कारके अनुसार प्रयुक्त है वह सात्त्विक काम है। और धर्महीन, विचारहीन, प्रमादयुक्त, घोर पशुभावसे कलुषित काम तामसिक है। यही कामरूपी शत्रु बहुत बलवान् है, और इसीके द्वारा इच्छा न होने पर भी जबरदस्ती लोग पापकर्ममें लिप्त हो जाते हैं, यही अर्जुनके प्रश्नके समाधानमें श्रीभगवान्का उत्तर है। काम 'महाशन' है। अर्थात् कितनी ही खुराक मिलने पर भी कामकी तृप्ति नहीं होती है। मनुसंहितामें लिखा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

कामसेवाके द्वारा कामका वेग कभी शान्त नहीं होता है, किन्तु घृतपुष्ट अग्निकी तरह और भी बढ़ने लगता है। यही कामके 'महाशन' होनेका लक्षण है। अतः इस प्रकार कामके वशीभूत होने पर मनुष्य अनेक पाप करेंगे, इसमें क्या सन्देह है। इसलिये कामको 'महापाप्मा' भी कहा गया है। कामकी तीन दशाएं होती हैं यथा—संस्कारदशा, चिन्त्यमानदशा और भुज्यमानदशा। कामकी स्थूल भोगदशाको 'भुज्यमान' दशा कहते हैं। चित्तमें जब कामका संकल्प विकल्प होता रहता है, उसीको 'चिन्त्यमान' दशा कहते हैं। और संकल्पविकल्पशून्य सूक्ष्म संस्काररूपमें जब काम चित्तमें रहता है उसीको 'संस्कारदशा' कहते हैं। इन्हीं तीन दशाओंके वर्णनके लिये 'धूमेनाव्रियते वह्निः' इत्यादि तीन

दृष्टान्त दिये गये हैं । काम ज्ञानका परमशत्रु है क्योंकि ज्ञान अद्वैत भावको प्रकाशित करके जीवको आत्माकी ओर ले जाता है और काम अविद्यामय द्वैतभावको उत्पन्न करके जीवको संसारजालमें फंसा देता है। अतः जहां काम वहां ज्ञान नहीं और जहां ज्ञान वहां काम नहीं। दोनोंका कदापि साहचर्य नहीं हो सकता है, काम ज्ञान तथा ज्ञानीका नित्यशत्रु है, किन्तु जिस प्रकार धुएंके द्वारा अग्नि आवृत होने पर भी जलानेका काम कर सकती है, उसी प्रकार कामकी संस्कारदशामें ज्ञान थोड़ा बहुत आवृत होने पर भी पूर्ण नाशको प्राप्त नहीं होता है । द्वितीयतः जिस प्रकार धूलसे सीसा ढक जाने पर प्रतिबिम्ब तो नहीं ले सकता है किन्तु उसका स्वरूप नहीं नष्ट होता है, उसी प्रकार चिन्त्यमान दशामें काम ज्ञानके कार्यको तो रोक देता है, किन्तु स्वरूप नष्ट नहीं कर सकता है। तृतीय दृष्टान्त कामकी भुज्यमान दशाका है । झिल्लीके द्वारा आवृत होने पर गर्भस्थित सन्तानका कुछ भी पता नहीं लगता है और न वह हाथ पैर फैला ही सकता है । ठीक उसी प्रकार कामकी इस तृतीय दशामें ज्ञानका प्रकाश एकबारगी ही नष्ट हो जाता है और विषयभोगी जीव मलिन विषयपङ्कमें मग्न होकर अपने मनुष्यत्वको सम्पूर्ण रूपसे नष्ट कर डालता है। ये ही कामकी तीन दशाओंके वर्णनके लिये तीन दृष्टान्त समझने चाहिये। काम प्रत्यक्ष अग्नि या 'अनल' रूप है। जिसका 'अलम्' अर्थात् समाप्ति नहीं है, उसे अनल कहते हैं। कामकी तृष्णा तो कभी मिटती हो नहीं, इस लिये काम अनलरूप तथा 'दुष्पूर' अर्थात् दुःखसे पूर्ण या समाप्त होनेवाला है । शास्त्रमें लिखा है—

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥

समस्त संसारमें जितने धनधान्य, सुवर्ण, पशु या स्त्रियां हैं, सभी यदि एक ही मनुष्यको मिल जांय तथापि तृष्णा नहीं मिटती है, ऐसा जान कर कामकी वृद्धि न करके उसे शान्त रखना ही अच्छा है । इन्द्रियां, मन और बुद्धि यह कामका आश्रय स्थान है । इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके दर्शन, श्रवण उपभोग आदि रूपसे, मनके द्वारा विषयोंके सङ्कल्प विकल्प आदि रूपसे तथा बुद्धिके द्वारा विषयसेवाके विषयमें निश्चयता या विचार आदि रूपसे कामका विकाश होता है । इन्हीं स्थानोंमें रह कर इन्हींके द्वारा काम ज्ञानको आच्छन्न करके जीवको विमोहित कर देता है ।।३७-४०॥

कामका प्रभाव बता कर अब उसके दमनके विषयमें उपदेश देते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ! ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

अन्वय—हे भरतर्षभ ! (हे भरतकुलभूषण अर्जुन !) तस्मात् (इस लिये) त्वं (तुम) आदौ (पहिले) इन्द्रियाणि नियम्य (इन्द्रियोंका संयम करके) ज्ञानविज्ञाननाशनं (आत्माके विषयमें ज्ञान तथा अनुभवके नाशकारी) पाप्मानं (पापरूपी) एनं हि प्रजहि (इस कामका निश्चय ही नाश करदो) । इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) पराणि (स्थूल देहसे परे) आहुः (पण्डितोंने कहा है), इन्द्रियेभ्यः (इन्द्रियोंसे) मनः परं (परे मन है), मनसः तु बुद्धिः परा (मनसे परे बुद्धि है), यः तु बुद्धेः परतः (जो किन्तु बुद्धिसे परे है) सः (वही आत्मा है)। हे महाबाहो ! (हे वीर अर्जुन !) एवं (इस तरहसे) बुद्धेः परं (बुद्धिसे परे) बुद्ध्वा (आत्माको जान कर) आत्मना आत्मानं (अपनेसे अपनेको) संस्तभ्य (रोक कर) कामरूपं (कामरूपी) दुरासदं (दुर्ज्ञेय अर्थात् जिसके व्यापार तथा रहस्यको जानना अति कठिन है ऐसे) शत्रुं (शत्रुको) जहि (मार डालो) ।

सरलार्थ—इस लिये हे अर्जुन ! सबसे पहिले इन्द्रियोंको वशमें लाकर तुम ज्ञान तथा आत्मानुभवके नाशकारी इस पापरूपी कामका नाश कर दो । इन्द्रियगण स्थूलदेहसे परे हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे परे आत्मा है । इस प्रकार बुद्धिसे परे आत्माको समझ कर अपनेसे अपनेको रोकते हुए दुर्विज्ञेय कामरूपी शत्रुका निधन करो ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें कामके निधनका उपाय तथा 'भरतर्षभ' और 'महाबाहो' सम्बोधनों द्वारा अर्जुनका वंशगौरव तथा वीरता बताकर निधन सामर्थ्य बताई गई है। 'आदौ' अर्थात सबसे पहिले कामका नाश करना ही अत्यावश्यक है। क्योंकि आत्मोन्नतिके पथमें यही अतिकठिन कण्टक है। इन्द्रियोंके दमन द्वारा इसका नाश जब तक न हो तब तक ज्ञानका प्रकाश कदापि नहीं हो सकता है। काम आत्माके विषयमें शास्त्रीय ज्ञान रूपी ज्ञान और अनुभव रूपी विज्ञान दोनों ही का नाशक है। यही 'ज्ञानविज्ञाननाशनम्' शब्दका तात्पर्य है। आत्मा इन्द्रिय, मन, बुद्धि सबसे परे है। इन्द्रियां सूक्ष्म होनेके कारण स्थूलशरीरसे परे हैं, मन इन्द्रियोंका चालक होनेके कारण इन्द्रियोंसे परे है, बुद्धि निश्चयात्मिका होनेके कारण चञ्चल सङ्कल्पविकल्पकारी मनसे परे है। किन्तु आत्मा बुद्धिका प्रकाशक तथा प्रेरक होनेके कारण उससे भी परे है। इस तरहसे संयम तथा आत्माके विषयमें विशेष ज्ञानके द्वारा ही काम पर विजयलाभ हो सकता है। पहिले ही कहा गया है कि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते' (गीता २य अध्याय) अर्थात् आत्माका दर्शन हो जाने पर कामका सूक्ष्म संस्कार भी नष्ट हो जाता है। नहीं तो केवल इन्द्रियदमन द्वारा भुज्यमान और चिन्त्यमान दशागत काम नष्ट होने पर भी संस्कारदशागत काम नहीं नष्ट हो सकता है। योगदर्शनमें भी कहा है—

'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः' 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः'

विषयकी वृत्तियां आत्माके ध्यान आदि द्वारा नष्ट हो सकती हैं, किन्तु ज्ञान द्वारा प्रपञ्चविलासका लय हुए विना विषयकी सूक्ष्म वृत्तियां

नहीं नष्ट हो सकती हैं। इसलिये कर्त्तव्य यह है कि अपनेसे अपनेको रोक कर, आत्माके विषयमें ज्ञानलाभ करके भीषणशत्रु कामका अतियत्नसे नाश कर दिया जाय। यह शत्रु जैसा भीषण है, वैसा ही 'दुरासद्' भी है। अर्थात् इसके छलका पता लगाना अति कठिन है। कभी यह प्रेमरूपमें, कभी दयारूपमें, कभी मोहरूपमें, कभी रूपतृष्णा आदि रूपमें अज्ञात-रूपसे ही चित्तक्षेत्रको ऐसा ग्रास कर लेता है कि एकाएक पता ही नहीं चलता है कि इस शत्रुने शरीररूपी मकान पर कैसे कब्जा कर लिया। अतः यह 'दुरासद्' अर्थात् इसका रहस्य तथा कौशल कठिनतासे ही जानने योग्य है। और इसी कारण आत्मोन्नति पथमें तथा योगपथमें प्रबल शत्रु 'काम' ही सबसे प्रथम जीतने योग्य है यही श्रीभगवान्‌के उपदेशका निष्कर्ष है ॥४१–४३॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'कर्मयोग' नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीय अध्याय समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः।

तृतीयाध्यायमें कर्मयोगका रहस्य तथा अधिकार निर्णय करके अब इस अध्यायमें उसीको पुष्टि की जाती है। राज्यपालन, धर्मरक्षण, शत्रुदमन आदि व्यापारमें क्षत्रियवर्ण-को ही कर्मयोगका विशेष आश्रय लेना पड़ता है, इस कारण वंश परम्पराक्रमसे भी इस अध्यायमें इस योगकी प्रशंसा की गई है। आत्मरति तथा ज्ञानोदय हो जानेपर ज्ञानीके लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है, वह केवल प्रारब्धादि वेगसे अनायास ही कर्म करता रहता है, तृतीयाध्यायमें कथित इस विज्ञान पर भी इस अध्यायमें यथेष्ट विवेचन किया गया है। इस प्रकारसे अनेक यज्ञ तथा ज्ञानयज्ञमें सबकी परि-समाप्ति इस अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है। इसी विषयका सूत्र अवलम्बन करके प्रथमतः श्रीभगवान् अपने श्रीमुखवर्णित दुर्लभ योगका परम्परानिर्णय कर रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ! ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अन्वय—अहं (मैंने) विवस्वते (सूर्य देवताको) इमं अव्ययं (यह निश्चित फलदायक) योगं प्रोक्तवान् (योग कहा था), विवस्वान् मनवे प्राह (सूर्यने अपने पुत्र मनुको कहा था), मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत (मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको बताया था)। एवं (इस तरहसे) परम्पराप्राप्तं इमं (वंशक्रमसे प्राप्त इस योगको) राजर्षयः विदुः (निमि आदि राजर्षियोंने जाना था), हे परन्तप ! (हे शत्रुतापन अर्जुन !) सः योगः (वही योग) इह (इसलोकमें) महता कालेन (दारुण धर्मनाशकारी कालप्रभावसे) नष्टः (लुप्त हो गया) । मे भक्तः सखा च असि (तुम मेरे भक्त और सखा हो) इति (इसलिये) सः एव अयं पुरातनः योगः (वही सम्प्रदायके अभावसे लुप्त प्राचीन योग) मया अद्य ते प्रोक्तः (आज मैंने तुम्हें कहा) हि (क्योंकि) एतत् (यह योग) उत्तमं रहस्यम् (उत्तम गोपनीय वस्तु है, अतः अनधिकारीको कहने योग्य नहीं है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—मैंने प्रथमतः यह अव्यय योग सूर्यदेवताको कहा था। तदनन्तर सूर्यने मनुको और मनु-ने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको यह योग बताया था। इस प्रकार वंश-परम्परा क्रमसे यह योग राजर्षियोंको विदित हुआ था, किन्तु कालप्रभावसे धर्महासके साथ ही साथ यह योग भी सम्प्रदाय-

के अभावसे विच्छिन्न हो गया था, अब अनुकूल देश काल जान कर मैंने आज तुम्हें यह अत्युत्तम रहस्यमय योग बता दिया क्योंकि तुम मेरे भक्त तथा सखा हो, इस कारण योग सुनने के अधिकारी हो।

चन्द्रिका—मनुसंहितामें लिखा है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
ब्रह्मक्षत्रं तु सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते॥

ब्राह्मणोंकी ज्ञानशक्ति और क्षत्रियोंकी कर्मशक्ति इन दोनोंकी परस्पर सहायता द्वारा ही इहलोक और परलोकमें सकल प्रकारकी उन्नति होती है। इस कारण क्षत्रियजातिमें कर्मशक्तिके उद्बोधनार्थ क्षत्रियवंशके आदि पिता तथा देवताओंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय सूर्यदेवको ही स्वभावतः श्रीभगवान्‌ने इस कर्मयोगका उपदेश दिया था। तदनन्तर मानव जातिके आदि पुरुष राजर्षि मनुको सूर्यदेवसे यह उपदेश मिला और त्रेतायुगमें मनुके द्वारा राजा इक्ष्वाकुको यह उपदेश प्राप्त हुआ। महाभारतके नारायणीय उपाख्यानमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है यथा—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥ इत्यादि॥

त्रेतायुगके आदिमें सूर्यने मनुको यह योग दिया और मनुने प्रजारक्षाके लिये अपने पुत्र इक्ष्वाकुको यह योग दिया। यहां पर 'सूर्य' का अर्थ स्थूल सूर्यगोलक नहीं है, किन्तु सूर्यगोलक पर अधिष्ठान करनेवाले तथा उस प्रकाशके संचालक सूर्यदेवता हैं। इसी देवताके द्वारा क्षत्रिय जातिमें प्रकट यह रहस्यमय कर्मयोग राजा इक्ष्वाकुके द्वारा अनेक राजर्षि तथा

क्षत्रियोंमें वंशपरम्पराक्रमसे विस्तृत हो गया था । किन्तु त्रेताके अन्तमें तथा द्वापरके मध्यमें क्रमशः धर्मह्रासके साथ साथ यह योग प्रच्छन्न हो गया था । अब अर्जुनको अधिकारी तथा देशकालको अनुकूल जान कर श्रीभगवान्‌ने इस अलौकिक रहस्यमय योगका उपदेश किया ताकि अर्जुन इस योगसे युक्त होकर स्वधर्मपालन तथा श्रीभगवान्‌के अवतार कार्यमें सहायता करें और संसारके लोग भी इससे समुचित शिक्षा लाभ करें । अर्जुन 'परन्तप' अर्थात् स्थूल शत्रुओंके साथ साथ कामादि अन्तः शत्रुओंको भी तपानेवाला हैं, भगवान्‌का भक्त भी है और समप्राण स्निग्धहृदय सखा भी है, अतः अर्जुनको ही इतने कालके बाद रहस्यमय कर्मयोग लाभ करनेका सौभाग्य तथा अधिकार प्राप्त हुआ है, यही इन श्लोकोंका तात्पर्य है ॥ १—३ ॥

वसुदेवसे उत्पन्न श्रीभगवान्‌के लौकिक देहके विचारसे परम्पराके विषयमें लौकिक जीवोंको सन्देह न हो इसीका निराकरण अर्जुन प्रश्न द्वारा करा रहे हैं—

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अन्वय—भवतः जन्म (तुम्हारा जन्म) अपरं (अभी हुआ है), विवस्वतः जन्म (सूर्यका जन्म) परं (पहिले अर्थात् सृष्टिके आदिकालमें हुआ है) त्वं आदौ प्रोक्तवान् (तुमने पहिले सूर्यको कहा है) इति एतत् कथं विजानीयाम् (यह मैं कैसे जानूँ?) ।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा–तुम्हारा जन्म वसुदेवगृहमें अभी थोड़े ही वर्ष हुए हुआ है और सूर्यदेवकी उत्पत्ति इससे बहुत पहिले सृष्टिके आदिकालमें हुई है । अतः कैसे मैं यह समझूं कि तुमने पहिले यह योग सूर्यको बताया था ?

चन्द्रिका—यह प्रश्न अर्जुनकी विज्ञताके अनुरूप न होने पर भी लौकिक जीवोंकी लौकिक बुद्धिके अनुरूप अवश्य है। इसी कारण लौकिक जगत्में श्रीभगवान्के ऐसा कहनेसे भ्रम उत्पन्न न हो अतः इसी आशंका-का निवारण अर्जुन-मुखसे कर दिया गया है। श्रीभगवान्का लौकिक देह प्रत्यक्ष होने पर भी वह वास्तवतः कुछ भी नहीं है, इसी प्रकार उनके जन्मादि भी दिव्य ही होते हैं, इन बातों पर लौकिक जीवोंका सहसा विश्वास नहीं जमता है। अतः प्रश्नोत्तररूपसे इनका समाधान करना आवश्यक है ॥४॥

अब प्रश्नानुरूप समाधान करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

अन्वय—हे परन्तप ! अर्जुन ! (हे परन्तप अर्जुन !) मे तव च (मेरे और तुम्हारे) बहूनि जन्मानि (अनेक जन्म) व्यतीतानि (हो चुके हैं), अहं (मैं) तानि सर्वाणि (उन सबको) वेद

(जानता हूं) त्वं न वेत्थ (तुम नहीं जानते हो)। अजः अपि सन् (जन्मरहित होने पर भी) अव्ययात्मा (नाशरहित स्वभाव) भूतानां ईश्वरः अपि सन् (जीवोंके प्रभु कर्मोंके वशमें न आने वाले होने पर भी) स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय (अपनी माया पर अधिष्ठान करके उसे वशमें लाकर) आत्ममायया (अपनी माया द्वारा) सम्भवामि (शरीरधारीकी तरह प्रतीत होता हूं)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—हे परन्तप अर्जुन! तुम्हारे और मेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं। मैं सर्वज्ञ होनेके कारण उन सबको जानता हूं, किन्तु तुम अल्पज्ञ होनेके कारण उन्हें नहीं जानते हो। मैं जन्मरहित, नाशरहित तथा सबका प्रभु और कर्मपरतन्त्र न होने पर भी अवताररूपसे प्रकट होते समय अपनी मायाको वशमें लाकर उसी सत्त्वगुणमयी माया द्वारा देहधारीकी तरह प्रतीत होने लगता हूं।

चन्द्रिका—श्रीभगवान् तथा अर्जुनके अनेक जन्म हो चुके हैं, इसलिये सूर्यदेवको किसी पूर्व जन्ममें योग बताना भगवान्के लिये असम्भव नहीं हो सकता है, यही लौकिक जीवोंकी इस विषयमें शंकाका उत्तर है। श्रीभगवान् सर्वज्ञ हैं इस लिये उनको अपने सब जन्मोंका पता है, किन्तु अर्जुन अल्पज्ञ हैं इसलिये उन्हें पता नहीं है, यही अर्जुनके तथा अल्पज्ञ लौकिक जीवोंके शङ्का करनेका कारण है। और 'अर्जुन' शब्दके द्वारा 'अर्जुन' वृक्षकी ओर इङ्गित करके श्रीभगवान्ने अर्जुनकी अल्पज्ञताको सूचित भी कर दिया है। किन्तु 'भगवान्' तो

'अज' अर्थात् जन्मरहित हैं, 'अव्ययात्मा' अर्थात् अविनाशी अक्षय स्वरूप हैं, कर्मपरतन्त्रताहीन प्रभु ईश्वर हैं, उनका जन्म लेना कैसे सम्भव हो सकता है ? इसी शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि जीवकी तरह प्रकृतिके वशमें आकर उनका जन्म नहीं होता है, किन्तु अपनी सात्त्विक मायाको निज वशमें लाकर, उस पर अधिष्ठान करते हुए उसीकी सहायतासे श्रीभगवान् प्रकट होते हैं। उनका शरीर लौकिक जीवोंकी तरह नहीं होता है, और न वे शरीरके बन्धनमें ही आते हैं, केवल संसारमें कार्य करनेके लिये शरीर-का एक दिखावामात्र होता है। इसीलिये वेदने कहा है कि 'अजायमानो बहुधा विजायते' उत्पन्न न होकर भी अनेक रूपमें प्रकट होते हैं। इसीलिये स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मारूप हैं, जगत्के हितके लिये मायाको आश्रय करके ये देहवान्की तरह दीखते हैं। यही श्रीभगवान्के अवतार कार्यके लिये दिव्यजन्म तथा दिव्यशरीर धारणका रहस्य है। श्रीभगवान्का ऐसा शरीर धारण प्रायः दो प्रकारसे होता है—एक अचानक किसी रूपमें प्रकट होना जैसा कि नृसिंहावतारका शरीर। दूसरा—क्रमोन्नत किसी शरीरके द्वारा भगवत्कलाका आंशिक या पूर्णविकाश। जैसा कि महाभारतके वनपर्वके १२ अध्यायमें श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है—

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी॥

हे वीर अर्जुन ! तुम पूर्वजन्ममें नर थे और मैं नारायण था, अब

इस जन्ममें श्रीकृष्णरूपमें मेरा जन्म और अर्जुनरूपमें तुम्हारा जन्म हुआ है। ऐसे अनेक प्रमाण भागवतादिशास्त्रोंमें भी मिलते हैं॥ ५-६॥

श्रीभगवान्‌का यह दिव्यजन्म कब, और किस लिये होता है सो बता रहे हैं –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

अन्वय—हे भारत! (हे अर्जुन!) यदा यदा हि (जब जब ही) धर्मस्य ग्लानिः (धर्मकी हानि) अधर्मस्य अभ्युत्थानं (पापकी प्रबलता) भवति (होती है), तदा (तब) अहं (मैं) आत्मानं (अपनेको) सृजामि (मायाके द्वारा अवताररूपसे प्रकट करता हूं)। साधूनां (धार्मिक पुरुषोंकी) परित्राणाय (रक्षाके लिये) दुष्कृतां (पापीजनोंके) विनाशाय (नाशके लिये) धर्मसंस्थापनार्थाय च (तथा युगानुसार धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये) युगे युगे (प्रति युगमें) सम्भवामि (प्रकट होता हूं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! जब जब धर्मकी हानि तथा अधर्मकी प्रबलता होती है, तभी मैं अवताररूपसे मायाद्वारा अपनेको प्रकट करता हूं। स्वधर्मानुगामी सत्पुरुषोंकी रक्षा, पापियोंका नाश तथा युगानुसार धर्मस्थापनाके लिये युग युगमें इस तरह मेरा जन्म होता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें श्रीभगवान् कब अवतार लेते हैं और क्यों लेते हैं सो ही बताया गया है। श्रीभगवान् जब सर्वव्यापी हैं तो कहींसे कहीं उनका आना जाना सम्भव नहीं है, केवल सात्त्विक मायाके आश्रयसे अपनी दिव्यकलाको आंशिक या पूर्णरूपसे किसी केन्द्र द्वारा प्रकट कर देना ही 'अवतार' है। उनकी शक्ति सर्वव्यापिनी होनेसे सभी जीवोंमें थोड़ी बहुत उनकी कला विद्यमान रहती है। तदनुसार प्रथम जीवयोनि उद्भिज्जमें उनकी एक कला, द्वितीय जीवयोनि स्वेदजमें उनकी दो कला, तृतीय जीवयोनि अण्डजमें उनकी तीन कला, चतुर्थ जीवयोनि जरायुज पशुओंमें उनकी चार कला और मनुष्योंमें उनकी पांचसे आठ तक कला प्रकट होती है। साधारण मनुष्यमें पांच कला और विभूतियोंमें आठ कला तकका विकाश देखा जाता है। किन्तु यदि किसी समय कोई प्रबल असुर या राक्षस उत्पन्न होकर पापके प्रतापसे उस समयके युगमें जितना धर्म रहना चाहिये उसमें हानि कर देवे और वह हानि आठ कला तककी विभूतियों द्वारा दूर न हो सके तो प्रकृतिके नियमानुसार श्रीभगवान्‌की आठसे अधिक कला जिस किसी केन्द्र द्वारा दिव्यरूपसे प्रकट होती है उसे ही 'अवतार' कहा जाता है। नौसे पन्द्रह कला तकके अंशावतार कहलाते हैं, और षोड़श कलावतार पूर्णावतार कहलाते हैं। यथा भागवतमें—

'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'

मत्स्य, कूर्म, वराहादि और सब अंशावतार हैं केवल श्रीकृष्ण पूर्णकलाके अवतार होनेसे साक्षात् श्रीभगवान् हैं। अवतार कलियुगको सत्ययुग बनानेके लिये या द्वापरको त्रेता बनानेके लिये नहीं आते हैं,

क्योंकि ऐसा करना प्रकृति तथा परमात्माके नियमके विरुद्ध है। वे केवल कलियुगमें या द्वापरयुगमें जितना धर्म रहना चाहिये उसमें किसी पापीके अत्याचार द्वारा न्यूनता आजाने पर उस न्यूनताको दूर करके युगानुसार 'धर्म संस्थापन' के लिये आते हैं। क्योंकि सत्पुरुष धर्मके रक्षक हैं और पापीजन धर्मके उच्छेदक हैं इस कारण श्रीभगवान्‌को धर्म संस्थापन कार्यमें सज्जनोंका त्राण तथा दुर्जनोंका नाश करना होता है। यही कार्य जगत्‌कल्याणके लिये श्रीभगवान् युग युगमें अवतार लेकर करते हैं ॥७-८॥

श्रीभगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य कहकर अब उस रहस्यज्ञानका फल बता रहे हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥ ९ ॥

अन्वय—हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) यः (जो) मे एवं दिव्यं जन्म कर्म च (मेरे इस प्रकार अलौकिक जन्म तथा कर्मके विषयको) तत्त्वतः (तत्त्व भावसे) वेत्ति (जानता है) सः (वह) देहं त्यक्त्वा (शरीर त्यागके अनन्तर) पुनः जन्म न एति (फिर जन्मको नहीं पाता है) मां एति (किन्तु मुझे ही पाता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! मेरे इस अलौकिक जन्म कर्मके तत्त्वको जो जान लेता है, देहत्यागके पश्चात् पुनर्जन्म न पाकर वह मुझे ही प्राप्त कर लेता है।

चन्द्रिका—परमात्मा किस प्रकारसे शरीरका बन्धन न लेकर भी शरीरधारण करते हैं और कर्त्तव्य न रहने पर भी केवल जगत्‌कल्याणके

लिये निष्कामरूपसे कार्य कर सकते हैं इन अलौकिक विषयोंका रहस्य हृदयङ्गम करनेसे योगी भी उन्हीं भावोंमें भावित होजाता है, जिससे उन्हें भी न शरीरका बन्धन स्पर्श कर सकता है और न कर्मबन्धन ही स्पर्श कर सकता है। और इस तत्त्वज्ञानका फल स्पष्ट ही है अर्थात् ऐसे योगीको पुनः संसारमें आना नहीं पड़ता है। वे ब्रह्मके तत्त्वको जान कर ब्रह्ममें ही लीन हो जाते हैं ॥९॥

यह नयी बात नहीं है क्योंकि पहिले भी ऐसे बहुत मुक्त हो चुके हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

अन्वय—वीतरागभयक्रोधाः (आसक्ति, भय तथा क्रोधसे शून्य) मन्मयाः (मुझमें ही एकान्तरत) मां उपाश्रिताः (मेरी शरण लिये हुए) बहवः (अनेक योगी) ज्ञानतपसा पूताः (ज्ञान रूपी तपके द्वारा पवित्र होकर) मद्भावं आगताः (मेरे भावको प्राप्त अर्थात् मुक्त हो गये हैं)।

सरलार्थ—आसक्ति, भय तथा क्रोधसे छुटे हुए, मत्परायण और मेरी शरणको प्राप्त अनेक योगी ज्ञानरूपी तपके द्वारा पवित्र होकर मेरे ही स्वरूपमें लवलीन हो गये हैं अर्थात् मुक्तिलाभ कर चुके हैं।

चन्द्रिका—आसक्ति, भय और क्रोध बन्धनके कारण होते हैं, इसके विषयमें द्वितीयाध्यायमें पहिले ही कहा गया है। इनसे छुटकारा

पाकर परमात्माकी शरण लेने पर ज्ञानका पथ बहुत ही सरल हो जाता है। ज्ञान ही परम तपस्या तथा अन्तिम तपस्या है क्योंकि जिस प्रकार अग्निमें तपाने पर सोना विशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान ही समस्त अविद्याकी मलिनताको दूर करके साधकको परम पवित्र बना देता है। इस प्रकार परम पवित्र ज्ञानके द्वारा अविद्या मलसे मुक्त होकर परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जानते हुए योगिगण सदासे परमात्मामें लवलीन होते आये हैं, यही श्रीभगवान्के उपदेशका तात्पर्य है ॥१०॥

ज्ञानियोंकी बात ही क्या है श्रीभगवान् सभीकी शरण हैं यथा—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः ॥११॥

अन्वय—ये (जो) यथा (जिस प्रकारसे) मां प्रपद्यन्ते (मेरी शरण लेते हैं) तान् अहं तथा एव (उन्हें मैं उसी प्रकारसे) भजामि (फल देता हूं)। हे पार्थ! (हे अर्जुन!) मनुष्याः सर्वशः (मनुष्यगण सभी प्रकारसे) मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते (मेरे ही पथमें आ जाते हैं)।

सरलार्थ—जो मनुष्य जिस प्रकारसे मेरी शरण लेते हैं मैं उसी प्रकारसे उन्हें साधनाका फल देता हूं। हे अर्जुन! चाहे किसी रास्तेसे हो जीवगण मेरे ही पथमें आ मिलते हैं।

चन्द्रिका—वेदान्तदर्शनमें ईश्वरके विषयमें एक सूत्र है "फलमत उपपत्तेः" अर्थात् ईश्वर सभी प्रकार कर्मोंके फलदाता हैं। धर्म, अर्थ काम, मोक्ष इन चार वर्गोंमेंसे जिसको

लक्ष्य करके मनुष्य परमात्माकी उपासना करता है, परमात्मा उसीके अनुरूप साधनाका फल देते हैं। इस प्रकारसे आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी सभी अपनी अपनी वासना तथा सङ्कल्प के अनुसार परमात्माके द्वारा ही सकल फल प्राप्त होते हैं। इतना तक कि अन्य देवताओंमें तथा विभूतियोंमें आसक्त साधक भी प्रकारान्तरसे उन्हींकी आराधना करते हैं और उन्हींके साधनमार्गके अनुवर्त्ती होते हैं क्योंकि ये सब देवता तथा दैवविभूतियां उन्हींकी शक्ति मात्र हैं। इसी विज्ञानको 'येऽप्यन्यदेवता भक्ताः' इत्यादि श्लोकके द्वारा आगे भी प्रतिपादित किया है॥ ११॥

श्रीभगवान्‌के सबको शरण होने पर भी अन्यदेवताकी उपासना लोग क्यों करते हैं उसका कारण बता रहे हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

अन्वय—कर्मणां सिद्धिं कांक्षन्तः (सकाम कर्मोंमें सिद्धि लाभकी आकांक्षा करके) इह (संसारमें) देवताः यजन्ते (इन्द्रादि देवताओंकी भजना लोग करते हैं) हि (क्योंकि) मानुषे लोके (मनुष्य लोकमें) कर्मजा सिद्धिः (सकाम कर्मका फल) क्षिप्रं भवति (शीघ्र होता है)।

सरलार्थ—लोग सकाम कर्मोंमें सिद्धिलाभकी आकांक्षा करके इन्द्रादि देवताओंकी पूजा करते हैं, क्योंकि ऐसी पूजाके द्वारा कर्ममय मनुष्यलोकमें फलसिद्धि शीघ्र हो जाती है।

चन्द्रिका--परमात्मा प्रकृतिराज्यके बाहर और देवतागण उसीके अन्तर्गत भिन्न भिन्न विभागके सञ्चालक हैं। इस कारण जो साधक ज्ञान तथा वैराग्य द्वारा प्रकृतिराज्यसे बाहर होना चाहे ऐसे निष्काम मोक्षेच्छु साधकके लिये ही परमात्माकी उपासना प्रशस्त है। अतः सकाम साधनाओंके साथ परमात्माका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। सकाम बुद्धिसे ईश्वरकी उपासना करने पर फल तो मिलते हैं, किन्तु साक्षात् रूपसे नहीं मिलते हैं। देवताओंके साथ ही सकाम कर्मोंका साक्षात् सम्बन्ध है, क्योंकि वे प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागके अधीश्वर हैं। अतः जो देवता जिस विभागके अधीश्वर हैं उसके सम्बन्धके सकाम फल वे उपासकको बहुत ही शीघ्र दे सकते हैं यथा धनकी अधीश्वरी लक्ष्मी उपासनाके द्वारा तुष्ट होकर शीघ्र धन दे सकती हैं, विद्याकी अधीश्वरी सरस्वती उपासनाके फलरूपसे भक्तको विद्या शीघ्र दे सकती हैं, इत्यादि। यद्यपि इन देवताओंको भी परमात्मा समझ कर उपासना करनेसे साधक मोक्षकी ओर अग्रसर हो सकता है, किन्तु इनकी स्थिति प्रकृति राज्यके भीतर ही होनेसे ये साक्षात् रूपसे मोक्षको दे नहीं सकते, केवल परम्परारूपसे सहायता मात्र कर सकते हैं। यही कारण है कि सकाम साधक सकाम बुद्धिसे इन देवताओंकी ही उपासना करते हैं और निष्काम साधक मोक्षलाभके लिये परमात्माकी ही शरण लेते हैं। मनुष्यलोक कर्ममय है इस कारण कर्मफलप्रयासी जीव कर्मके सञ्चालक देवताओंकी ही प्रायः शरण लेते हैं और उन्हींके लिये याग यज्ञ आदिका अनुष्ठान करके इहलोकमें धनपुत्रादि लाभ और परलोकमें स्वर्गादि सुख लाभ करते हैं ॥ १२ ॥

ये सभी कर्म वर्णधर्मके अन्तर्गत हैं इसलिये प्रसङ्गोपात्त वर्ण धर्म विज्ञान कहते हुए उसके साथ अपना सम्बन्ध बता रहे हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥

अन्वय—गुणकर्मविभागशः (गुण और कर्मके विभागके अनुसार) मया चातुर्वर्ण्यं सृष्टं (मैंने चार वर्णको सृष्टि की है) तस्य कर्त्तारं अपि मां (चार वर्णके सृष्टिकर्त्ता होनेपर भी मुझे) अकर्त्तारं अव्ययं (अकर्त्ता तथा अपने निर्लिप्त स्वरूपसे च्युत न होनेवाले) विद्धि (जानो)।

सरलार्थ—सत्त्व रजः तम ये तीन गुण और उसके अनुरूप कर्मविभागके अनुसार मैंने चार वर्णको सृष्टि की है। किन्तु ऐसे सृष्टिकर्त्ता होने पर भी मुझे अकर्त्ता तथा अव्यय जानना चाहिये।

चन्द्रिका—इस श्लोकके प्रथम चरणमें वर्णधर्मका रहस्य बताया गया है। क्योंकि चार वर्णके अनुसार ही ऊपर कथित सकाम निष्काम यागयज्ञादि लोग करते हैं। वर्णधर्मके तत्त्व वर्णनमें श्लोकांक 'सृष्टं' पद विशेष विचार करने योग्य है। 'मया सृष्टं' अर्थात् मैंने बनाया इससे यही तात्पर्य निकलता है कि पूर्वजन्मकृत गुणकर्मानुसार ही ब्राह्मणादि जाति बनती है। श्रीभगवान् पतञ्जलिने भी योगदर्शनमें कहा है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः' अर्थात् पूर्वकर्मके अनुसार ही ब्राह्मणादि जाति,

आयु तथा भोग प्राप्त होते हैं। सत्त्व, रज, तम प्रकृतिके ये तीन गुण हैं। इनमेंसे सत्त्वगुणप्रधान प्राक्तन कर्मवाले ब्राह्मणवर्णमें उत्पन्न होते हैं और उनमें शम दमादि सत्त्वगुणके ही कर्म स्वाभाविकरूपसे प्रकट होते हैं। रजः सत्त्वप्रधान प्राक्तन कर्मवाले क्षत्रियवर्णमें उत्पन्न होते हैं और उनमें युद्ध राज्यशासनादि क्षत्रियके ही कर्म स्वाभाविकरूपसे प्रकट हो जाते हैं। रजस्तमप्रधान प्राक्तनकर्मवाले वैश्य वर्णमें उत्पन्न होते हैं और उनमें कृषिवाणिज्यादि वैश्यजातिके ही कर्म स्वाभाविकरूपसे प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार तमोगुणप्रधान प्राक्तनकर्मवाले शूद्रवर्णमें उत्पन्न होते हैं और उनमें सेवादि शूद्रजातिके कर्म स्वभावतः प्रकठ हो जाते हैं। यही गुणकर्मानुसार चार वर्णोंकी व्यवस्थाका रहस्य है। अतः जन्म कर्म दोनोंके साथ वर्णधर्मका स्वाभाविक सम्बन्ध है यही सिद्ध हुआ। महाभाष्यमें भी लिखा है—

तपः श्रुतञ्च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मणकारणम्।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

तप अर्थात् कर्म, श्रुत अर्थात् ज्ञान और योनि अर्थात् जन्म ये तीन ब्राह्मणके लक्षण हैं। जिसमें कर्म तथा ज्ञान नहीं है, वह केवल जन्ममात्रसे ब्राह्मण है अर्थात् अधूरा ब्राह्मण है। ऐसा ही मनुसंहितामें भी लिखा है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

जिस प्रकार काठका हाथी और चमड़ेका मृग नाममात्रका कहलाता है, ऐसा ही ज्ञानकर्महीन ब्राह्मण, जातिब्राह्मण मात्र ही है। मनुष्य कर्म

करनेमें स्वतन्त्र होनेसे एक वर्णका मनुष्य दूसरे वर्णका कर्म कर सकता है, किन्तु गुणके साथ पूर्वजन्मका सम्बन्ध रहनेसे वह एकाएक नहीं बदलता और इसलिये जाति साधारणतः नहीं बदल सकती । केवल महर्षि विश्वामित्र आदिकी तरह असाधारण तपस्यादि द्वारा गुणका भी परिवर्त्तन होकर जाति बदल सकती है, किन्तु यह सब असाधारण कोटिकी वस्तु होनेके कारण साधारण सामाजिक जीवनमें इसका प्रयोग या आदर्श स्थापन नहीं हो सकता है । श्लोकके दूसरे चरणमें परमात्माकी वर्णाश्रमादि व्यावहारिक कोटिके साथ निर्लिप्तता सिद्धकी गई है । यद्यपि परमात्माकी सत्ताके बिना त्रिगुणमयी प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती है, इस लिये प्राकृतिक त्रिगुणानुसार चार वर्णके विभागमें परमात्मा कर्त्ता कहे जा सकते हैं, किन्तु वे त्रिगुणसे सदा निर्लिप्त रहनेके कारण वर्णव्यवस्थाके कर्त्ता होने पर भी अकर्त्ता ही हैं, और जीवात्मा रूपसे सभी वर्णकी सत्तामें विविधलीला करने पर भी अपने स्वरूपसे कभी डिगते नहीं 'अव्यय' ही बने रहते हैं । यही कारण है कि जब ज्ञानी महात्मा परमात्माका साक्षात्कार करके ब्रह्मरूप बन जाते हैं तो उनको वर्णाश्रमादि किसी बातका विधिनिषेध नहीं रहता । वे ब्रह्मरूप होकर त्रिगुणसे परे तथा विधिनिषेधसे परे हो जाते हैं ॥ १३ ॥

अब अपना निर्लिप्तस्वरूप बताते हुए कर्त्तव्यनिर्देश कर रहे हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अन्वय—कर्माणि मां न लिम्पन्ति (कर्मसमूह मुझे नहीं लिप्त करते) कर्मफले मे स्पृहा न (कर्मफलमें मेरी इच्छा नहीं रहती है) इति यः मां अभिजानाति (ऐसा जो मुझे जानता है) स कर्मभिः न बध्यते (वह कर्मोंके द्वारा बद्ध नहीं होता है)। एवं ज्ञात्वा (ऐसा जान कर) पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि कर्म कृतं (प्राचीन समयके मुमुक्षुओंने भी कर्म किया है), तस्मात् त्वं (इसलिये तुम) पूर्वैः (प्राचीन जनोंके द्वारा) पूर्वतरं कृतं (प्राचीन समयमें किये हुए) कर्म एव कुरु (कर्मको ही करो)।

सरलार्थ—मैं कर्मोंमें लिप्त नहीं होता हूं और न कर्मफलमें ही मेरी इच्छा है, ऐसा जो मुझे जानता है, वह कर्मबन्धनमें बद्ध नहीं होता है। प्राचीन जनकादि मुमुक्षुओंने आत्माके ऐसे ही निर्लिप्त स्वरूपको जान कर कर्म किया था, अतः तुम भी इसी प्राचीन मर्यादाका अनुसरण करते हुए कर्म करो।

चन्द्रिका—परमात्माकी निर्लिप्तता तथा निस्पृहताको जान लेने पर अपने आत्माके विषयमें भी योगीको ऐसा ही ज्ञान हो जाता है, क्योंकि ये दोनों सत्ता अभिन्न हैं। इस प्रकारके योगीको कर्मबन्धन नहीं हो सकता है। अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्‌का यही उपदेश है कि प्राचीन जनकादि कर्मयोगियोंके इसी आदर्शका अनुसरण करके उन्हें भी निष्काम कर्मयोगमें प्रवृत्त रहना चाहिये ॥ १४—१५ ॥

अब कर्माभावके साथ तुलना करके इसी कर्मयोग विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥
कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणोगतिः ॥१७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

अन्वय—किं कर्म किं अकर्म (कर्म क्या है और कर्माभाव क्या है) इति अत्र (इस विषयमें) कवयः अपि (विद्वान्गण भी) मोहिताः (भ्रममें पड़ जाते हैं), ते (तुम्हें) तत्कर्म (वह कर्म) प्रवक्ष्यामि (कहूँगा) यद् ज्ञात्वा (जिसका स्वरूप जान कर) अशुभात् (अशुभ संसारबन्धनसे) मोक्ष्यसे (तुम मुक्तिलाभ करोगे)। कर्मणः अपि (यथार्थ कर्मके विषयमें भी) बोद्धव्यं (जानना चाहिये) विकर्मणः च बोद्धव्यं (निषिद्ध कर्मके विषयमें भी जान लेना चाहिये) अकर्मणः च बोद्धव्यम् (कर्माभावके विषयमें भी जानना उचित है) कर्मणः गतिः गहना (क्योंकि कर्मका तत्त्व जानना बड़ा कठिन है)। यः कर्मणि अकर्म पश्येत् (फलाकांक्षारहित होनेके कारण निष्काम कर्ममें जो अकर्म देखता है) यः अकर्मणि च कर्म (और जो बलात् कर्मत्यागमें कर्म देखता है) मनुष्येषु (मनुष्योंमें) सः बुद्धिमान्

(वही बुद्धिमान् है) सः युक्तः (वही युक्त पुरुष है) कृत्स्नकर्म-कृत् (सभी कुछ करनेवाला है)।

सरलार्थ--कर्म किसको कहते हैं और कर्मका अभाव भी किसका नाम है, इस विषयमें विद्वान् जन भी भ्रममें पड़ जाते हैं, इसलिये तुम्हें मैं कर्मका यथार्थ तत्त्व कहूंगा जिसे जान कर तुम अशुभरूपी कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकोगे। विहित कर्म, निषिद्ध कर्म तथा कर्माभाव इन तीनोंका ही तत्त्व जानने योग्य है, क्योंकि कर्मका तत्त्व बड़ा ही गहन है। निष्कामरूपसे विहित कर्मोंके करनेमें जो अकर्म समझता है और जबरदस्ती विहित कर्मोंके त्यागमें जो कर्म समझता है, वही मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी तथा सब कुछ करनेवाला है।

चन्द्रिका--इन श्लोकोंमें 'कर्म', 'अकर्म' और 'विकर्म' इन तीनोंका तत्त्व 'फल' विचारसे बहुत ही उत्तम रीतिसे बताया गया है। फलाकांक्षारहित होकर विहित कर्मोंका अनुष्ठान ही 'कर्म' है। फलाकांक्षा न रहनेके कारण ऐसे कर्मों द्वारा कोई 'अपूर्व' 'बन्धन' या 'प्रतिक्रिया' उत्पन्न नहीं होती है, इसलिये इसे 'अकर्म' अर्थात् कर्म न करनेके तुल्य ही बताया गया है। यही 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' अर्थात् कर्ममें जो कर्माभाव देखता है इस श्लोकांशका तात्पर्य है। दूसरे पक्षमें—प्रकृतिका वेग भी है, प्रकृति कर्म करनेमें प्रेरित भी करती है, तथापि जबरदस्ती किसीने कर्मत्याग कर दिया इस 'अकर्म' को 'कर्म' कहा गया है। क्योंकि जबरदस्ती कर्म-त्यागमें प्रकृति पर धक्का अवश्य लगेगा, जिसकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं होगी और इस प्रकारसे विहित

कर्मके त्यागमें प्रत्यवाय भी उत्पन्न होगा । अतः ऐसा 'अकर्म' भी 'कर्म' ही समझने योग्य है । यही 'अकर्मणि च कर्म यः' इस श्लोकांशका तात्पर्य है । 'विकर्म' का अर्थ विपरीत कर्म अर्थात् अविहित और शास्त्रनिषिद्ध कर्म है । इस प्रकारसे जो कर्म-अकर्म-विकर्मके तत्त्वको जानता है वही 'बुद्धिमान्' है, वही 'योगी' है और वही 'कृत्स्नकर्मकृत' अर्थात् सब कुछ करनेवाला है । उसकी यह व्यवसायात्मिका बुद्धि कर्मतत्त्वके विवेचन द्वारा उसे परमात्माकी ओर ले जाती है इस कारण वही यथार्थमें 'बुद्धिमान्' है । ऐसे निष्कामकर्मी परमात्मामें युक्त होकर ही कर्म करते हैं, इस कारण वह 'युक्त' भी हैं । और इसी निष्कामकर्ममें ही सब कर्मकी पराकाष्ठा है, क्योंकि इसीसे मोक्षकी प्राप्ति है अतः वही 'कृत्स्नकर्मकृत्' कहलाने योग्य है । इस प्रकारसे श्रीभगवान्ने गहन कर्मतत्त्वका रहस्य बता दिया जिसका ज्ञान होने पर जीव कर्मबन्धनसे मुक्त हो परमपदको प्राप्त कर सकता है ॥ १६-१८ ॥

अब कई श्लोकोंके द्वारा इसी 'अकर्म' रूपी कर्मकी स्तुति की जाती है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

अन्वय—यस्य सर्वे समारम्भाः (जिसके सब कर्मके उद्योग) कामसङ्कल्पवर्जिताः (फलकी इच्छासे रहित होते हैं), बुधाः (ज्ञानिगण) ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तं पण्डितं आहुः (ज्ञानकी अग्नि द्वारा जिसका कर्म जलकर अकर्म हो गया है ऐसे पुरुषको पण्डित कहते हैं)। सः (ऐसा पुरुष) कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा (कर्मफलमें आसक्तिको त्याग करके) नित्यतृप्तः (कामनाशून्य होनेके कारण सदा आत्मानंदमें मग्न) निराश्रयः (तथा वासना रूपी आश्रयसे रहित होकर) कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि (कर्ममें लगे रहने पर भी) किञ्चित एव न करोति (कुछ भी नहीं करता है अर्थात् उसका कर्म अकर्म ही हो जाता है)। निराशीः (आशीः अर्थात् फलकी इच्छाको छोड़नेवाला) यतचित्तात्मा (जिसका चित्त और शरीर संयत है) त्यक्तसर्वपरिग्रहः (किसी प्रकार ग्रहणमें जिसका चित्त नहीं है अर्थात् सर्वथा मुक्तसङ्ग पुरुष) केवल शारीरं कर्म कुर्वन् (चित्तमें किसी प्रकार अभिनिवेश या आसक्ति न रख कर केवल शरीर या कर्मेन्द्रिय द्वारा कर्म करते हुए) किल्बिषं न आप्नोति (पापको अर्थात् पाप पुण्यके बन्धनको नहीं पाता है)। यदृच्छालाभसन्तुष्टः (अनायास प्राप्त वस्तु द्वारा सन्तुष्ट) द्वन्द्वातीतः (सुख दुःख आदि द्वन्द्वसे मुक्त)

विमत्सरः (किसीसे वैरभाव न रखनेवाला (सिद्धौ असिद्धौ च समः (सफलता विफलतामें एक भाव रखनेवाला पुरुष) कृत्वा अपि न निबध्यते (कर्म करता हुआ भी बन्धनको प्राप्त नहीं होता है)। गतसङ्गस्य, मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः, यज्ञाय आचरतः (आसक्ति रहित, रागद्वेषसे मुक्त, कर्माकर्म विवेकरूपी ज्ञानमें प्रतिष्ठित तथा यज्ञके लिये कर्म करनेवाले पुरुषका) समग्रं कर्म (सभी कर्म) प्रविलीयते (लय हो जाता है)।

सरलार्थ—जिसके सभी कर्म फलाकांक्षारहित होते हैं और ज्ञानकी अग्निसे जल कर जिसके कर्म अकर्म हो गये हैं ऐसे पुरुषको ज्ञानिगण पण्डित कहते हैं। कर्मफलके प्रति आसक्तिशून्य वासनानाशके कारण आत्मामें ही सदा तृप्त, फल सिद्धिरूपी आश्रयको त्यागनेवाला ऐसा पुरुष कर्म करते रहने पर भी कुछ नहीं करता। फलकामनाहीन, संयतमन, संयतशरीर, मुक्तसङ्ग पुरुष कर्मेन्द्रिय द्वारा कर्म करने पर भी पापपुण्यके बन्धनको नहीं पाता है। अनायासप्राप्त वस्तुओंसे सन्तुष्ट, सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त, किसीके प्रति वैरभाव न रखनेवाला तथा सिद्धि असिद्धिमें समानभाव रखनेवाला पुरुष कर्म करके भी कर्मबन्धनमें बद्ध नहीं होता है। ऐसे आसक्ति रहित, रागद्वेषमुक्त, ज्ञानमें स्थित तथा यज्ञभावसे कर्म करने वाले पुरुषके सभी कर्म यज्ञदेवता ब्रह्ममें ही विलीन हो जाते हैं।

चन्द्रिका—पूर्व श्लोकोंमें यह रहस्य भली भांति प्रकट हो चुका है कि निष्कामकर्म ही अकर्म है, बलात् कर्मत्याग अकर्म नहीं है। अब

इन श्लोकोंमें ऐसे निष्काम कर्मयोगी कर्मयोगके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति करते करते राग द्वेष, पाप पुण्य आदिसे मुक्त होकर ब्रह्मभावना द्वारा अपने समस्त कर्मोंको कैसे ब्रह्ममें विलीन कर सकते हैं सो ही बताया गया है। प्रथम श्लोकमें ऐसे पुरुषके कर्मको ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध कहा गया है। ज्ञान अर्थात् विवेककी अग्नि कर्मकी वासनाको जला कर निष्कामकर्मको अकर्म बना देती है, इसीको ज्ञानाग्निदग्ध कर्म कहा गया है। इसमें वासना ही जलती है, कर्म नहीं। ऐसे पुरुष 'पण्डित' कहलाते हैं, क्योंकि उनकी 'पण्डा' अर्थात् वेदोज्वला बुद्धिके विकाशका यही सर्वोत्तम लक्षण है। द्वितीय श्लोकमें ऐसे पुरुषके लिये कहा गया है कि वे सदातृप्त तथा निराश्रयी होते हैं। वासनाका हाहाकार ही चित्तको अशान्त करके आत्मतृप्तिमें अतृप्तिको ला देता है, इसलिये जिनकी वासना छूट गई है, उनके नित्यतृप्त रहनेमें क्या सन्देह है? जो फलाकांक्षासे काम नहीं करते, फलसिद्धि या फलकामना उनकी कर्मप्रवृत्तिमें आश्रयरूप भी नहीं हो सकती। अतः वे 'निराश्रय' ही रहते हैं। ऐसे पुरुष सब कुछ करते हुए भी वासनाशून्यताके कारण कुछ भी नहीं करते। तृतीय श्लोकमें ऐसे पुरुषको 'यतचित्तात्मा' और 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' कहा गया है। उनका चित्त अर्थात् अन्तःकरण और आत्मा अर्थात् शरीर दोनों ही संयत रहते हैं। वासनाके वेगसे ही चित्त तथा शरीरमें चाञ्चल्य आता है, इसलिये जहां वासना ही नहीं है, वहां चित्त तथा शरीर स्वयं ही संयत हो जायगा इसमें सन्देह नहीं। जिन्हें वासना ही नहीं है, वे 'परिग्रह' क्या करेंगे? वे देते ही रहेंगे लेंगे कुछ भी नहीं। यही 'त्यक्तसर्व-परिग्रह' शब्दका तात्पर्य है। ऐसे पुरुष कर्मेन्द्रिय द्वारा कर्म करने पर

भी पाप या पाप पुण्यके भागी नहीं होते हैं। क्योंकि फलकामना न रहनेके कारण इनके किये हुए कर्मोंकी इन पर कोई भी प्रतिक्रिया नहीं हो सकती है। यही 'कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' पदका तात्पर्य है। चतुर्थ श्लोकमें ऐसे कर्मयोगीकी और भी उत्तमा स्थिति बताई गई है। वासना न रहनेके कारण वे अनायासप्राप्त वस्तुमें ही सन्तुष्ट रहते हैं, वे रागद्वेषके झगड़ेसे मुक्त हो जाते हैं क्योंकि वासना ही रागद्वेषकी अग्निको उत्पन्न करती है, रागद्वेषहीन पुरुषके साथ किसीका वैरभाव नहीं हो सकता है, वे सभीके मित्र होते हैं। ऐसे सिद्धि असिद्धिमें एक भावयुक्त पुरुषको कर्मका बन्धन नहीं लग सकता है। 'इनके सब कर्म जाते कहां हैं' यही पञ्चम श्लोकमें बताया गया है। इनके सब कर्म 'यज्ञ' हैं। तृतीयाध्यायके यज्ञ प्रकरणमें पहिले ही कहा गया है कि आत्माकी ओर साक्षात् या परम्परारूपसे ले जानेवाले सभी कर्म 'यज्ञ' कहाते हैं। निष्काम कर्मयोगी कर्मअकर्मके विवेक रूपी ज्ञानमें अवस्थित होकर अपने समस्त कर्मको तथा उसके फलाफलको ब्रह्ममें अर्पण करते करते ब्रह्मभाव में ही भावित हो जाते हैं। उस समय उनका अर्पण, अर्पणकर्त्ताके साथ ब्रह्ममें ही लवलीन हो जाता है और उनका यज्ञरूपी कर्म भी ब्रह्ममें ही विलीन हो जाता है। यही पञ्चम श्लोकका तात्पर्य है और निष्काम कर्मयोगीकी अत्युत्तमा अलौकिक स्थिति है ॥१९-२३॥

इस स्थितिमें क्या अपूर्वता है सो ही बता रहे हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अन्वय—अर्पणं ब्रह्म (इस महान् यज्ञमें अर्पण अर्थात् हवनकी सभी क्रिया ब्रह्मरूप है) हविः ब्रह्म (हवनका द्रव्य भी ब्रह्मरूप है) ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् (इसमें अग्नि भी ब्रह्मरूप है जिसमें ब्रह्मरूपी होताके द्वारा हवन होता है) ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन (इस प्रकारसे ब्रह्मरूपी कर्ममें समाधि अर्थात् चित्तका लय जिसने कर लिया है उसके द्वारा) गन्तव्यं (पाने योग्य वस्तु) ब्रह्म एव (ब्रह्म ही है)।

सरलार्थ—इस महान् यज्ञमें अर्पण अर्थात् हवनकी क्रिया ब्रह्मरूप है, हवनका द्रव्य ब्रह्मरूप है, हवनकी अग्नि ब्रह्मरूप है और हवनकर्त्ता ब्रह्मरूप है। इस प्रकार ब्रह्मरूपी कर्ममें चित्तको लय करके कर्त्ताको ब्रह्म ही प्राप्त होता है।

चन्द्रिका—निष्काम भगवदर्पण बुद्धिसे कर्मयोगका अनुष्ठान करते करते अहन्ता ममताका जितना जितना नाश होता जाता है, उतना ही द्वैतभावके विलयमें सर्वत्र ब्रह्मका ही अनुभव होने लगता है, जिसका अन्तिम परिणाम इस श्लोकके द्वारा व्यक्त हुआ है। ब्रह्मभावमें भावित कर्मयोगीकी दृष्टिमें सभी ब्रह्म हो जाता है। उनके लिये हवनक्रिया भी ब्रह्म है, हवनद्रव्य भी ब्रह्म है, हवनकी अग्नि भी ब्रह्म है, हवनकर्त्ता भी ब्रह्म है और हवनकर्म भी ब्रह्म है। अतः जब सभी ब्रह्ममय है तो उन्हें इस ब्रह्मरूपी महान् यज्ञका महाप्रसाद ब्रह्म ही मिलता है, यही इस श्लोकका तात्पर्य है ॥ २४ ॥

अब इस अन्तिम यज्ञके आनुषङ्गिक तथा सहायक अन्यान्य यज्ञोंका वर्णन करते हैं—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्य्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अन्वय—अपरे योगिनः (अन्यान्य कर्मयोगिगण) दैवं एव यज्ञं (इन्द्रादि देवताओंके उद्देश्यसे दैवयज्ञको) पर्य्युपासते (श्रद्धाके साथ करते हैं) अपरे (दूसरे ज्ञानयोगिगण) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्मरूपी अग्निमें) यज्ञेन एव (यज्ञके द्वारा ही) यज्ञं उपजुह्वति (यज्ञका हवन कर देते हैं अर्थात् ज्ञानयज्ञमें कर्मयज्ञकी आहुति या लय कर देते हैं)। अन्ये (अन्य योगिगण) संयमाग्निषु (इन्द्रिय संयमरूपी अग्निमें) श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि जुह्वति (कान आंख आदि इन्द्रियोंको आहुति देते हैं अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे रोक कर संयमका अभ्यास करते हैं) अन्ये (अन्य योगिगण) शब्दादीन् विषयान् (शब्द स्पर्श रूप आदि विषयों-को) इन्द्रियाग्निषु (इन्द्रियरूपी अग्निमें) जुह्वति (हवन कर देते हैं अर्थात् इन्द्रियोंको शब्दादि विषयोंके दास होनेसे रोकते हैं)। अपरे (ध्याननिष्ठ दूसरे योगिगण) ज्ञानदीपिते (ज्ञानके द्वारा

अति उज्वल) आत्मसंयमयोगाग्नौ (आत्मामें संयमरूपी योगाग्निमें) सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च (समस्त कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियोंके कर्मोंको और उनके सञ्चालक सूक्ष्म प्राणशक्तिके कर्मोंको) जुहति (हवन कर देते हैं)। संशितव्रताः यतयः (कठिन व्रतधारी यतिगण इस प्रकारसे) द्रव्ययज्ञाः (अन्नादि द्रव्यद्वारा यज्ञ करनेवाले) तपोयज्ञाः (तपस्यारूपी यज्ञ करनेवाले) तथा अपरे (और भी दूसरे) योगयज्ञाः (योगरूपी यज्ञ करनेवाले) स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः च (तथा वेदपाठरूपी यज्ञ करनेवाले और कोई कोई वेदार्थज्ञानरूपी यज्ञ करनेवाले होते हैं)।

सरलार्थ—कोई कोई योगी श्रद्धाके साथ दैवयज्ञका अनुष्ठान करते हैं, दूसरे कोई ब्रह्मरूपी अग्निमें यज्ञद्वारा यज्ञका ही हवन अर्थात् लय कर देते हैं। तपोयज्ञवाले कुछ योगी संयमरूपी अग्निमें चक्षुकर्ण आदि इन्द्रियोंकी आहुति कर देते हैं, दूसरे कोई इन्द्रियरूपी अग्निमें शब्द आदि विषयोंकी आहुति कर देते हैं, और तीसरे कोई योगयज्ञवाले ज्ञानके तेजसे दीप्तिमान् आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा सूक्ष्मप्राणके सभी कर्मोंकी आहुति दे देते हैं। इस प्रकारसे द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञके अनुष्ठाता कठोरव्रतधारी यतिगण होते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके गौण यज्ञोंका

वर्णन किया गया है । ये सब यदि निष्कामभावसे तथा ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये जांय तो इनके द्वारा ऊपर कथित 'ब्रह्मार्पण' रूपी बड़े यज्ञमें वर्णित महान् लक्ष्यकी सिद्धिमें सहायता अवश्य ही हो सकती है । इनमें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ आदि अनेक प्रकारके यज्ञ बताये गये हैं । कोई कोई अन्नदान आदि रूपसे द्रव्ययज्ञ करते हैं, कोई कोई इन्द्रादि देवताओंकी प्रसन्नताके अर्थ दैवयज्ञ करते हैं और कोई कोई ब्रह्माग्निमें यज्ञमात्रकी आहुति करके ज्ञानयज्ञमें समस्त कर्मयज्ञका लय कर देते हैं । इसी प्रकार तपोयज्ञरूपसे विषयोंकी आहुति इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंकी आहुति संयमाग्निमें की जाती है । ऐसे ही योगयज्ञ करनेवाले कोई कोई सूक्ष्म प्राण तथा इन्द्रियोंके व्यापारको आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें लय कर देते हैं । संयमके लक्षणके विषयमें महर्षि पतञ्जलिने कहा है कि 'त्रयमेकत्र संयमः' आत्मामें धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन योगक्रियाओंको एक करनेका नाम संयम है । योगयज्ञपरायण योगी ऐसा ही करके कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा प्राणकी समस्त क्रियाओंको इसी योगाग्निमें हवन कर देते हैं । अर्थात् इन्द्रिय तथा प्राणके चाञ्चल्यको नष्ट करके आत्मामें समाधिलाभ करते हैं । यह अग्नि ज्ञानके द्वारा 'दीपित' अर्थात् अति उज्वल होनेके कारण समस्त इन्द्रियवृत्ति तथा प्राणवृत्तियोंको जला देती है । यहां पर प्राणका अर्थ प्राणवायु नहीं है, किन्तु जिस सूक्ष्म प्राणशक्तिकी सहायतासे स्थूल प्राणादि पञ्चवायु तथा इन्द्रियां अपने अपने कर्मोंको कर सकती हैं उसी प्राण शक्तिका नाम प्राण है । इसी प्रकारसे महान् अन्तिम यज्ञके सहायकरूपसे अनेक यज्ञ हुआ करते हैं ॥ २५–२८ ॥

इन यज्ञोंके और भी भेद तथा अनुष्ठान फल बता रहे हैं—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति॥ २९॥
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥ ३०॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम!॥ ३१॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणोमुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

अन्वय—अपाने प्राणं जुह्वति (अपान वायुमें प्राण वायुका हवन करते हैं अर्थात् योगयज्ञ करनेवाले कोई कोई पूरक प्राणायामका अभ्यास करते हैं) तथा अपरे (ऐसे ही अन्य योगी) प्राणे अपानं (प्राणवायुमें अपानकी आहुति देते हैं अर्थात् रेचक प्राणायामका अभ्यास करते हैं) प्राणापानगतीः रुद्ध्वा (कोई कोई योगी प्राण और अपानके ऊपर नीचेकी गतिको रोक कर) प्राणायामपरायणाः (कुम्भक प्राणायामका अभ्यास करते हैं), अपरे (अन्य कोई योगी) नियताहाराः (मिताहार या आहारका संयम करके) प्राणेषु प्राणान् जुह्वति (प्राणोंमें प्राणोंकी आहुति करते हैं अर्थात् पञ्चप्राणोंमेंसे जिन जिनको वशीभूत कर लिया उन उनमें दूसरे दूसरेकी आहुति दे देते हैं)। एते सर्वे अपि यज्ञविदः (ये सभी यज्ञोंके

जाननेवाले) यज्ञक्षयितकल्मषाः (यज्ञ द्वारा निष्पाप होकर) यज्ञशिष्टामृतभुजः (यज्ञके प्रसादरूप अमृतका सेवन करते हुए) सनातनं ब्रह्म यान्ति (शाश्वत ब्रह्मको प्राप्त करते हैं)। हे कुरुसत्तम! (हे अर्जुन!) अयज्ञस्य (यज्ञहीन पुरुषका) अयं लोकः न अस्ति (इहलोक ही नहीं है) कुतः अन्यः (फिर परलोक कैसे होगा)? एवं बहुविधाः यज्ञाः (इस प्रकारसे अनेक यज्ञ) ब्रह्मणः मुखे (वेदके द्वारा) वितताः (विस्तीर्ण अर्थात् विहित हुए हैं) तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि (उन सबकी उत्पत्ति कर्मसे ही हुई है ऐसा जानो) एवं ज्ञात्वा (ऐसा जान कर) विमोक्ष्यसे (कर्मबन्धनसे छूट जाओगे)।

सरलार्थ—कोई कोई योगी पूरक प्राणायाम द्वारा अपानमें प्राणकी आहुति देते हैं, और कोई रेचक प्राणायाम द्वारा प्राणमें अपानकी आहुति देते हैं। तीसरे कोई प्राण अपान दोनोंकी गतिको रोक कर कुम्भक प्राणायाम करते हैं। अन्य कोई योगी आहारका संयम करके वशीभूत प्राणमें चञ्चल प्राणकी आहुति देते हैं। ये सभी यज्ञरहस्यके ज्ञातागण यज्ञके द्वारा ही निष्पाप होकर यज्ञके प्रसादरूप अमृतका सेवन करते हुए शाश्वत ब्रह्मको लाभ करते हैं। यज्ञहीन पुरुषका इहलोक ही नहीं है तो परलोक कैसे होगा? ऐसे ही अनेक विध यज्ञ वेदमुखमें वितत हुए हैं, इन सबकी उत्पत्ति कर्ममें है और ये ही निष्कामभावसे अनुष्ठित होने पर अपवर्गकी सहायता कर सकते हैं ऐसा जो जानता है वह कर्मबन्धनसे मुक्तिलाभ करता है।

चन्द्रिका—पूर्वश्लोकोंमें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ यथा योगयज्ञके विषयमें बहुत कुछ कह कर इन श्लोकोंमें प्रथमतः प्राणायामरूपी योगयज्ञका वर्णन किया गया है और पश्चात् इन यज्ञोंके निष्काम अनुष्ठानका अन्तिम फल बताया गया है। प्राणायाममें, पूरक, रेचक, कुम्भक ये तीन अभ्यास होते हैं, प्राणवायुको श्वास द्वारा भीतर लेकर अपानके साथ मिलानेका नाम पूरक है, उसको बाहर निकाल देनेका नाम रेचक है जिस समय अपानकी गति प्राणकी ओर होती है। और प्राण अपान दोनोंकी गतिको रोक कर श्वास बन्द रखनेका नाम कुम्भक है। ये ही तीन यज्ञरूपसे यहां पर बताये गये हैं। इसके अनन्तर सभी वायुओंको नियमित करते हुए पञ्चप्राणोंमेंसे जो वशीभूत हो जाय उसमें चञ्चल अन्य वायुको लय करनेकी भी विधि योग यज्ञमें होती है। यही 'प्राणान् प्राणेषु जुह्वति' इस वाक्यके द्वारा बताया गया है। इस योगके लिये 'नियताहार' अर्थात् मिताहार होनेकी विशेष आवश्यकता होती है जिसका लक्षण शास्त्रमें यही बताया गया है कि—

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्जलेनैकं प्रपूरयेत्।
मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्॥

अर्थात् उदरके दो भाग अन्नसे और एक भाग जलसे पूर्ण करके चतुर्थ भाग वायुसञ्चारके लिये खाली छोड़ देना इसीका नाम मिताहार है। इस प्रकारसे योगयज्ञ द्वारा समस्त प्राण वशीभूत होते हैं और प्राणके वशीभूत होने पर मन तथा मनोवृत्ति अनायास ही वशीभूत हो जाती है जिससे योगी द्रुतवेगसे ब्रह्मकी ओर अग्रसर हो सकता है जैसा कि परवर्ती श्लोकमें बताया गया है। इन्द्रियोंकी आहुति, विषयों-

की आहुति, प्राणोंकी आहुति इन सभीके द्वारा पापनाश तथा आध्यात्मिक उन्नति साधन होता है, जिससे योगी अचिरकालमें ही शाश्वत ब्रह्मधामको प्राप्त कर सकता है। उनको यज्ञावशिष्ट प्रसादरूपसे यही अमृत मिलता है, क्योंकि इन सब तपोयज्ञ, योगयज्ञ आदिमें स्थूल प्रसाद तो असम्भव है, यही सूक्ष्म अमृत प्रसाद इन यज्ञोंसे प्राप्त होकर चिर अमरताके कारण ये सब यज्ञ बन जाते हैं। अतः जो इन यज्ञोंसे हीन है उसके इन्द्रियादि वशीभूत तथा हृदय उदार न होनेके कारण इहलोकमें स्वार्थी तथा विषयोंके दास बन कर वे दुःख पाते हैं और परलोकमें भी उनकी दुर्गति ही होती है। ये सभी यज्ञ वेदमें होते हैं और इनके सकाम अनुष्ठान द्वारा इहलोक तथा परलोकमें थोड़ा बहुत सुखलाभ और निष्काम अनुष्ठान द्वारा मुक्तिलाभमें सहायता मिलती है। इस रहस्यको जान कर जो निष्काम भावसे इन यज्ञोंका अनुष्ठान करता है वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥२९-३२॥

अब इन सब यज्ञोंमेंसे कौन यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है सो ही बता रहे हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

अन्वय—हे परन्तप ! (हे अर्जुन !) द्रव्यमयाद् यज्ञात् (अन्नादि द्रव्योंसे जिसका अनुष्ठान हो ऐसे यज्ञसे) ज्ञानयज्ञः श्रेयान् (साक्षात् मुक्तिप्रद होनेके कारण ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठतर है)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) सर्वं (समस्त) अखिलं (अवशेषहीन) कर्म (कर्म) ज्ञाने परिसमाप्यते (ज्ञानमें समाप्तिको प्राप्त हो जाता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! द्रव्यरूपी साधनके द्वारा अनुष्ठित यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठतर है, क्योंकि समस्त कर्म निरवशेषरूपसे ज्ञान ही में जाकर लय हो जाते हैं।

चन्द्रिका—पहिले ही कहा गया है कि द्रव्यमय यज्ञोंको सकामभावसे करने पर इहलोक तथा परलोकमें थोड़ा बहुत सुख तो होता है किन्तु परिणाममें बन्धन ही इनके द्वारा होता है। और निष्कामरूपसे इनका अनुष्ठान मोक्षमें सहायक होने पर भी साक्षात्-रूपसे सहायक न होकर परम्परारूपसे ही सहायक हो सकता है। अतः साक्षात्‌रूपसे मोक्षप्रद ज्ञानयज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ हुआ। इसी ज्ञानमें सब कर्म लय हो जाते हैं। क्योंकि ज्ञानी पुरुषका संसारमें कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता है जैसा कि 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' इत्यादि श्लोककी चन्द्रिकामें कहा गया है। वे केवल प्रारब्धवश अथवा विराटकेन्द्र द्वारा चालित होकर अनायास ही कर्म करते रहते हैं, किसी कर्त्तव्यके बन्धनमें बद्ध होकर नहीं। अतः ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठतम है यह प्रमाणित हुआ ॥३३॥

यह ज्ञान कैसे प्राप्त होता है सो ही बता रहे हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

अन्वय—प्रणिपातेन (तत्त्वज्ञानी गुरुको प्रणाम करके) परिप्रश्नेन (उनके प्रति ब्रह्मविषयक प्रश्न करके) सेवया (उनकी सेवा करके) तद् (ज्ञानको) विद्धि (प्राप्त करो) तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः (प्रणिपात आदि द्वारा प्रसन्न होकर आत्मानुभवी

ज्ञानिगण) ते (तुम्हें) ज्ञानं उपदेक्ष्यन्ति (ज्ञानका उपदेश करेंगे)।

सरलार्थ—प्रणिपात, जिज्ञासा और सेवा द्वारा ज्ञानको प्राप्त करो। आत्माके तत्त्वको जाननेवाले अनुभवी ज्ञानिगण तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे।

चन्द्रिका—तत्त्वदर्शी ज्ञानी ही ब्रह्मज्ञानका उपदेश कर सकते हैं, केवल पुस्तक पढ़ कर जिसने ज्ञानकी बातें सीखी हैं वह नहीं कर सकता है। इसलिये श्लोकमें 'ज्ञानी' शब्दके साथ 'तत्त्वदर्शी' शब्दका प्रयोग हुआ है। ऐसे अनुभवी ज्ञानी गुरुसे ज्ञान प्राप्त करनेके तीन उपाय हैं यथा—प्रणिपात, जिज्ञासा और सेवा। अहंकार जीवका प्रधान बन्धन है, इसके नाशके बिना ज्ञानका उदय नहीं हो सकता है। प्रणिपातके द्वारा दीनता, शीलता, नम्रता आदि कोमल वृत्तिके उदय होने पर अहंकार घट जाता है, जिससे मुमुक्षुका अन्तःकरण तत्त्वज्ञानका आधार बनने योग्य हो जाता है। यही ज्ञानप्राप्तिके साधनोंमें 'प्रणिपात' की आवश्यकता है। बिना जिज्ञासाके अधिकारानुसार तत्त्वज्ञान मिलता नहीं है। क्योंकि शिष्य जब अपनी आध्यात्मिक स्थितिके अनुसार प्रश्न करेगा तभी उसके अधिकारके अनुसार उपदेश देनेमें गुरु समर्थ हो सकेंगे। इसी कारण मनुसंहितामें लिखा है कि 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयाद् न चान्यायेन पृच्छतः' बिना पूछे नहीं बोलना चाहिये और अन्यायरूपसे जल्प वितण्डा बुद्धिसे पूछने पर भी नहीं बोलना चाहिए। यही ज्ञान प्राप्तिके साधनोंमें 'परिप्रश्न' की आवश्यकता है। गुरु सेवा द्वारा गुरुके साथ आत्मीयता बढ़ती है। जिससे गुरुके आत्माकी झलक शिष्य के आत्मा पर स्वतः ही आ जाती है। यही कारण है कि केवल सेवामात्रसे

ही ज्ञानलाभ होनेके दृष्टान्त आर्यशास्त्रमें मिलते हैं । इस प्रकार तीन साधनोंके द्वारा ज्ञानलाभ करना चाहिये ।।३४।।

अथ ज्ञानलाभके फल बता रहे हैं— .

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ! ।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।३५।।
अपि चेदसि पापिभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।।३६।।
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।।३७।।

अन्वय—हे पाण्डव ! (हे अर्जुन !) यद् ज्ञात्वा (जिस ज्ञानको पाकर) पुनः एवं मोहं न यास्यसि (पुनः इस प्रकारके मोहको नहीं प्राप्त करोगे), येन (जिस ज्ञानसे) अशेषाणि भूतानि (समस्त प्राणियोंको) आत्मनि (अपनेमें) अथो (और तदनन्तर) मयि (व्यापक परमात्मामें) द्रक्ष्यसि (देखोगे)। सर्वेभ्यः अपि पापिभ्यः (सकल पापियोंसे भी) चेत् (यदि) पापकृत्तमः असि (तुम अधिक पापी हो), सर्वं वृजिनं (तथापि समस्त पापसमुद्रको) ज्ञानप्लवेन एव (ज्ञानरूपी नावके द्वारा ही) सन्तरिष्यसि (तुम तर जाओगे)। हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) यथा (जिस प्रकार) समिद्धः अग्निः (प्रज्वलित अग्नि) एधांसि (काष्ठोंको) भस्मसात् कुरुते (भस्म कर देती है) तथा (उसी प्रकार) ज्ञानाग्निः (ज्ञानरूपी अग्नि) सर्वकर्माणि (समस्त कर्मोंको) भस्मसात् कुरुते (जला देती है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! सद्गुरुके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे, तुम्हारा मोह छूट जायेगा और तब तुम सकल प्राणियोंको अपने आत्मामें तथा व्यापक परमात्मामें अभेदबुद्धिसे देख सकोगे। सकल पापियोंसे अधिकतम पापी होने पर भी, ज्ञानकी ऐसी महिमा है, कि तुम ज्ञाननौकासे पापसमुद्रको तर जाओगे। हे अर्जुन ! प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार काष्ठको भस्म कर देती है, ज्ञानरूपी अग्नि भी उसी प्रकार कर्मोंको जला देती है।

चन्द्रिका—ज्ञान प्राप्तिके फल वर्णनमें अर्जुनको निमित्त करके ज्ञानकी अलौकिक महिमा बताई गई है। तत्त्वज्ञानके प्राप्त होने पर 'मैं मेरा' यह द्वैत भाव और तज्जन्य मोह नष्ट हो जाता है। उस समय ज्ञानी अद्वैत भावका अनुभव करता हुआ प्रथमतः अपने ही आत्मामें सकल भूतोंको और उसके बाद व्यापक परमात्मामें समस्त विश्वको पत्थरमें खोदी हुई मूर्तिकी तरह देखने लगता है। ज्ञानसंस्कारके प्रबल होने पर समस्त अज्ञान तथा अविद्याके संस्कार दब जाते हैं और ज्ञानी उसी ज्ञानसंस्कारके प्रतापसे ब्रह्मको अनुभव कर मुक्त हो जाता है। इसीलिये कहा है कि महापापीसे महापापी क्यों न हो ज्ञानतरणि द्वारा पापसमुद्रको तर सकता है। और केवल पाप ही क्यों, ज्ञानके द्वारा त्रिगुणसे परे पहुंचने पर पाप पुण्य दोनों संस्कारोंसे ज्ञानी मुक्त हो जाता है। जीवके अन्तःकरणमें प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण ये तीन कर्मसंस्कार होते हैं। जन्मजन्मान्तरके सञ्चित कर्मको 'सञ्चित' कहते हैं, प्रत्येक जन्ममें जो नवीन कर्म किया जाय उसे 'क्रियमाण' कहते हैं, और

पूर्वजन्मके जिन कर्मोंके द्वारा स्थूल शरीर मिल जाता है उन्हें 'प्रारब्ध' कर्म कहते हैं, ज्ञानकी अग्निसे प्रारब्धके सिवाय और सब सञ्चित, क्रियमाण कर्म जल जाते हैं। ज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति होने पर नवीन कर्म बन ही नहीं सकते इसलिये क्रियमाण कर्म तो यों नष्ट हुए। और ज्ञानके द्वारा आत्माका अभिमान सम्बन्ध शरीरोंसे पृथक् हो जाने पर सूक्ष्मशरीर में रहनेवाले सञ्चित् कर्म मुक्तात्माको स्पर्श नहीं कर सकते, इसलिये ये भी कर्म यों जल गये। केवल प्रारब्ध कर्म जिसके द्वारा शरीर बन चुका है वह भोग द्वारा ही निवृत्त हो सकता है। इसलिये श्लोकमें जो 'सर्वकर्माणि' शब्दका प्रयोग हुआ है उससे 'प्रारब्धको छोड़ कर और सब कर्म' यही अर्थ लेना चाहिये। 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' प्रारब्धकर्मोंका भोगद्वारा क्षय होता है ऐसा शास्त्रमें भी प्रमाण मिलता है। यही सब ज्ञानकी महिमा है ॥ ३५-३७ ॥

यह ज्ञान कब और किसको मिलता है या नहीं मिलता है सो ही बता रहे हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥३८॥
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अन्वय—ज्ञानेन सदृशं (ज्ञानके तुल्य) पवित्रं (पवित्र वस्तु) इह न हि विद्यते (संसारमें और कुछ भी नहीं है), तत् (इस

ज्ञानको) कालेन योगसंसिद्धः (बहुत कालमें कर्मयोगमें सिद्धि लाभ करके मुमुक्षु), स्वयं आत्मनि विन्दति (अपने आत्मामें लाभ करता है)। श्रद्धावान् (गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्यमें श्रद्धालु) तत्परः (परमात्माकी उपासनामें रत) संयतेन्द्रियः (जितेन्द्रिय पुरुष) ज्ञानं लभते (ज्ञानको प्राप्त करता है), ज्ञानं लब्ध्वा (ज्ञानको पाकर) अचिरेण (शीघ्र ही) परां शान्ति (मोक्ष-रूपी आत्यन्तिक शान्तिको) अधिगच्छति (लाभ करता है)। अज्ञः च अश्रद्दधानः च (ज्ञानहीन और श्रद्धाहीन) संशयात्मा (तथा सन्दिग्ध पुरुष) विनश्यति (नाशको प्राप्त होता है अर्थात् कल्याणमार्गसे भ्रष्ट हो जाता है), संशयात्मनः सन्दिग्ध पुरुषका) अयं लोकः न अस्ति (इहलोकमें सुख नहीं है) न परः (परलोकमें भी कल्याण नहीं है) न सुखम् (और सुखलाभ भी भाग्यमें नहीं है)।

सरलार्थ—ज्ञानके तुल्य पवित्र वस्तु संसारमें और कुछ भी नहीं है, बहुकालके बाद कर्मयोगमें सिद्ध होकर तभी योगी अपने आत्मामें इस ज्ञानका अनुभव कर सकता है। श्रद्धावान्, जितेन्द्रिय, उपासनारत पुरुष ज्ञानको पा सकता है। ज्ञानलाभ होनेसे शीघ्र ही साधकको आत्यन्तिकी शान्ति मिलती है। श्रद्धाहीन, ज्ञानहीन तथा संशयी पुरुष कल्याणमार्गसे गिर जाता है, संशयीके लिये इहलोक भी नहीं, परलोक भी नहीं और सुख भी नहीं है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें कब और किसको ज्ञान प्राप्त होता है उसीका वर्णन किया गया है। ज्ञान बड़ी पवित्र वस्तु है क्योंकि इसीके द्वारा अविद्याकी अपवित्रतासे मुक्त होकर जीव परमपवित्र ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है। ब्रह्ममें युक्त हो कर निष्कामभावसे कर्म करते करते बहुकालके अनन्तर आत्मामें ज्ञानका अनुभव होता है। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' अनेक जन्म साधना करते करते सिद्धिलाभ होने पर तब परमगति मिलती है ऐसा आगे भी श्रीभगवान्‌ने कहा है। दूसरे श्लोकमें कर्मयोगकी तरह ज्ञान प्राप्तिके लिये उपासनायोगकी भी आवश्यकता बताई गई है। जो 'तत्पर' अर्थात् परमात्माकी उपासनामें रत हो, श्रद्धालु और जितेन्द्रिय हो उसीको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्यमें विश्वासका नाम श्रद्धा है। विना विश्वासके मनुष्य साधनाके पथमें अग्रसर नहीं हो सकता है। शिवसंहितामें लिखा है—'फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्' मेरी साधना सफल होगी यह विश्वास सिद्धिलाभका पहिला लक्षण है। इसी कारण तृतीय श्लोकमें कहा गया है कि विश्वासहीन संशयचित्त पुरुष कदापि कल्याणपथका पथिक नहीं बन सकता है। जो हर बातमें सन्देह करता है, किसी बात पर विश्वास नहीं करता उसको न इहलोकमें ही सुख मिलता है और न परलोकमें ही उन्नति तथा आत्यन्तिक शान्ति मिलती है, यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥ ३८-४० ॥

अब प्रकरणकी समाप्ति करते हुए कर्त्तव्य बता रहे हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ! ॥४१॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥४२॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

अन्वय—हे धनंजय ! (हे अर्जुन !) योगसंन्यस्तकर्माणं (योगके द्वारा जिसने कर्मकी वासनाको त्याग दिया है उसको) ज्ञानसंछिन्नसंशयं (ज्ञानके द्वारा जिसका संशय मिट चुका है उसको) आत्मवन्तं (आत्मामें युक्त आत्मवान् पुरुष को) कर्माणि न निबध्नन्ति (कर्मोंका बन्धन नहीं होता है)। तस्मात् (इसलिये) अज्ञानसम्भूतं (अज्ञानसे उत्पन्न) हृत्स्थं (अन्तःकरणमें स्थित) आत्मनः एनं संशयं (अपने इस संशयको) ज्ञानासिना (ज्ञानरूपी तलवारसे) छित्वा (काट कर) योगं आतिष्ठ (कर्म योगका अनुष्ठान करो), हे भारत ! (हे अर्जुन !) उत्तिष्ठ (युद्धके लिये प्रस्तुत हो जाओ)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! योगके द्वारा कर्मकी फलाकाङ्क्षाको त्यागनेवाले, ज्ञानके द्वारा संशयसे मुक्त आत्मवान् पुरुषको कर्मोंका बंधन नहीं स्पर्श करता है । इसलिये हे भारत ! तुम्हारे हृदयमें अज्ञानके कारण 'युद्ध करूं या न करूं' इस प्रकार जो संशय

उत्पन्न हो गया है, उसे ज्ञानरूपी तलवारसे काट कर कर्मयोग-में लग जाओ और युद्धरूपी कर्त्तव्यके लिये तैयार हो जाओ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें ज्ञान कर्म समुच्चयकी उपकारिताको बता कर श्रीभगवान्‌ने युद्धरूपी कर्त्तव्यके लिये अर्जुनको उत्साहित किया है। भगवान्‌में युक्त होकर निष्काम कर्म करनेसे कर्मका बन्धन नहीं लगता है और साथ ही साथ ज्ञानका आश्रय लेनेसे 'मैं मेरा' आदि मोहसे उत्पन्न 'मारूं या न मारूं' इस प्रकार संशय भी नहीं रहता है, अतः ज्ञान और निष्काम कर्म दोनोंके समुच्चय अर्थात् समन्वयके द्वारा मनुष्य अपने वर्णाश्रमानुरूप कर्त्तव्य का पूर्णरूपसे पालन कर सकता है। इस लिये अर्जुनको भी चाहिए कि ज्ञानकी सहायतासे अज्ञानमूलक संशयको छेदन करके अपने क्षत्रियवर्णोचित युद्धकार्यमें प्रवृत्त हो जाय और इस कर्त्तव्यको निष्काम कर्मयोग बुद्धिसे सम्पन्न करके परमकल्याणका अधि-कारी बने, यही उनके प्रति श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥४१-४२॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' नामक चतुर्थाध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थ अध्याय समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः ।

चतुर्थ अध्यायमें प्रथमतः निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते करते पश्चात् श्रीभगवान्ने ज्ञानयोगकी भी विशेष प्रशंसा की और ज्ञान जैसी पवित्र वस्तु संसारमें कुछ भी नहीं है, महापापी भी ज्ञानके ही सहारेसे तर सकता है, ज्ञानकी प्रचण्ड अग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर डालती है, इत्यादि बहुत कुछ उपदेश दिया । किन्तु ज्ञानकी इतनी स्तुति करने पर भी सबके अन्तमें अर्जुनको कर्म करनेकी ही आज्ञा दी और स्वधर्मपालनरूप युद्ध कार्यमें प्रवृत्त होनेको कहा। इस पर यही सन्देह हो सकता है कि जब ज्ञानमार्ग, जिसमें कर्मका संन्यास है, सबसे पवित्र तथा साक्षात् मुक्तिप्रद है तो पुनः कर्मयोगके पथका आश्रय क्यों किया जाय ? इसी सन्देहका निराकरण श्रीभगवान्ने अर्जुनकी शंकारूपसे इस अध्यायमें उत्तमरीतिसे कर दिया है यथा—

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण ! पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अन्वय—हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) कर्मणां संन्यासं (कर्मके त्यागको) पुनः योगं च (और पुनः कर्मयोगको) शंससि (उत्तम बतलाते हो) एतयोः यत् एकं श्रेयः (इन दोनोंमेंसे जो एक

मार्ग श्रेष्ठतर है) तत् मे (उसे ही मुझे) सुनिश्चितं ब्रूहि (निश्चय करके बताओ)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण ! तुम ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता बतलाते हुए कर्मसंन्यासकी भी प्रशंसा करते हो और पुनः कर्मयोगको भी उत्तम कहते हो । अतः इन दोनोंमेंसे जो एक श्रेष्ठतर हो उसे ही निश्चय करके मुझे बताओ।

चन्द्रिका—पूर्व अध्यायमें श्रीभगवान्ने जो ज्ञानकी इतनी प्रशंसा की थी, उसका यह लक्ष्य नहीं था कि अर्जुन कर्मयोगमार्गको छोड़ कर कर्मसंन्यास पथका ही पथिक बन जाय । इसका उद्देश्य केवल अर्जुनके जीवनमें ज्ञानकर्मका समुच्चय कराना था, ताकि ज्ञानकी सहायतासे अर्जुनका मोह कट जाय और युद्धरूपी स्वधर्मपालनमें निःसङ्कोच प्रवृत्ति अर्जुनको प्राप्त हो सके । इसी कारण ज्ञानकी इतनी स्तुति करने पर भी अन्तमें श्रीभगवान्ने अर्जुनका ध्यान कर्मयोगकी ओर ही आकर्षित किया और संशयजालको ज्ञानके द्वारा काट कर युद्धके लिये प्रस्तुत होनेको कहा। किन्तु दोनों मार्गकी ही स्तुति करनेसे अर्जुनको शंका होगई कि इनमेंसे कौन श्रेष्ठतर है और इसी पर अर्जुनकी यह जिज्ञासा हुई है ॥१॥

जिज्ञासाके अनुरूप उत्तर श्रीभगवान् देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

अन्वय—सन्यासः (कर्मका त्याग) कर्मयोगः च (और कर्मयोग) उभौ निःश्रेयसकरौ (दोनों ही मार्ग मुक्ति देनेवाले हैं)

तयोः तु (किन्तु इन दोनोंमें) कर्मसंन्यासात् (कर्मत्यागकी अपेक्षा) कर्मयोगः विशिष्यते (कर्मयोगको विशेषता अधिक है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—कर्मत्याग और कर्मयोग दोनों मार्ग ही मुक्तिप्रद हैं। किन्तु कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्मयोगमें विशेषता है।

चन्द्रिका—ज्ञानपथ और कर्मयोगपथ दोनोंके द्वारा ही आत्माका साक्षात्कार करके मुमुक्षु मोक्षलाभ कर सकता है, इस विषयमें पहिले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है। ज्ञानपथमें कर्मसंन्यास विहित होने पर भी शरीर रहते कर्मका पूर्णत्याग असम्भव है। क्योंकि चित्त-शुद्धिके अर्थ ज्ञानोदयसे पहिले भी कुछ कर्म करना ही पड़ता है और ज्ञानमें सिद्धिलाभ हो जाने पर भी प्रारब्ध क्षयरूपसे ज्ञानीको कुछ न कुछ करना ही होता है। दूसरी ओर कर्मयोग मार्गमें जबरदस्ती प्रकृतिको रोकना भी नहीं पड़ता है और युक्त होकर कर्म करनेके कारण उससे बन्धन न होकर मोक्षकी ही प्राप्ति होती है। इस कारण श्रीभगवान् कहते हैं कि दोनों मार्ग ही मुक्तिप्रद हैं किन्तु कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगमें ही विशेषता अधिक है ॥ २ ॥

अब ऐसे सच्चे संन्यासी कौन होते हैं सो ही बता रहे हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो! सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥३॥

अन्वय—यः न द्वेष्टि न कांक्षति (जिसमें न द्वेष है और न राग है) सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः (उसे कर्मयोगमें प्रवृत्त

रहने पर भी नित्यसंन्यासी जानना चाहिये), हि (क्योंकि) हे महाबाहो! (हे अर्जुन!) निर्द्वन्द्वः (ऐसा रागद्वेषरूपी द्वन्द्वसे रहित पुरुष) सुखं (अनायास) बन्धात् प्रमुच्यते (संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है)।

सरलार्थ—जो न किसी वस्तुके प्रति आसक्ति रखता है और न किसीसे द्वेष रखता है, किन्तु केवल परमात्मामें युक्त होकर निष्काम कर्म करता है उसे ही नित्यसंन्यासी जानना चाहिये, क्योंकि हे अर्जुन! ऐसा रागद्वेषरहित पुरुष अनायास ही संसारबन्धनसे मुक्त होकर निःश्रेयसलाभ करता है।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें श्रीभगवान्ने यही उपदेश दिया है कि जब किसी अवस्थामें भी एकबारगी कर्मत्याग करना असम्भव है तो सच्चा कर्मसंन्यासी वही है जो कि शरीरसे कर्मत्याग न करे किन्तु रागद्वेषरूपी द्वन्द्वसे बच कर निष्काम बुद्धिसे कर्मयोगका अनुष्ठान करता जाय। क्योंकि ऐसा निस्पृह तथा द्वन्द्वरहित पुरुष ही अनायास बन्धन-मुक्त हो कर अपवर्ग लाभ कर सकता है॥ ३॥

प्रसङ्गानुसार सिद्धान्त बता रहे हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

अन्वय—बालाः (अज्ञ लोग) सांख्ययोगौ पृथक् प्रवदन्ति (कर्म संन्यास और कर्मयोग पृथक् पृथक् हैं ऐसा कहते हैं) न पण्डिताः (किन्तु विद्वान् लोग ऐसा नहीं कहते), एकं अपि सम्यक् आस्थितः (इन दोनोंमेंसे एक मार्गका भी भली भांति आचरण करता हुआ) उभयोः फलं (मोक्षरूपी दोनोंके फलको) विन्दते (लाभ करता है)। सांख्यैः (ज्ञानमार्गवालोंको) यत् स्थानं प्राप्यते (जो मोक्षरूपी पद मिलता है) योगैः अपि (कर्मयोगियोंको भी) तत् गम्यते (वही प्राप्त होता है) यः (जो) सांख्यं च योगं च (ज्ञानमार्ग और कर्ममार्गको) एकं पश्यति (अभिन्न देखता है) सः पश्यति (वही ठीकतत्त्व को देखता है)।

सरलार्थ—अज्ञ लोग ही कर्मसंन्यासरूपी ज्ञानमार्ग और कर्मयोगमार्गको पृथक् पृथक् कहते हैं किन्तु पण्डित लोग ऐसा नहीं कहते। इनमेंसे किसी एकका भी भली भांति आचरण करता हुआ मनुष्य दोनों का ही फललाभ कर लेता है। ज्ञानमार्गवालोंको जो परमस्थान प्राप्त होता है, कर्मयोगी भी वहीं पहुंचते हैं, जो इन दोनों मार्गोंको अभिन्न देखता है, वही ठीक देखता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें अन्तिम लक्ष्य तथा फलविचारसे ज्ञानयोग और कर्मयोगकी अभिन्नता बताई गई है। यद्यपि ज्ञानयोगमें विचारकी प्रधानता तथा कर्मकी गौणता है और कर्मयोगमें आत्मामें युक्त होकर निष्काम कर्मानुष्ठानकी प्रधानता है, तथापि अन्तमें दोनोंके द्वारा

ही आत्माका साक्षात्कार तथा अपवर्गलाभ होता है। और इन दोनोंमेंसे एकके भी अनुष्ठान द्वारा वही परमफल लाभ होता है। अतः विद्वान् जन दोनोंको एक ही समझते हैं और ऐसी अभेद दृष्टिको ही तत्त्वदृष्टि जाननी चाहिये, यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥४—५॥

दोनोंके एक होने पर भी कर्मयोगमें विशेषता क्या है सो बता रहे हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो! दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

अन्वय—हे महाबाहो! (हे अर्जुन!) अयोगतः (कर्मयोगके विना) संन्यासः (कर्म त्याग) आप्तुं दुःखं (प्राप्त करना कष्टकर है), योगयुक्तः तु मुनिः (किन्तु कर्मयोगमें युक्त साधु पुरुष) न चिरेण (शीघ्र ही) ब्रह्म अधिगच्छति (ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है)। योगयुक्तः (आत्मामें युक्त रह कर कर्मयोगका करनेवाला) विशुद्धात्मा (पवित्रमना) विजितात्मा (जिसका शरीर वशमें है) जितेन्द्रियः (जिसकी इन्द्रियां वशमें हैं) सर्वभूतात्मभूतात्मा (जिसका आत्मा सकलभूतोंके आत्माके साथ एक हो गया अर्थात् अभिन्न आत्मदर्शी पुरुष) कुर्वन् अपि (कर्म करते रहने पर भी) न लिप्यते (कर्ममें लिप्त नहीं होता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! कर्मयोगके विना कर्मसंन्यासको पाना बहुत ही कष्टकर है। किन्तु योगयुक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म-

को पा लेते हैं। योगयुक्त, पवित्रचित्त, देह तथा इन्द्रियोंके निग्रह करनेवाले महात्मा, जिनने सकल जीवोंके आत्माके साथ अपने आत्माकी अभिन्नता देख ली है, कर्ममें लगे रहने पर भी उसमें बद्ध नहीं होते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनोंमें ही सिद्धिलाभके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता बताई गई है। ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करते करते जब चित्तशुद्धि हो जाती है तभी निर्मल अन्तःकरणमें आत्मज्ञानकी प्रतिष्ठा हो सकती है। इसके सिवाय निष्काम कर्मयोग द्वारा चित्तके उदार हुए बिना परमोदार सर्वतोव्याप्त ब्रह्मकी धारणा भी मुमुक्षुको नहीं हो सकती है। अतः ज्ञानयोगमें कर्मकी गौणता रहने पर भी आवश्यकता अवश्य ही माननी होगी, यही कर्मसंन्यासके लिये कर्मयोगकी उपयोगिता बतानेका तात्पर्य है। इसी कारण कर्मयोगको छोड़ कर जबरदस्ती कर्मसंन्यास ले लेना ठीक नहीं है, और इस प्रकारसे स्वाभाविक प्रवृत्ति पर बलात्कार करना केवल ज्ञानका दम्भ बताना मात्र है। दूसरी ओर कर्मयोगीको प्रकृति पर बलात्कार नहीं करना पड़ता है, वे प्रकृतिके अनुकूल कार्यमें निष्काम भावसे युक्त रह कर अनायास ही ब्रह्मको लाभ कर लेते हैं। आत्मामें युक्त होकर कर्म करते करते अन्तमें सभी आत्माओंकी अभिन्नता अपने आत्मामें अनुभव कर ऐसे योगी कृतकृत्य होते हैं। ऐसी मुक्त दशामें उनका कोई कर्त्तव्य न रहने पर भी प्रारब्ध क्षयरूपसे अथवा जगत् कल्याणके लिये विराटसत्ता द्वारा प्रेरित होकर वे जो कुछ कार्य करते हैं उसके द्वारा भी उन्हें बन्धन प्राप्त नहीं होता है। यही कर्मयोगकी विशेषता है ॥६—७॥

अब कर्मयोगसिद्ध पुरुषकी निर्लिप्तताके लक्षण बताते हैं—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणींद्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

अन्वय—युक्तः तत्त्ववित् (कर्मयोगमें युक्त होकर तत्त्ववेत्ता पुरुष) पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् (देखते सुनते स्पर्श करते घ्राण लेते हुए) अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् (खाते जाते लेटते श्वास प्रश्वास लेते हुए) प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् (बोलते मलमूत्र त्याग करते तथा ग्रहण करते हुए) उन्मिषन् निमिषन् अपि (और आंखोंके पलक खोलते तथा बन्द करते हुए भी) इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते इति धारयन् (इन्द्रियगण अपने अपने विषयोंमें लगी हुई हैं ऐसी धारणा करके) किञ्चित् एव न करोमि (मैं कुछ भी नहीं करता हूं) इति मन्येत (ऐसा समझा करते हैं)।

सरलार्थ—योगयुक्त तत्त्ववेत्ता पुरुष दर्शन श्रवण घ्राण भोजन स्पर्शरूपी ज्ञानेन्द्रिय व्यापार, गमन कथन मलमूत्रत्याग तथा ग्रहणरूपी कर्मेन्द्रिय व्यापार, श्वास प्रश्वास आदि पञ्च-प्राण व्यापार, नेत्र खोलना बन्द करना आदि पञ्चगौण प्राण-का व्यापार, और निद्रारूपी अन्तःकरण व्यापार—इन सबमें इन्द्रियादि अपने अपने व्यापारमें लगे हुए हैं, मेरा आत्मा

उससे पृथक् है ऐसी धारणा करके, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूं ऐसा ही समझते हैं ।

चन्द्रिका---ये दो श्लोक पूर्व कहे हुए 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' इस वचनके दृष्टान्तरूप हैं । पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन तथा दशविध प्राणोंके द्वारा पृथक् पृथक् चेष्टाएं होती रहती हैं, किन्तु तत्त्ववेत्ता पुरुष अपने आत्माको इन सब व्यापारोंसे पृथक् समझते हैं और इन्हें शरीर, इन्द्रियां अन्तःकरण आदिके व्यापार समझकर इनमें लिप्त नहीं होते हैं । यही तत्त्ववेत्ता कर्मयोगमें सिद्धि प्राप्त योगी पुरुषका निर्लिप्त भाव है ।। ८-९ ।।

सिद्धकी तरह साधक भी निर्लिप्त रहते हैं यथा—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥१०॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

अन्वय—यः (जो योगी) ब्रह्मणि आधाय (परमात्मामें फलाफल समर्पण करके) सङ्गं त्यक्त्वा (आसक्तिरहित होकर) कर्माणि करोति (कर्मोंको करता है) सः (वह) अम्भसा पद्मपत्रं इव (कमलका पत्र जिस प्रकार जलके द्वारा लिप्त नहीं होता है ऐसा ही) पापेन न लिप्यते (पापके द्वारा अर्थात् पापपुण्यात्मक कर्मके द्वारा लिप्त नहीं होता है)। योगिनः (इस कारण योगिगण) सङ्गं त्यक्त्वा (आसक्तिरहित होकर) आत्मशुद्धये

(आत्माकी शुद्धिके लिये) कायेन (शरीरके द्वारा) मनसा (मनके द्वारा) बुद्ध्या (बुद्धिके द्वारा) केवलैः इन्द्रियैः अपि (और केवल इन्द्रियोंके द्वारा भी) कर्म कुर्वन्ति (कर्म करते हैं)।

सरलार्थ—जो योगी परमात्मामें फलाफल समर्पण करके आसक्तिरहित होकर कर्मयोगका अनुष्ठान करता है, वह जल-मध्यस्थित कमलदलकी तरह पापपुण्यात्मक किसी भी कर्मके द्वारा बद्ध नहीं होता है। यही कारण है कि योगिगण आत्म-शुद्धिके लिये आसक्ति छोड़ कर केवल शरीर, मन, बुद्धि या इन्द्रियोंके द्वारा कर्म करते रहते हैं।

चन्द्रिका—कर्मयोगसिद्ध तत्त्ववेत्ताकी अनायास कर्मविधिका वर्णन करके कर्मयोगकी साधनावस्थामें योगीका क्या भाव रहता है उसीका वर्णन इन श्लोकों द्वारा किया गया है। साधनावस्थामें योगीके दो ही भाव रहते हैं—एक सब कर्मोंका ब्रह्ममें अर्पण और दूसरा फलाफलमें आसक्तिशून्य रहना। इन दोनों भावोंके साथ कर्मयोग करते रहने पर कमलपत्र जिस प्रकार जलमें लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार योगी भी कर्मबन्धनमें नहीं फंसता और ऐसे योगीके आत्माके ऊपरसे मल, विक्षेप, आवरण सभी हट जाते हैं और उसके पवित्र आत्मामें अद्वैत भावका अनुभव होने लगता है। श्लोकमें 'पाप' शब्दके द्वारा पाप-पुण्यरूपी कर्म पर लक्ष्य किया गया है अर्थात् ऐसा योगी पापकर्म या पुण्यकर्म किसीके द्वारा लिप्त नहीं होता। दूसरे श्लोकमें 'केवल' शब्दका सम्बन्ध 'काय' 'मन' 'बुद्धि' और 'इन्द्रिय' सभीके साथ समझने योग्य

है । अर्थात् योगी आसक्तिहीन, ममत्वहीन होकर केवल शरीर इन्द्रियादि मात्रके द्वारा कर्म करता है ॥१०-११॥

प्रसङ्गानुसार कर्मयोगकी उन्नत स्थिति बता रहे हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥१३॥

अन्वय—युक्तः (योगयुक्त पुरुष) कर्मफलं त्यक्त्वा (कर्मफलको त्याग करके) नैष्ठिकीं शान्तिं (योगद्वारा परमात्मामें एकान्त निष्ठासे उत्पन्न विमल पूर्ण शान्तिको) आप्नोति (पाता है) अयुक्तः (योगहीन पुरुष) कामकारेण (वासनाके द्वारा प्रेरित होनेसे) फले सक्तः (कर्मफलमें आसक्त होकर) निबध्यते (बन्धन प्राप्त होता है)। वशी (जितेन्द्रिय) देही (देहवान् पुरुष) मनसा सर्वकर्माणि संन्यस्य (मनके द्वारा सकल कर्मोंको छोड़ कर अर्थात् कर्मोंके प्रति फलासक्तिरहित हो कर) सुखं (बड़े आनन्दसे) नवद्वारे पुरे (नौ द्वारसे युक्त देहनगरीमें) न एव कुर्वन् न कारयन् (न कुछ करता और न कराता हुआ) आस्ते (रहा करता है)।

सरलार्थ—योगयुक्त पुरुष कर्मफलका परित्याग करके आत्मामें निष्ठाजन्य आत्यन्तिक पूर्ण शान्तिका लाभ करते हैं, किन्तु अयुक्त जीव कामनाका दास बन कर कर्मफलमें आसक्त

हो कर्मबन्धन द्वारा बद्ध हो जाता है। जितेन्द्रिय योगी वासना-रहित होनेके कारण मनसे सभी कर्मोंका त्याग करके नवद्वार देहनगरीमें कुछ न करते कराते सुखसे विराजते रहते हैं।

चन्द्रिका--इन श्लोकोंमें आत्मामें युक्त कर्मयोगीकी क्रमशः प्राप्त परमोन्नत आध्यात्मिक स्थिति बताई गई है। योगहीन पुरुष वासनाका दास बन कर दुर्दशाको पाता है, किन्तु योगयुक्त पुरुष आत्मामें एकान्त निष्ठा रखते हुए आत्माकी विमल शान्तिका उपभोग करते हैं, अन्तमें पूर्णवासनाशून्य हो जाने पर योगीको यही अनुभव हो जाता है कि उनका आत्मा शरीरसे बिलकुल निर्लिप्त है, जो कुछ कर्त्ता धर्त्ता है सब शरीरकी प्रकृति ही है, वह केवल देहनगरीमें उदासीन तथा आनन्दभावमें बसा हुआ है। यही योगीकी अत्युत्तम, आनन्दमयी निर्लिप्त स्थिति है। श्लोकमें 'मनसा' शब्दके द्वारा यही बताया गया है कि शरीरके द्वारा चेष्टा होते रहने पर भी योगीका मन कर्ममें नहीं फंसता है। शरीरमें दो कान, दो आंख, दो नाक, मुख, पायु और उपस्थ ये नौ छिद्र होते हैं, जिस कारण शरीरको नवद्वारपुरी कहा जाता है ॥१२-१३॥

अब शास्त्रप्रमाणसे आत्माकी इस निर्लिप्त स्थितिका वर्णन कर रहे हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥१४॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

अन्वय—प्रभुः (परमात्मा) लोकस्य (लोगोंके) न कर्तृत्वं न कर्माणि न कर्मफलसंयोगं सृजति (कर्तृत्व, कर्म तथा कर्मफलके साथ सम्बन्धको नहीं करते) स्वभावः तु (किन्तु प्रकृति) प्रवर्त्तते (सब कुछ करती है)। विभुः (परमात्मा) कस्यचित् (किसीका भी) पापं न आदत्ते (पाप नहीं लेते) न च एव सुकृतं (और पुण्यको भी नहीं लेते), अज्ञानेन (अज्ञानके द्वारा) ज्ञानं आवृतं (ज्ञान ढका हुआ है) तेन (इस कारण) जन्तवः (जीवगण) मुह्यन्ति (मुग्ध हो जाते हैं)।

सरलार्थ—जीवमें जो 'मैं करता हूं' यह कर्तृत्वभाव है, कर्म है और कर्मफलके साथ जीवका सम्बन्ध भी है, इसमें परमात्मा कुछ भी नहीं करते या कराते। केवल माया ही जीवके द्वारा ये सब कराती है। किसीके पाप या पुण्यके साथ भी परमात्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। अज्ञान या अविद्याके द्वारा जीवका ज्ञान आच्छन्न है, इसी कारण संसारमें मुग्ध होकर कर्तृत्व आदि अभिमानके द्वारा जीव ग्रस्त हो जाता है। प्रकृतिके इन सब खेलोंके साथ निर्लिप्त आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

चन्द्रिका—आत्मामें युक्त होकर निष्काम कर्मको करते करते देहनगरीमें विराजमान आत्माकी निर्लिप्तताके विषयमें योगीको जो अनुभव होने लगता है उसीका शास्त्रीय वर्णन इन दो श्लोकोंमें किया गया है। श्रुतिमें लिखा है—"समानः सन् उभौ लोकावनुसञ्चरति

ध्यायतीव लेलायतीव स धीः" "स न साधुना कर्मणा भूयान्नासाधुना कर्मणा कनीयान्" आत्मा समान रूपसे दोनों लोकोंमें व्याप्त है, प्राकृतिक सदसत् परिणामके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, वह किसीके पुण्यकर्मसे न पुष्ट ही होता है और किसीके पापकर्मसे न छोटा ही हो जाता है। प्रकृतिके त्रिगुण परिणाम द्वारा ही संसारमें कर्त्तत्व, भोक्तृत्व, कर्म, कर्मफल, पाप पुण्य आदि उत्पन्न होते हैं और प्रकृति अज्ञान द्वारा जीवको फंसाकर कर्तृत्वादि अभिमान जीवके हृदयमें भर देती है। अतः अज्ञान ही बन्धनका कारण है। योगयुक्त होकर नवद्वारपुरीमें आत्माकी उदासीनता तथा निर्लिप्तताको देखते देखते यह अज्ञान कट जाता है और तभी योगीके निर्मल चित्तमें यथार्थ ज्ञानका उदय होता है ॥ १४—१५ ॥

यह ज्ञान तथा इसका फल क्या है सो ही बता रहे हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

अन्वय—आत्मनः ज्ञानेन तु (किन्तु तत्त्वज्ञानके द्वारा) येषां तत् अज्ञानं (जिनका वह अज्ञान) नाशितं (नष्ट हो जाता है) तेषां तत् ज्ञानं (उनका वह ज्ञान) आदित्यवत् (सूर्यकी तरह) परं प्रकाशयति (परमतत्त्वरूपी ज्ञेय वस्तुको प्रकाशित करता है)। तद्बुद्धयः (परमतत्त्वमें जिनकी बुद्धि लगी हुई है)

तदात्मानः (परमतत्त्व ही जिनका आत्मा है) तन्निष्ठाः (परम-तत्त्वमें जो सदा ठहरते हैं) तत्परायणाः (परमतत्त्व ही जिनकी परम गति है ऐसे महात्मागण) ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः (ज्ञानके द्वारा निष्पाप होकर) अपुनरावृत्ति (निर्वाण मोक्षको) गच्छन्ति (पाते हैं)।

सरलार्थ—किन्तु तत्त्वज्ञानके द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट हो चुका है उनके लिये वही तत्त्वज्ञान सूर्य जिस प्रकार समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञेयरूपी परमतत्त्वको प्रकाशित कर देता है। इसी परमतत्त्वरूपी परमात्मामें जिनकी बुद्धि समाविष्ट है, आत्मा अद्वैतभावके साथ लवलीन है, निष्ठा-पूर्ण है तथा परमतत्त्व ही जिनका परम आश्रयस्थान है, ऐसे महात्मागण ज्ञानद्वारा निष्पाप होकर उस परमपदको पाते हैं जहांसे दुःखमय संसारमें उन्हें पुनः लौटना नहीं पड़ता है।

चन्द्रिका—जब तक हृदयमें अज्ञानका अन्धकार भरा हुआ है तब तक न आत्माका सच्चा निर्लिप्त स्वरूप ही जीवको सूझता है और न तत्त्वज्ञानका ही विकाश होता है। इस दशामें जीव अविद्याका दास बन कर घटियन्त्रकी तरह जननमरणचक्रमें घूमता रहता है। किन्तु योगयुक्त होकर स्वधर्मका पालन करते करते योगी जब तत्त्वज्ञानको लाभ कर लेता है तब उनका समस्त अज्ञानान्धकार कट जाता है और सूर्य प्रकाश-की तरह ज्ञान प्रकाशसे ज्ञेय परमात्माका उन्हें पता लग जाता है। इसी परमात्मामें अपनी आत्माकी अभिन्नताको देख कर परमात्मामें ही लवलीन हो ज्ञानी महात्मा परमधामको पा जाते हैं ॥१६-१७॥

अब तत्त्वज्ञानी पुरुषकी उत्तमा अद्वैत स्थितिका वर्णन कर रहे हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

अन्वय—विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे (ज्ञान तथा विनयसे युक्त उत्तम संस्कारी ब्राह्मणमें) गवि (संस्कारहीन मध्यम कोटिके जीव गाय आदिमें) हस्तिनि शुनि च श्वपाके एव च (अधम तामसिक कोटिके जीव हाथी, कुत्ते, चाण्डाल, आदिमें भी) पण्डिताः (ज्ञानिगण) समदर्शिनः (अद्वैत आत्माके विचारसे एकदर्शी होते हैं)। येषां मनः साम्ये स्थितं (जिनका मन समभावमें ठहर गया है) इह एव (यहीं जीवित कालमें ही) तैः सर्गः जितः (उन्होंने संसारको जीत लिया है) हि (क्योंकि) ब्रह्म निर्दोषं समं (ब्रह्म दोषशून्य तथा सम है) तस्मात् (इस लिये) ते ब्रह्मणि स्थिताः (समदर्शी तथा समभावमें स्थित पुरुषगण ब्रह्ममें ही स्थित होते हैं)। ब्रह्मवित् (ब्रह्मवेत्ता)

ब्रह्मणि स्थितः (ब्रह्मस्वरूपमें विराजमान्) स्थिरबुद्धिः (संशयहीन निश्चल बुद्धि) असंमूढ़ः (मोहवर्जित महात्मा) प्रियं प्राप्य (प्रिय वस्तुको पाकर) न प्रहृष्येत् (आनन्दसे अधीर नहीं होते हैं) अप्रियं च प्राप्य (और अप्रिय वस्तुको पाकर) न उद्विजेत् (दुःखसे चञ्चल नहीं हो जाते हैं)। बाह्यस्पर्शेषु (बाहिरी इन्द्रियोंके विषयोंमें) असक्तात्मा (आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष) आत्मनि (आत्मामें) यत् सुखं (जो सुख है) विन्दति (उसीको पाता है), सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (ऐसा ब्रह्ममें योगके द्वारा युक्तचित्त पुरुष) अक्षय सुखं अश्नुते (क्षयरहित नित्यानन्दको लाभ करता है)।

सरलार्थ—प्रकृति वैषम्यके भीतर भी सम आत्मा एक ही है इस विचारसे ज्ञानिगण विद्या विनयसे युक्त उत्तम कोटिके जीव ब्राह्मण, मध्यम कोटिके जीव गवादि तथा अधम कोटिके जीव हस्ती, श्वान, चाण्डालादि सभीमें समदर्शी होते हैं। इस लोकमें ही उन्होंने संसारको जीत लिया है, जिनका अन्तःकरण इस साम्यमें ठहर गया, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष तथा सम है, इसलिये वे साम्यमें ठहर कर ब्रह्ममें ही ठहरते हैं। ऐसे ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मस्वरूपमें विराजमान, निश्चलबुद्धि, मोहवर्जित महात्मा न प्रियमें ही प्रसन्न होते हैं और न अप्रिय में ही उद्विग्न होते हैं। जिनका मन बाहिरी इन्द्रियोंके विषयोंमें नहीं फंसता है उनको आत्माका ही आनन्द मिलता है, ऐसे ब्रह्ममें योगयुक्त पुरुष नित्यानन्दका उपभोग करते हैं।

चन्द्रिका—सभीमें आत्माके अनुभवसे समदृष्टि होना, मायासे परे समभावमें सदा विराजमान रहना, प्रियाप्रिय, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंमें उदासीन तथा एक भावापन्न रहना और अपार ब्रह्मानन्द महासागरमें डूबे रहना—यही सब तत्त्वज्ञानी महात्माकी अनोखी स्थिति है। ज्ञानी महात्मा अद्वैत आत्माके अनुभवसे उत्तम, मध्यम, अधम सभी जीवोंमें 'समदर्शी' होने पर भी 'समवर्त्ती' नहीं होते हैं। श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—'भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्' अद्वैत भावमें होना चाहिये किन्तु क्रियांमें नहीं होना चाहिये। अन्यथा पत्नी और माताका भेद भूलकर तथा मुनि और चाण्डालका भेद भूलकर अनुष्य अनाचारी, अत्याचारी हो सकता है। इस कारण आत्माके अद्वैत बोधसे समदृष्टि रहने पर भी ज्ञानी महात्मा भिन्न भिन्न पिण्डमें आत्माके विकाश तारतम्यानुसार वर्त्तावमें लघुगुरुका भेद अवश्य ही करते हैं, यही प्रथम श्लोकका रहस्य है। द्वितीय श्लोकका तात्पर्य यह है कि समस्त वैषम्य मायाके तीन गुणोंकी विषमताके द्वारा ही उत्पन्न होता है। समस्त प्रपञ्च इसीके भीतर है और इससे बाहर सम ब्रह्म हैं। इस कारण जिस महात्माने अपनी त्रिगुणमयी प्रकृतिकी विषमताको दूर कर दिया है, उसने प्रपञ्चको भी जीत लिया है और ब्रह्मको भी पा लिया है यही समझना चाहिये। ब्रह्म निर्दोष तथा सम है। जहां प्रकृति है वहीं त्रिगुण विकारसे उत्पन्न गुण दोष हैं। जहां प्रकृति नहीं है वहां न गुण है और न दोष है। इस कारण प्रकृतिराज्यके भीतरकी सभी वस्तुओंमें गुण दोष दोनों ही होते हैं और इससे परे विराजमान समरूपी ब्रह्म निर्गुण भी है और निर्दोष भी है। समभावमें स्थित महात्मा इसी

ब्रह्मको जान कर ब्रह्मभावमें स्थित तथा ब्रह्मरूप हो जाते हैं। वे संसारमें रहते हुए ही संसारको इस तरहसे जीत लेते हैं। यथा—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्तावनि-
यंज्ञानाञ्च कृतं सहस्रमखिलं देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्य्यं मनः प्राप्नुयात्॥

जिसका मन ब्रह्मविचारमें क्षणभर भी ठहरता है, जानना चाहिये कि उसने समस्त तीर्थस्नानका पुण्य लाभ कर लिया है, समस्त पृथिवी-दानका भी फल पा लिया है, सहस्र यज्ञानुष्ठान तथा कोटि कोटि देव-पूजनका भी फल उसको मिल गया, अपने पितरोंको उसने तार दिया और स्वयं भी त्रिलोकीका पूज्य बन गया। यही सब ब्रह्मकी तथा ब्रह्म-मय महात्माकी महिमा है, ऐसे ज्ञानी महात्मा आत्मामें ठहर कर लौकिक सुखदुःख, प्रिय अप्रिय आदि द्वन्द्व वस्तुओंमें नहीं फँसते और न बाहिरी इन्द्रियोंके विषयोंमें ही फंस जाते हैं। व आत्मामें विराजमान होकर आत्माके ही नित्यानन्दमें लबालब भरे रहते हैं। विषयका सुख सीमाबद्ध, क्षयशील तथा परिणाममें दुःखदायी है, किन्तु आत्माका आनन्द असीम, अक्षय तथा सुखदुःखसे रहित नित्यानन्द है। यथा श्रुतिमें—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं यदन्तःकरणेन गृह्यते॥

समाधिके द्वारा निर्मल तथा आत्मामें लवलीन अन्तःकरणमें जो

असीम नित्यानन्दका अनुभव होता है, उसका वर्णन शब्दके द्वारा होना असम्भव है, योगी केवल अन्तःकरणके गम्भीर देशमें ही उस अनुपम, असीम, अक्षय आनन्दका उपभोग तथा अनुभव कर सकता है। यही सब मुक्तात्मा ज्ञानी पुरुषकी उत्तमा स्थिति है ॥१८-२१॥

अब प्रसङ्गापात्त बाह्यविषयसुखके मन्द परिणामको बता कर अन्तःसुखकी उत्तमताको दिखा रहे हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यंतवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

अन्वय—हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) ये हि (जो कुछ) संस्पर्शजाः भोगाः (विषयोंके साथ इन्द्रियोंके स्पर्श द्वारा उत्पन्न भोग हैं) ते एव (वे सब केवल) दुःखयोनयः (दुःखके ही उत्पत्ति करने वाले होते हैं) आद्यन्तवन्तः (वे आदि अंतसे युक्त अर्थात् अनित्य होते हैं), बुधः (इसलिये विवेकी जन) तेषु (उन विषयोंमें) न रमते (नहीं रमण करते हैं)। यः (जो) शरीरविमोक्षणात् प्राक् (मरनेके बाद जैसे मरनेसे पहिले) इह एव (जीते जो) कामक्रोधोद्भवं वेगं (काम और क्रोधसे उत्पन्न वेगको) सोढुं शक्नोति (धीरतासे सहन कर सकता है) सः नरः (वही

मनुष्य) युक्तः (योगी) सः सुखी (वही मनुष्य सुखी है)। यः (जो योगी) अन्तः सुखः (विषयोंमें सुखकी लालसा न रख कर आत्मामें ही सुखी रहते हैं) अन्तरारामः (आत्मामें ही रमण करते हैं) तथा यः अन्तर्ज्योतिः (और जिनको प्रकाश आत्मासे ही मिलता है) सः एव योगी (वे ही योगी) ब्रह्मभूतः (ब्रह्मरूप होकर) ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति (ब्रह्ममें लयलीन हो जाते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! बाहिरी विषयोंके साथ इन्द्रियोंके संस्पर्श द्वारा जो कुछ भोगसुख उत्पन्न होते हैं वे दुःखकी ही जननी हैं, इनके आदि अन्त होनेके कारण वे सब अनित्य हैं, इस लिये विवेकी पुरुष बाहिरी विषयसुखमें नहीं फंसते हैं। जैसे प्राण निकल जाने पर मृतशरीरमें काम क्रोधके वेग नहीं होते हैं ऐसे ही जीते जी जो काम क्रोधके वेगको सहन कर सकता है वही योगी है और वही सुखी है। जिनका सुख आत्मामें है, जिनका रमण आत्मामें है और जिनको प्रकाश लाभ आत्मासे ही होता है, वेही योगी ब्रह्मरूप होकर ब्रह्ममें ही अनन्त निर्वाणको पा जाते हैं।

चन्द्रिका— इन श्लोकोंमें प्रथमतः विषयसुखकी तुच्छता बता कर पश्चात् आत्मानन्दकी महिमा बताई गई है। योग दर्शनमें सूत्र है—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' अर्थात् विषयसुखके साथ परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कार दुःख आदिके होनेसे विवेकी पुरुष विषयसुखको दुःख ही समझते हैं। परिणामदुःख

अर्थात् विषय सेवाके परिणाममें इहलोकमें रोगादिजन्य अनेक दुःख, मृत्युके समय वियोगदुःख, मृत्युके बाद नरकदुःख तथा परजन्ममें हीनयोनि लाभके द्वारा अनेक दुःख होते हैं। तापदुःख अर्थात् सुखभोगके समय समानसुखी या अधिकसुखीको देख कर ईर्ष्याद्वेषजन्य अनेक दुःख होते हैं। संस्कारदुःख अर्थात् यौवनकालीन विषयभोगका संस्कार असमर्थ वृद्धदशामें अनेक दुःख उत्पन्न करता है। इन्हीं कारणोंसे विवेकी जन विषयसुखको दुःखकी जननी समझ कर उसमें नहीं फंसते हैं। किन्तु अविवेकी जन तमो मोह महामोहके कारण इसी विषयविषमें ही रमे रहते हैं। और पश्चात् हाहाकार करते रहते हैं। यही गहना मोहमहिमा तथा अविद्याकी लीला है। श्लोकमें 'बुध' शब्द तथा सूत्रमें 'विवेकिनः' शब्द देनेका यही तात्पर्य है। अर्थात् 'बुध' गणके विरत होने पर भी 'अबुध' गण विषयमें रमे ही रहते हैं। द्वितीय श्लोकमें विषयत्यागी जीवकी सुखमय योगस्थितिका वर्णन किया गया है। महर्षि वशिष्ठने कहा है—

प्राणे गते यथा देहः सुखदुःखे न विन्दति।
तथा चेत् प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥

जिस प्रकार शरीरसे प्राण निकल जाने पर वह शरीर स्त्रीके द्वारा आलिङ्गित होने पर भी कामुक नहीं होता है और पुत्रादिके द्वारा जलाये जाने पर भी क्रुद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार जीते जी ही जिसने काम तथा क्रोधके वेगको सात्त्विकी धृतिके द्वारा इतना दबा लिया है कि काम तथा क्रोधके कारण उपस्थित होने पर भी किसीका भी वेग उसके शरीर तथा मनमें नहीं उत्पन्न होता है, उसीका ही धीर अन्तःकरण आत्मामें निश्चल हो कर अनन्त आनन्दका लाभ कर सकता है और आत्मामें

निश्चल वही योगी यथार्थमें युक्त पुरुष है। तृतीय श्लोकमें इसी भावको आगे बढ़ा कर कहा गया है कि ऐसे योगीका सुख अन्तः अर्थात् आत्मामें ही है, आराम अर्थात् खेलकूद भी आत्मामें ही है और उन्हें प्रकाश भी आत्मासे ही मिलता है। वे 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इस श्रुति सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्ममें रमते रमते ब्रह्मसमुद्रमें हो लवलीन होकर स्वयं भी ब्रह्मरूप बनकर निर्वाण मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं ॥२२-२४॥

ऐसे महात्मामें और क्या क्या भाव होते हैं सो बता रहे हैं–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥
कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाण वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

अन्वय—क्षीणकल्मषाः (निष्पाप) छिन्नद्वैधाः (अद्वितीय आत्माके अनुभवसे द्विधाभावरहित) यतात्मानः (संयतमना संयतेन्द्रिय) सर्वभूतहिते रताः (सकलजीवोंके कल्याणमें रत) ऋषयः (सूक्ष्मदर्शी महात्मागण) ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते (ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होजाते हैं)। कामक्रोधविमुक्तानां यतचेतसां विदितात्मनां यतीनां (कामक्रोधसे रहित, संयतचित्त, आत्मज्ञ यतियोंका) अभितः (दोनों ही ओर) ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते (मोक्ष रहता है)।

सरलार्थ—निष्पाप, द्विधाभावरहित, संयतचित्त, जीव-कल्याणरत सूक्ष्मदर्शी महात्मागण ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करते हैं। ऐसे कामक्रोधरहित, संयतान्तःकरण, आत्मतत्त्वज्ञ यति-

गण जीवितकालमें भी जीवन्मुक्त हैं और शरीरपातके बाद भी विदेहमुक्ति लाभ करके परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं।

चन्द्रिका—इन सभी श्लोकोंमें श्रीभगवान्‌ने तत्त्वज्ञानी मुक्तात्मा पुरुषकी उत्तमा स्थिति तथा किन किन उपायोंसे ऐसी स्थिति मिलती है उनका भी दिग्दर्शन कराया है। प्रथम तपोबलसे मुमुक्षुको पापहीन होना पड़ता है। जिस प्रकार तपानेसे ही सोना निर्मल हो कर चमकता है, उसी प्रकार तपस्याके द्वारा ही शरीर मन निर्मल तथा पापविहीन होता है। श्रुतिमें भी लिखा है 'तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते'। तपस्याके द्वारा पापनाश और ज्ञानके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिये प्रथम तपस्या द्वारा निष्पाप होनेके बाद ज्ञान द्वारा मुमुक्षुको द्विधाभावरहित होना पड़ता है, क्योंकि अज्ञान ही अद्वितीय ब्रह्ममें समस्त द्वैत प्रपञ्चका विस्तार करता है। इसी ज्ञानके साथ साथ मुमुक्षुको संयतचित्त होना पड़ता है जो उपासना तथा योगक्रिया साध्य है। क्योंकि उपासना तथा योगके द्वारा ही योगी चञ्चल मनको परमात्मामें लगा कर निश्चल कर सकता है। विना विश्वजीवनके साथ अपने जीवनको मिलाये मुमुक्षु विश्वरूप परमात्माके साथ एक नहीं हो सकता, इस लिये ज्ञान तथा उपासनाके साथ साथ मुमुक्षुको कर्मयोग द्वारा जगत्‌की सेवामें भी रत रहना पड़ता है। इस प्रकारसे तपस्या द्वारा क्षीणपाप महात्मा ज्ञान, कर्म, उपासनाके समुच्चयात्मक साधन द्वारा ब्रह्मनिर्वाणको लाभ करते हैं। यही श्रीभगवान्‌के मुखपद्मनिःसृत कर्मोपासना ज्ञान समुच्चय रहस्य है, जिसका विस्तार अध्यायभेदसे समस्त गीतामें किया गया है। ऐसी अवस्थाको पा कर यति महात्मा जीवित कालमें जीवन्मुक्त पदवी

पर विराजमान रहते हैं और देहपातानन्तर विदेहमुक्ति दशामें परब्रह्मनें परमनिर्वाण लाभ करते हैं ॥२५-२६॥

पुनरपि इसी उत्तम अनुपम स्थितिका वर्णन करते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

अन्वय—बाह्यान् स्पर्शान् (बाहिरी विषयोंको) बहिः कृत्वा (बाहर ही रख कर, मनमें न आने देकर) चक्षुः च भ्रुवोः अन्तरे एव (और आंखोंको भौहोंके बीचमें रख कर) नासाभ्यन्तर-चारिणौ (नाकके भीतर चलने वाले) प्राणापानौ (प्राण तथा अपान वायुओंको) समौ कृत्वा (कुम्भक द्वारा समान करके) यतेन्द्रियमनोबुद्धिः (इन्द्रिय मन बुद्धिका संयम करनेवाला) मोक्षपरायणः (मोक्षमें एकान्तरत) विगतेच्छाभयक्रोधः (वीत-रागभयक्रोध) यः मुनिः (जो आत्माका मननशील महात्मा है) सः सदा मुक्तः एव (वह सदा मुक्त ही है अर्थात् मुक्तिके लिये उसको और कुछ भी करना नहीं होता है)।

सरलार्थ—बाहिरी विषयोंको बाहर ही डाल कर नेत्रोंको दोनों भौहोंके बीचमें ठहरा कर, नासिकाके भीतर बहनेवाले प्राणापानके वैषम्यको दूर कर, इन्द्रिय मन बुद्धिको संयत किये हुए, मोक्षमें मनको लगाये हुए, इच्छा भय क्रोधसे मुक्त

मुनिको मुक्त ही जानना चाहिये, उनकी मुक्तिके लिये ऐसा ही रहना यथेष्ट है।

चन्द्रिका——इन दो श्लोकोंमें मुक्तात्माकी साधना और सिद्धिका वर्णन किया गया है। रूपरसादि बाह्यइन्द्रियोंके विषय चिन्ताके द्वारा चित्तमें आकर योगीको चञ्चल कर देते हैं। इसलिये इन्हें बाहर ही धर देना, भीतर न आने देना वैराग्यरूपी प्रथम साधन है। वैराग्यके अनन्तर अभ्यास प्रारम्भ होता है क्योंकि 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' अर्थात् वैराग्य और अभ्यासके द्वारा ही चित्तवृत्तिका निरोध हो जाने पर परमात्माके दर्शन होते हैं यही योगदर्शनका सिद्धान्त है। अभ्यासमें नेत्रयुगलको दोनों भौंहोंके बीचमें रखना प्रथम साधन है। नेत्र खुले रहने पर बहिर्विषय सूझते हैं और बन्द रहने पर निद्रा आ सकती है। इस कारण अर्द्धनिमीलित अर्थात् आधे खुले आधे बन्द नेत्रोंको भौंहोंके बीचमें रखनेसे चित्त स्थिर शीघ्र हो जाता है। यही प्रथम साधन है। प्राण अपानकी विषमतासे ही प्रकृतिका वैषम्य तथा चित्तका चाञ्चल्य बढ़ता है। इस कारण वायुका समभाव रखना चित्तस्थिरताके लिये दूसरा साधन है। कुम्भकके द्वारा अथवा इनकी गति रोध करके नासिकाके भीतर ही स्वल्पगति कर देनेसे प्राणापान सम हो जाते हैं। ऐसे योगीके मन, इन्द्रिय, बुद्धि सभी शीघ्र संयत हो जाते हैं, अन्तःकरण मोक्षमार्गमें लग जाता है, राग, भय, क्रोध आदि वृत्तियां इनसे दूर भाग जाती हैं और इस तरह ये आत्माके मननमें लवलीन हो आत्माको ही पा लेते हैं। इनकी मुक्तिके लिये उपायान्तरकी आवश्यकता नहीं रहती। वे जीते भी मुक्त रहते हैं और मरने पर निर्वाण पदको प्राप्त करते हैं॥२७-२८॥

ऐसी उत्तमा स्थितिमें आत्माका कैसा अनुभव होता है सो ही बता कर प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम
पञ्चमोऽध्यायः।

अन्वय—मां (मुझे) यज्ञतपसां भोक्तारं (यज्ञ तथा तपके भोक्तारूपसे) सर्वलोकमहेश्वरं (सकल लोकोंके परम ईश्वररूपसे) सर्वभूतानां सुहृदं (सकलजीवोंके बन्धुरूपसे) ज्ञात्वा (जान कर) शान्तिं ऋच्छति (मुक्तिरूपी आत्यन्तिक शान्तिको योगी प्राप्त कर लेता है)।

सरलार्थ—आत्मपरायण मुनि मुझे सकलयज्ञ तथा सकल तपस्याओंके भोक्ता, समस्त विश्वके परमपिता परमेश्वर तथा निखिलजीवोंके अहेतुक बंधुरूपसे अनुभव करके मोक्षरूपी आत्यन्तिक शान्तिका लाभ करते हैं।

चन्द्रिका—परमात्मामें मन लगाये हुए मननशील जितेन्द्रिय मुनि साधनाके परिपाकमें यही अनुभव करने लगते हैं, कि समस्त विश्वमें कर्त्ता भोक्ता नियन्ता सभी एक अद्वितीय परमात्मा ही हैं। ये ही क्षेत्रज्ञरूपसे सकल भूतोंमें विराजमान रह कर उनके द्वारा अनुष्ठित यज्ञ तथा तपोंके फलभोग करते हैं, ये ही महेश्वररूपसे समस्त जीव

तथा हिरण्यगर्भादि तकके नियन्ता बने रहते हैं और ये ही अपने अंश-रूपी जीवोंके प्रति नैसर्गिक अहेतुक दया करते हुए सदा इनकी रक्षा तथा अपनी ओर धीरे धीरे अपनी ही मोहिनी मायाका पर्दा हटा कर इन्हें आकर्षण करते हैं। द्वैतभावमय अनन्तकर्तृत्व भोक्तृत्वमय प्रपञ्चके भीतर इस प्रकारके परमात्माकी अद्वैतसत्ताका अनुभव होनेसे जितेन्द्रिय मुनि पुनः द्वैतमें नहीं फँस सकते हैं, वे समस्त द्वैतभावके मूलमें शान्तिमय, समतामय, अद्वैत ब्रह्मभावकी उपलब्धि करते हुए निर्वाणरूपी परमा शान्तिको ही प्राप्त कर लेते हैं। यही तत्त्वज्ञानी योगीकी शान्तिमयी अन्तिम स्थिति है ॥२९॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'संन्यासयोग' नामक पांचवां अध्याय समाप्त हुआ।

—०—०—

पञ्चम अध्याय समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः।

पञ्चम अध्यायमें 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इत्यादि अन्तिम तीन श्लोकोंके द्वारा उपासना योगकी ओर श्रीभगवान्ने जो इङ्गित किया था, उसीका विस्तार इस अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है। पहिले ही भूमिकामें लिखा गया है कि गीताके १८ अध्यायोंमेंसे प्रथम छः अध्याय कर्मप्रधान, द्वितीय छः अध्याय उपासनाप्रधान और तृतीय छः अध्याय ज्ञानप्रधान हैं। तदनुसार सप्तम अध्यायसे उपासनाका विषय प्रधानरूपसे प्रारम्भ होगा। इसी सूर्योदयसे पहिले अरुणोदयकी तरह षष्ठ अध्यायमें उपासना पर विवेचन किया गया है और जिस प्रकार मुमुक्षु कर्मयोगकी सहायतासे स्वधर्म पालन करता हुआ आत्माको प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार उपासना या क्रियायोगकी सहायतासे चित्तवृत्ति निरोध द्वारा परमात्मा कैसे लभ्य हो सकते हैं इसीका उपदेश श्रीभगवान्ने इस अध्यायमें किया है। यथार्थमें संन्यास क्या वस्तु है, नीरे कर्मत्यागको ही संन्यास कहते हैं अथवा वासनात्याग ही त्याग है इस विषयकी चर्चा पहिले अध्यायमें चलती ही थी, इस कारण प्रथमतः संन्यास पर ही विवेचन करते हुए प्रकृत विषय पर आ रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ! ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

अन्वय—यः (जो) कर्मफलं अनाश्रितः (कर्मफलका आश्रय न करके) कार्यं कर्म करोति (कर्त्तव्य कर्मको करता है), सः संन्यासी च योगी च (वही संन्यासी है और योगी है) न निरग्निः (केवल अग्निहोत्रादि कर्मोंका त्यागनेवाला संन्यासी नहीं होता है) न च अक्रियः (अथवा समस्त कर्मोंको त्याग देने पर भी संन्यासी नहीं होता है)। हे पाण्डव ! (हे अर्जुन !) यं संन्यासं इति प्राहुः (जिसको पण्डितगण संन्यास कहते हैं) तं योगं विद्धि (उसे ही योग करके जानो) हि (क्योंकि) असंन्यस्तसंकल्पः (फलाकाङ्क्षाका संन्यास न करनेसे) कश्चन (कोई भी) योगी न भवति (योगी नहीं होता है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—कर्मफलका आश्रय न करके जो कर्त्तव्य कर्मको करता रहता है वही संन्यासी और वही योगी है। केवल अग्निहोत्रादि कार्योंको त्याग देने पर या समस्त कर्मोंको त्याग देने पर संन्यासी नहीं होता है। हे अर्जुन ! पण्डितगण जिसे संन्यास कहते हैं, उसे ही योग समझो क्योंकि फलाकांक्षाके त्यागे विना कोई भी योगी नहीं हो सकता है।

चन्द्रिका—पञ्चमाध्यायके विवेचनके अनुसार इसमें भी श्रीभगवान् 'फलत्याग' पर ही बहुत जोर देकर संन्यास और योग दोनोंकी एकता सिद्धि कर रहे हैं। पञ्चमाध्यायमें 'संन्यास' शब्दके द्वारा 'ज्ञानयोग' पर लक्ष्य

करके यही बताया था कि विना निष्कामकर्मद्वारा चित्तशुद्धि किये ज्ञानयोगमें अधिकार नहीं होता है जैसा कि 'संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः' इस अर्द्धश्लोकके द्वारा पञ्चमाध्यायमें तात्पर्य निकाला गया है । इसके अनन्तर 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इस वचनके द्वारा 'फल' विचारसे संन्यासपथ और कर्मपथ दोनोंकी एकता भी की गई थी । अब फलाकाङ्क्षा त्यागके विचारसे इन दोनों श्लोकोंके द्वारा संन्यास तथा योगकी एकता बताते हैं । नीरे कर्मत्याग या अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिक कर्मोंके त्यागसे संन्यास नहीं होता है क्योंकि भीतर प्रकृतिका वेग जब तक है तब तक ऊपरसे कर्मत्याग करने पर यथार्थमें त्याग नहीं होता है, केवल मनुष्य 'मिथ्याचारी' ही बन जाता है । इस लिये चाहे ज्ञानमार्गका आश्रय करे या कर्ममार्गका, फलाकाङ्क्षारहित होकर कर्म करनेकी दोनों ही में आवश्यकता रहती है । इनमेंसे ज्ञानयोगी निष्कामकर्म द्वारा चित्तशुद्धिके बाद कर्मका आश्रय कम लेते हैं तथा आत्मानात्म विवेक द्वारा समाधिस्थ होते हैं और कर्मयोगीको अन्त तक साधनारूपसे कर्मयोगका ही अवलम्बन रहता है, इतना ही भेद है । किन्तु फलाकाङ्क्षारहित होकर कर्म करनेकी आवश्यकता दोनोंको ही पड़ती है । अतः दोनों योगोंमें 'संकल्पत्याग' का भाव ही मुख्य है, और इसी भावमुख्यताको लेकर श्रीभगवान्ने संन्यास तथा योगकी एकता बताई है । जबरदस्ती कर्तव्य कर्मोंको छोड़ कर निश्चेष्ट बैठे रहनेको संन्यासीका लक्षण नहीं बताया है । यही इन दोनों श्लोकोंका निष्कर्ष है ॥ १—२ ॥

अब इस योगमें क्रमोन्नति तथा सिद्धिके कारण बता रहे हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ॥४॥

अन्वय—योगं आरुरुक्षोः मुनेः (योगमार्गमें चढ़नेकी इच्छा रखनेवाले मुनिके लिये) कर्म (निष्काम कर्म) कारणं उच्यते (साधन कहलाता है), योगारूढ़स्य तस्य एव (योगमें आरूढ़ उन्हींके लिये) शमः (प्राकृतिक वेग तथा चाञ्चल्यकी शमता) कारणं उच्यते (साधन कहलाती है)। यदा हि (जिस अवस्थामें) न इन्द्रियार्थेषु (न इन्द्रियोंके विषयोंमें) न कर्मसु (और न कर्मोंमें) अनुषज्जते (योगी आसक्त होता है) तदा (तब) सर्वसंकल्पसंन्यासी (समस्त संकल्पोंका त्यागनेवाला) योगारूढ़ः उच्यते (योगमें आरूढ़ कहलाता है)।

सरलार्थ—योगमार्गमें आरोहन करनेका उपाय निष्काम कर्म है और उसमें प्रतिष्ठित होकर सिद्धिलाभ करनेका उपाय प्राकृतिक वृत्तियोंकी शमता है। जिस समय योगी न इन्द्रियोंके विषयोंमें ही फंसता है और न फलाकांक्षा द्वारा कर्ममें, तभी सकल संकल्पहीन वह योगी योगारूढ़ अर्थात् योगसिद्ध कहलाता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें कर्मयोगकी साधना तथा उसमें सिद्धि-लाभके उपाय बताये गये हैं। आत्मामें युक्त होकर निष्कामभावसे कर्म

करते करते योगी योगमार्गमें क्रमशः उन्नत होने लगता है। वासना ही चाञ्चल्यका कारण है, इस लिये निष्काम कर्मयोगमें रत योगीकी वासना निष्कामभावके द्वारा ज्यों ज्यों नष्ट होने लगती है त्यों त्यों उनके शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि सभीके चाञ्चल्य नष्ट होकर योगीको परम शमभावकी प्राप्ति होने लगती है। शमभावप्राप्त योगी आत्मामें विशेष प्रतिष्ठालाभ करते हैं और इस प्रतिष्ठाकी पूर्णता ही योगारूढ़ अवस्था है। अतः शमभाव ही योगारूढ़ अवस्थाका कारण हुआ, जैसा कि दूसरे श्लोकमें लक्षण बताया गया है। उस समय योगसिद्ध पुरुषकी न इन्द्रियविषयमें ही आसक्ति रहती है और न कर्मके फलभोगमें। वे सकल सकामसंकल्पको त्याग कर स्वरूपप्रतिष्ठित तथा आत्माराम हो जाते हैं। यही कर्मयोगीकी अपूर्व योगारूढ़ स्थिति है ॥३-४॥

अब उपासनायोगकी सहायतासे इसी अनुत्तमा स्थिति लाभके लिये क्रमशः उपदेश करते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अन्वय—आत्मना आत्मानं उद्धरेत् (अपने ही द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये) आत्मानं (अपनेको) न अवसादयेत् (नीचे नहीं गिरने देना चाहिये), हि (क्योंकि) आत्मा एव (आत्मा ही) आत्मनः बन्धुः (आत्माका बन्धु है), आत्मा एव

(आत्मा ही) आत्मनः रिपुः (आत्माका शत्रु है)। येन आत्मना एव (जिस आत्माके द्वारा) आत्मा जितः (आत्मा वशीभूत हुआ है) तस्य आत्मनः (उस आत्माका) आत्मा बन्धुः (आत्मा बन्धु है), तु (किंतु) अनात्मनः (अवशीभूत आत्माके) शत्रुत्वे (शत्रुभावमें) आत्मा एव (आत्मा ही) शत्रुवत् (शत्रु जैसे) वर्त्तेत (प्रवृत्त रहता है)।

सरलार्थ—मनुष्योंको अपना उद्धार आप ही करना चाहिये, कदापि अपनी अधोगति नहीं करानी चाहिये। क्योंकि आत्मा ही आत्माका बंधु और आत्मा ही आत्माका शत्रु है। जिसने अपने आपको वशीभूत कर लिया है उसका आत्मा अपना बंधु है, जिसने ऐसा नहीं किया उसका आत्मा शत्रुकी तरह उसके अपकारमें ही प्रवृत्त रहता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें दुर्लभ मनुष्यजन्मको पाकर आत्मोद्धारकी विशेष आवश्यकताकी ओर ध्यान दिलाया गया है। श्रुतिमें लिखा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

दुर्लभ मानवजन्मको पा कर यदि आत्माको जान लिया तभी जन्म लेना सत्य है, नहीं तो मनुष्यजन्म धारण ही नष्ट हुआ जानना चाहिये। धीर योगिगण घट घटमें आत्माका अनुभव करके मरणानन्तर अमृतत्वका लाभ करते हैं। इन श्लोकोंमें इसी वेदमन्त्रकी प्रतिध्वनि की गई है: आत्मा ही आत्माका बन्धु है, संसारके बन्धुजन अति प्रिय होने पर भी स्नेह ममता पाशमें बांधने के कारण सच्चे बन्धु नहीं होते। आत्मा

ही सच्चा बन्धु है, क्योंकि इसी बन्धुके द्वारा ही मनुष्य दुस्तर संसार समुद्रको तर सकता है। किन्तु जिसके आत्माने उसे तरनेमें सहायता न दी, उलटा संसार समुद्रके भंवरमें और भी फंसा दिया, वह आत्मा उसका बन्धु न होकर शत्रु है। बाहिरी शत्रु भी आत्माके कारण ही शत्रु है क्योंकि शत्रु मित्र सभीका प्रेरक भीतरी आत्मा ही है। इसी कारण दूसरे श्लोकमें कहा गया है कि वशीभूत संयत विवेकी आत्मा ही बन्धु है और कुमार्गमें लेजानेवाला असंयत आत्मा जीवका शत्रु है॥ ५-६॥

अब आत्माके वशीभूत होने पर ही योगी योगारूढ़ हो सकता है इसी तत्त्वको बता रहे हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥७॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥८॥
सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥९॥

अन्वय—जितात्मनः प्रशान्तस्य (जितेन्द्रिय रागादि विक्षेपहीन योगीका) परमात्मा (स्वरूप प्रतिष्ठित योगारूढ़ आत्मा) शीतोष्णसुखदुःखेषु (शीत उष्ण, सुखदुःखरूपी द्वन्द्वोंमें) तथा मानापमानयोः (और मान अपमान आदि विरुद्ध भावोंमें) समाहितः (समभावापन्न रहता है)। ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा (शास्त्रज्ञान तथा विज्ञान अर्थात् अनुभवके द्वारा जिसका आत्मा तृप्त

हो चुका है) कूटस्थः (विषयके पास रहने पर भी विकाररहित निर्लिप्त) विजितेन्द्रियः (विशेषरूपसे जिसने इन्द्रियोंको जीत लिया है) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (मिट्टी पत्थर और सोनेको अभिन्न भावसे जो देखता है) योगी (ऐसा योगी) युक्तः इति उच्यते (योगारूढ़ कहलाता है)। सुहृत् (प्रत्युपकारकी अपेक्षा न रखता हुआ उपकार करनेवाला) मित्रं (स्नेहवश उपकारी) अरिः (शत्रु) उदासीनः (दोनोंको झगड़ते देख कर भी उपेक्षा करनेवाला) मध्यस्थः (परस्पर विरुद्ध दोनों पक्षोंका हितैषी) द्वेष्यः (आत्माका अप्रिय) बन्धुः (सम्बन्धके कारण उपकारी) एषु (इन सबमें) साधुषु (सदाचारी पुरुषोंमें) पापेषु च अपि (और दुराचार पुरुषोंमें भी) समबुद्धिः (रागद्वेषशून्य समभावमें युक्त योगारूढ़ पुरुष) विशिष्यते (विशिष्ट कोटिके हैं)।

सरलार्थ--जितेन्द्रिय, रागादिविक्षेपरहित शांत योगीका योगारूढ़ आत्मा शीत उष्ण सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंमें तथा मान अपमान आदि विरुद्ध भावोंमें समभावापन्न रहता है। शास्त्रज्ञान तथा अनुभवके द्वारा तृप्तात्मा, विषयके समीप रहने पर भी निर्लिप्त उदासीन, जितेन्द्रिय तथा मिट्टी पत्थर सोनेमें अभिन्न-दृष्टि योगी योगारूढ़ कहलाते हैं। इस प्रकारके सुहृत्—मित्र—शत्रु—उदासीन—मध्यस्थ—द्वेषपात्र—बन्धु—साधु-असाधुमें रागद्वेषहीन एकही भाव रखनेवाले योगारूढ़ पुरुष अति उत्तम-कोटिके महात्मा हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें योगारूढ़ पुरुषकी महिमा तथा उत्तमा

स्थिति बताई गई है, वे जितेन्द्रिय होते हैं, द्वन्द्वोंमें विकल न होकर शान्त रहते हैं, मानापमानमें एक भावापन्न रहते हैं और इनका आत्मा ज्ञानमय स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर परमात्मासे अभिन्न हो जाता है। महाभारतमें जो लिखा है कि—

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥

अर्थात् प्रकृतिके गुणोंसे युक्त आत्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है और गुणोंसे मुक्त होते ही वह परमात्मा हो जाता है, यही स्थिति योगारूढ़ योगीके आत्माकी है। इनका ज्ञान केवल शब्दज्ञान मात्र नहीं है किन्तु विज्ञान अर्थात् आत्मानुभवमें भी वे पूर्ण होकर आध्यात्मिक तृप्ति लाभ करते हैं, विषयके सामने भी वे कूटस्थ अर्थात् निर्विकार उदासीन बने रहते हैं और पाषाण या सुवर्णमें हेय या उपादेय बुद्धि न रखनेके कारण अभेद तथा अनासक्त चित्तसे दोनोंको ही देखते हैं। उनके लिये न सोनेमें ही रमणीयता है और न मिट्टीमें ही हेयता है। इस प्रकार वे न साधु, मित्र आदिमें हो प्रेम द्वारा आसक्त होते हैं और न असाधु, शत्रु आदिमें ही द्वेष द्वारा रूठ जाते हैं। वे अद्वितीय आत्माकी धारणासे सभीमें अभिन्न भावापन्न रहते हुए केवल लौकिक व्यवहारमें आत्माके विकाश तारतम्यको ही काममें लाते हैं और उसीके अनुसार लौकिक बर्त्तावमें गुणागुणका तारतम्य रहता है। किन्तु उस गुणागुणका कोई भी प्रभाव उनके आत्मा तथा अन्तःकरण पर नहीं पड़ता है। केवल लौकिकमें ही उनका विकाश रहता है। यही सब योगारूढ़ योगीकी अनुपम स्थिति है ॥ ७-९ ॥

इस स्थितिलाभके लिये क्रियायोग बता रहे हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अन्वय—योगी (उपासनायोगी) रहसि स्थितः (एकान्तमें स्थित होकर) एकाकी (सङ्गशून्य) यतचित्तात्मा (संयतमन संयतशरीर) निराशीः (तृष्णाशून्य) अपरिग्रहः (योगविघ्नरूपी परिग्रहको न करता हुआ) सततं (सदा) आत्मानं युञ्जीत (मनको योगमें लगावे)। शुचौ देशे (पवित्र स्थानमें) आत्मनः (अपना) स्थिरं (निश्चल) न अत्युच्छ्रितं (न बहुत ऊंचा) न अतिनीचं (न बहुत नीचा) चेलाजिनकुशोत्तरं आसनं (जिसमें चेल अर्थात् रेशमी आदि मृदुवस्त्र, अजिन अर्थात् मृगादि चर्म कुशाके ऊपर हो ऐसे आसनको) प्रतिष्ठाप्य (स्थापित करके) तत्र (उस आसनमें) उपविश्य (बैठ कर) मनः एकाग्रं कृत्वा (मनको एकाग्र करके) यतचित्तेन्द्रियः (मन और इन्द्रियोंको संयत

करते हुए) आत्मविशुद्धये (चित्तको विक्षेपशून्य करके आत्मामें लगानेके लिये) योगं युञ्ज्यात् (योगका अभ्यास करे)। कायशिरोग्रीवं (शरीर, मस्तक और गलेको) समं (अवक्र, सीधा) अचलं (निश्चल) धारयन् (रख कर) स्थिरः (स्थिर होकर) स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य (अपने नासिकाग्रको देखता हुआ) दिशः च अनवलोकयन् (किसी दूसरी ओर न देखता हुआ) प्रशान्तात्मा (शान्तमना) विगतभीः (निर्भय) ब्रह्मचारिव्रते स्थितः (वीर्यसंयमादि ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित) मनः संयम्य (मनका संयम करके अर्थात् विषयोंसे उसका प्रत्याहार करके) मच्चित्तः (परमात्मामें मनको धारणा करके) मत्परः (परमात्माको हो सर्वस्व समझ कर उसीमें रत होकर) युक्त आसीत (योगयुक्त हो जाना चाहिये)।

सरलार्थ—योगी एकान्तमें एकाकी रह कर मन तथा शरीरको संयत करते हुए तृष्णाशून्य और परिग्रहशून्य हो सदा योगमें मनको लगानेका अभ्यास करें। किसी पवित्र स्थानमें अपने आसनको जमावें जो कि न बहुत ऊंचा हो और न बहुत नीचा तथा कुशा, उसके ऊपर मृग या व्याघ्रचर्म और उसके ऊपर रेशमी वस्त्र इस प्रकारका हो। ऐसे आसनमें बैठ कर मन तथा इन्द्रियोंको संयत करके एकाग्रचित्त हो चित्तवृत्ति निरोधके अर्थ योगाभ्यास करें। शरीर मस्तक और गलेको सीधे तथा निश्चल रख कर अन्य किसी ओर दृष्टि न देकर केवल नासाग्रको देखते हुए, शान्त, निर्भय, ब्रह्मचारी, संयतमना परमात्मामें ही

एकाग्रचित्त हो तथा परमात्माको ही परम आश्रय समझ कर योगयुक्त हो जावें।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें यम नियमादि क्रमसे अष्टाङ्गयोगकी संक्षिप्त प्रक्रिया बताई गई है। विना एकान्तके योगमें विक्षेप हो जाता है और अपवित्र स्थानमें भी मन पवित्र नहीं रह सकता है, इस कारण एकान्त तथा पवित्र गङ्गातट, गिरिगुहा आदि स्थानमें एकाकी सङ्गशून्य रह कर योगाभ्यास करनेका उपदेश किया गया है। लेने देनेका सम्बन्ध रखनेसे झगड़ा ही बढ़ता है इसलिये योगीको 'अपरिग्रह' होनेका उपदेश दिया गया है। इस तरहसे 'यतचित्तात्मा' होकर अन्तरिन्द्रिय बहिरिन्द्रियोंको रोके रहना, तृष्णा तथा परिग्रहशून्य होना, ब्रह्मचर्य तथा शौचसे युक्त होना—ये सब यमनियमकी साधनाएं हैं। यमनियमके बाद आसन है। योगशास्त्रमें 'स्थिरसुखमासनम्' अर्थात् जिसमें स्थिरसे तथा सुखसे साधनाके लिये बैठा जा सके उसीको आसन कहा है। आसनमें सबसे नीचे कुशा, उसके ऊपर मृग या व्याघ्रचर्म और उसके ऊपर रेशमी आदि पतला वस्त्र होना चाहिये। ये सभी चीजें यौगिक विद्युत्-शक्तिको रोके रहती हैं, जिससे योगीका चित्त चञ्चल नहीं होने पाता है, इसी कारण ऐसा आसन-प्रयोग शास्त्रमें बताया गया है। आसनमें बैठ कर योग करते समय शरीर मस्तक ग्रीवाको सीधा रखना होता है क्योंकि मूलाधारसे मस्तकदेशपर्यन्त मेरुदण्डको सीधा न रखनेसे सुषुम्नाकी क्रियाएं षट्चक्रभेदनादि तथा कुण्डलिनी जागरणादि ठीक ठीक नहीं हो सकती हैं जिसका रहस्य गुरुमुखसे जानने योग्य है। श्लोकमें 'नासिकाग्र' शब्दका अर्थ नाकके ऊपरका अग्रभाग अर्थात् भ्रूमध्यस्थान है जैसा कि 'चक्षुश्चै-

यान्तरे भ्रुवोः' पदके द्वारा पहिले ही बताया गया है । उसमें 'संप्रेक्ष्य' शब्दसे ठीक देखना अर्थ नहीं लेना चाहिये क्योंकि वहां देखते रहनेसे मन भी वहीं रहेगा जिससे आत्मामें मनःसंयोग नहीं होगा । इसलिये अर्द्धनिमीलित-नेत्र होकर दोनों भौंहोंके बीचमें विक्षेपरहित भाव लानेका नाम नासिकाग्र देखना है ऐसा समझना चाहिये । इसके बाद 'मनः संयम्य' शब्दके द्वारा प्रत्याहारकी क्रिया और 'मच्चित्त' शब्दके द्वारा ध्यानक्रियाकी ओर इङ्गित किया गया है । इस प्रकारसे अष्टाङ्गयोगकी सहायतासे अन्तःकरणको आत्मा-में युक्त करना चाहिये यही योगाभ्यास है । योगदर्शनमें 'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः' अर्थात् चित्तकी सकल प्रकार वृत्तियोंको निरुद्ध कर देनेका नाम योग कहा गया है । चित्तकी पांच भूमियां होती हैं । यथा—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । चित्तकी तामसिक भूमि जिसमें बेलगाम घोड़े-की तरह जिधर तिधर चित्त भटकता रहे मूढ़ भूमि कहलाती है । चित्तकी राजसिक भूमि जिसमें लगाम सहित घोड़ेकी तरह एक ही ओर चित्त चञ्चल रहे क्षिप्त भूमि कहलाती है । चित्तकी सात्त्विक भूमि जिसमें कभी चित्त वृत्तिहीन तथा सूना सा हो जाता है क्षिप्तसे विशिष्ट विक्षिप्त भूमि कहलाती है । इसके अनन्तर योगभूमिमें आकर प्रथमतः चित्तको ध्येयमें एकाग्र किया जाता है । इस दशामें ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटि रहती है । चित्तकी अन्तिम अर्थात् निरुद्ध दशामें त्रिपुटिका लय हो जाता है, यही चित्तवृत्ति निरोधरूपी योग या समाधिदशा है । और इसीमें आनन्दमय आत्माका अनुभव योगी को हो जाता है । योगाभ्यास में रत होकर इसी उत्तम अवस्था तक पहुंच जाना ही क्रियायोगका लक्ष्य है, जिसके लिये श्रीभगवान्‌ने इन श्लोकों द्वारा उपदेश किया है ॥१०—१४॥

योगको साधना कह कर अब योगका फल बताते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

अन्वय—एवं (इस प्रकारसे) सदा (सब समय) आत्मानं युञ्जन् (अन्तःकरणको योगयुक्त करके) नियतमानसः (संयतमना) योगी (योगी) निर्वाणपरमां (जिसके अन्तमें निर्वाण मोक्ष हो ऐसी) मत्संस्थां (मेरे स्वरूपमें रहने वाली) शान्तिं (शान्तिको) अधिगच्छति (पाते हैं)।

सरलार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा योगयुक्त हो कर संयतचित्त योगी आनन्दमय परमात्मामें स्थित उस शान्तिको पाते हैं जिसकी अन्तिम निष्ठा निर्वाण मुक्ति है।

चन्द्रिका—मनको संयत करके सकल प्रकार वृत्तियोंका निरोध तथा परमात्मामें मनोलय करते करते अन्तमें योगसिद्धपुरुष आनन्दमय ब्रह्मके अनन्त आनन्द तथा अनन्त शान्तिको प्राप्त कर लेते हैं। यही उनकी समाधिकी शान्ति है और इसीकी अन्तिम अवस्था निर्वाणमुक्ति है ॥१५॥

अब योगपथमें निर्विघ्न उन्नति लाभार्थ कुछ आवश्यक उपायोंका निर्देश कर रहे हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

अन्वय—हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) अत्यश्नतः पचानेकी शक्तिसे अधिक भोजन करनेवालेका) तु योगः न अस्ति (योगमें सिद्धिलाभ नहीं होता है) न च एकान्तं अनश्नतः (और एकदम अनाहारी या अति अल्पाहारीका भी योगमें सिद्धिलाभ नहीं होता है) न अतिस्वप्नशीलस्य (प्रयोजनसे अधिक निद्रा लेनेवालेका नहीं) न च एव जाग्रतः (और एकबारगी ही निद्रा न लेनेवालेका भी नहीं) । युक्ताहारविहारस्य (नियमित आहार तथा विहार करनेवालेका) कर्मसु युक्तचेष्टस्य (कर्मोंमें नियमित चेष्टावालेका) युक्तस्वप्नावबोधस्य (नियमित सोने जागनेवालेका) योगः दुःखहा भवति (योग दुःखनाशक तथा सुखदायी होता है) ।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! जो परिमाणसे अधिक भोजन करता है अथवा एकबारगी ही अनाहार या अत्यन्त अल्पाहार रहता है उसको योगमें सिद्धि नहीं मिलती है। उसी प्रकार प्रयोजनसे अत्यधिक निद्रा लेनेवाले अथवा एकदम निद्रा त्यागनेवालेको भी योगसिद्धि नहीं मिलती है । नियमित आहार विहार तथा कर्ममें रत और नियमित निद्रा तथा जागरणशील पुरुषका ही योग दुःखनाशकर तथा सुखकर होता है ।

चन्द्रिका—जब योगका लक्ष्य ही यह है कि प्रकृतिके समस्त वैषम्यका नाश करके योगीको साम्यभावद्वारा सम-ब्रह्ममें पहुंचा देवे, तो आहार-विहार रहन-सहन किसीमें भी किसी प्रकारकी विषमताको योग सहन नहीं कर सकता है । अधिक आहार करना, या निराहार रह जाना,

अधिक निद्रा लेना या निद्राहीन ही रहना इत्यादि नियमके विरुद्ध सभी व्यापारोंसे प्रकृतिकी समता नष्ट होती है, जिससे योगमें सिद्धि लाभ असम्भव हो जाता है। इसलिये युक्ताहार विहारादि ही योगसिद्धिके मुख्य मन्त्र हैं। युक्ताहार या मिताहारके लक्षण पहिले ही बताये जा चुके हैं। शतपथ ब्राह्मणमें भी लिखा है—'यदुह वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति, यद्भूयो हिनस्ति तद् यत् कनीयो न तदवति' मित भोजनसे ही उपकार होता है, मितसे अधिक या कम भोजन द्वारा हानि होती है। निराहार रहना या निद्राहीन रहना ये सब योगसाधनके अन्तर्गत न होने पर भी तपश्चरणके अन्तर्गत अवश्य हैं, जिनके सकाम अनुष्ठानसे जन्मान्तरमें इन भोगोंकी अधिक प्राप्ति और निष्काम अनुष्ठानसे पापनाश तथा चित्तशुद्धि हो सकती है ॥१६–१७॥

साधनोपाय बता कर अब योगयुक्त पुरुषके कुछ लक्षण बता रहे हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥१९॥

अन्वय—यदा (जब) विनियतं चित्तं (सुसंयत चित्त) आत्मनि एव (विषयोंको छोड़ कर आत्मामें ही) अवतिष्ठते (ठहर जाता है) तदा (तब) सर्वकामेभ्यः निस्पृहः (समस्त दृष्टादृष्ट काम्य विषयोंके प्रति तृष्णाहीन योगी) युक्तः इति उच्यते (योग पदवी पर प्रतिष्ठित कहलाता है)। यथा (जिस

प्रकार) निवातस्थः दीपः (वायुप्रवाहशून्य स्थानमें प्रदीप) न इङ्गते (चञ्चल नहीं होता है), आत्मनः योगं युञ्जतः (आत्माके विषयमें योग लगानेवाले) यतचित्तस्य योगिनः (संयतचित्त योगीका) सा उपमा स्मृता (वही उपमा समझनी चाहिये)।

सरलार्थ—जिस समय योगीका सुसंयत चित्त बाह्य-विषयोंको छोड़ कर आत्माहीमें निविष्ट हो जाता है, उस समय दृष्टादृष्ट समस्त कामनाहीन वे योगी 'युक्त' कहलाते हैं। ऐसे आत्मयोगयुक्त संयतचित्त योगीके निश्चल चित्तकी उपमा वायु-प्रवाहहीन स्थानमें स्थित निश्चलप्रदीप शिखाके साथ दी जाती है।

चन्द्रिका—बाहिरी विषय ही मनुष्यके चित्तको चञ्चल करके आत्माके पथसे उसे दूर ले जाता है। किन्तु जिस समय इहलोक परलोकके समस्त विषयोंके प्रति वैराग्यसम्पन्न होकर योगी अभ्यासमें रत हो जाते हैं उस समय आत्मामें निविष्ट उनका चित्त पुनः विषयमें प्रवृत्त न हो कर आत्मामें ही निश्चल रूपसे ठहर जाता है। और तब ऐसे पूर्णवैराग्य-सम्पन्न विषयलवलेशहीन आत्मरत योगी ही 'युक्त' अर्थात् योग पदवी पर प्रतिष्ठित कहलाते हैं॥ १८-१९॥

इस 'युक्त' अवस्थामें क्या क्या लाभ होता है सो बताते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥
सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

अन्वय—यत्र (जिस अवस्थामें) योगसेवया निरुद्धं चित्तं (योगाभ्यासके द्वारा वृत्तिशून्य चित्त) उपरमते (आत्मासे अतिरिक्त समस्त विषयोंसे उपरत हो जाता है), यत्र च (और जिस अवस्थामें) आत्मना (समाधिशुद्ध अन्तःकरणके द्वारा) आत्मानं पश्यन् (आत्माका अनुभव करके) आत्मनि एव तुष्यति (आत्मामें ही परमतृप्ति लाभ करता है) । यत्र (जिस अवस्थामें) यत्तत् (एक अपूर्व प्रकारके) बुद्धिग्राह्यं (सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा अनुभव योग्य) अतीन्द्रियं (इन्द्रियोंके अगोचर) आत्यन्तिकं (अनन्त) सुखं वेत्ति (आनन्दको योगी अनुभव करता है), यत्र च एव स्थितः (जिस अवस्थामें स्थित होने पर) अयं (योगी) तत्त्वतः (आत्मस्वरूपसे) न चलति (विचलित नहीं होता है) । यं च लब्ध्वा (जिस आत्मलाभको पा कर) अपरं लाभं (और किसी लाभको) ततः अधिकं न मन्यते (उससे अधिक नहीं समझता है), यस्मिन् स्थितः (जिस आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेसे) गुरुणा अपि दुःखेन

(प्रारब्धानुसार प्राप्त किसी कठिन दुःखके द्वारा भी) न विचाल्यते (विचलित नहीं होता है), दुःखसंयोगवियोगं तं (दुःखसंस्पर्श-शून्य उस अवस्थाको) योगसंज्ञितं विद्यात् (योगशब्दवाच्य जानना चाहिये), सः योगः (ऐसा योग) अनिर्विण्णचेतसा (अनलसचित्त हो कर) संकल्पप्रभवान् (मानसिक संकल्पविकल्पसे उत्पन्न) सर्वान् कामान् (समस्त कामनाओंको) अशेषतः त्यक्त्वा (निःशेषरूपसे परित्याग करके) मनसा (मनके बलसे) समन्ततः (चारों ओरसे) इन्द्रियग्रामं विनियम्य (इन्द्रियसमूहका निग्रह करके) निश्चयेन योक्तव्यः (अवश्य ही अभ्यास करना चाहिये)।

सरलार्थ—युक्तपुरुषकी जिस उन्नत अवस्थामें उनका अन्तःकरण योगाभ्यासद्वारा निरुद्ध होकर प्रपञ्चसे उपराम हो जाता है, जिस अवस्थामें समाधिशुद्ध अन्तःकरणके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करके वे तृप्त हो जाते हैं, जिस अवस्थामें एक अपूर्व अतीन्द्रिय सूक्ष्म बुद्धिगम्य असीम आनन्दको पा कर वे तत्त्वपदसे कुछ भी विचलित नहीं होते, जिस लाभको पा कर और कोई भी लाभ उससे अधिक नहीं प्रतीत होता है, जिसमें प्रतिष्ठित होने पर प्रारब्धवश प्राप्त कठिन दुःखमें भी योगी विचलित नहीं होते हैं, दुःखसंयोगसे शून्य उस उत्तम अवस्थाको योगावस्था समझनी चाहिये। मुमुक्षुका कर्त्तव्य है कि अनलसचित्त होकर मनको निखिल वासनाओंको त्याग करके मनोबल द्वारा चारों ओरसे इन्द्रियोंको खींच कर निश्चय ही इस उत्तम योगका अभ्यास करे।

चन्द्रिका--इन श्लोकोंमें योगसिद्ध स्वरूपस्थित पुरुषकी नित्यानन्दमयी अनुपम दशाका वर्णन करके योगाभ्यासकी ओर मुमुक्षुकी दृष्टि आकृष्ट की गई है। योगकी सिद्धि दशामें योगीका निर्मल अन्तःकरण आत्मामें लवलीन होकर असीम आनन्दका उपभोग करता है। यह आत्मानन्द इन्द्रियोंसे अतीत तथा सूक्ष्मबुद्धि गम्य है यथा श्रुतिमें 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' अतीन्द्रिय सूक्ष्म अलौकिक बुद्धिके द्वारा ही आनन्दमय आत्माका साक्षात्कार हो सकता है। इस स्थितिका लाभ करनेसे योगी इसे ही सर्वोत्तम लाभ समझते हैं, क्योंकि अनन्त आनन्दमय, अनन्तज्ञानमय, अनंन्तशक्तिमय आत्माका लाभ हो जानेसे और बाकी क्या रह गया? इस दशामें प्रारब्धवश यदि कोई कठिन दुःख भी आ पड़े तौभी उसे शरीरधर्म या मनोधर्म समझ कर देहादिसे परे आत्मामें विराजमान योगी कुछ भी विचलित नहीं होते हैं, अनात्मीय विकारादि उनके आत्मानन्द पर कुछ भी धक्का नहीं दे सकते हैं। यही अत्युत्तम, अनुपम, अलौकिक योगसिद्ध, योगारूढ़ या स्वरूपावस्था है, जिसके लिये दुर्लभ मनुष्यजन्म पा कर अनलस होकर प्रयत्न करना प्रत्येक जीवका कर्त्तव्य है ॥२०-२४॥

अब प्रसङ्गानुसार पुनरपि साधनोपाय तथा सिद्धिदशाका वर्णन करते हैं—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अन्वय—धृतिगृहीतया बुद्ध्या (धैर्य्यसे युक्त बुद्धिके द्वारा) शनैः शनैः (धीरे धीरे) उपरमेत् (प्रपञ्चसे मनको खींच लेवे), मनः (मनको) आत्मसंस्थं कृत्वा (आत्मामें ठहरा कर) न किञ्चिदपि चिन्तयेत् (और कुछ भी चिन्ता न करें)। चञ्चलं (स्वभावतः चपल) अस्थिरं मनः (इसलिये स्थिरताहीन मन; यतः यतः (जिन जिन कारणोंसे) निश्चलति (विषयोंके प्रति भागता है) ततः ततः (उन उन रूप रसादि कारणोंसे) एतत् नियम्य (मनको रोक कर) आत्मनि एव (केवल आत्मामें ही) वशं नयेत् (लगा देवे)। शान्तरजसं (रजोगुणजन्य चाञ्चल्यसे

रहित) प्रशान्तमनसं (अतः प्रशान्तचित्त) अकल्मषं (पापहीन, धर्माधर्मादि वर्जित) ब्रह्मभूतं एनं योगिनं हि (ब्रह्ममें विलीन ब्रह्मस्वरूप ऐसे योगीको ही) उत्तमं सुखं उपैति (अनुपम ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है)। एवं (इस प्रकारसे) सदा आत्मानं युञ्जन् (सदा मनको आत्मामें लगा कर) विगतकल्मषः योगी (निष्पाप योगी) सुखेन (अनायास ही) ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखं (आत्माके संस्पर्शसे उत्पन्न निरतिशय सुखको) अश्नुते (लाभ करता है)। योगयुक्तात्मा (योगमें युक्तचित्त) सर्वत्र समदर्शनः (आत्माके अद्वैतताज्ञानसे सर्वत्र समदर्शी योगी) आत्मानं सर्वभूतस्थं (अपने आत्माको सकल भूतोंमें) सर्वभूतानि च आत्मनि (तथा सकल भूतोंको आत्मामें) ईक्षते (देखता है)। यः (जो) मां (परमात्मारूपी मुझको) सर्वत्र (सकल भूतोंमें) पश्यति (देखता है), मयि च सर्वं पश्यति (और मुझमें सकल भूतोंको देखता है) तस्य अहं न प्रणश्यामि (मैं उसके लिये अदृश्य नहीं होता हूं) स च मे न प्रणश्यति (और वह भी मुझसे परोक्ष नहीं रहता है)। यः (जो योगी) सर्वभूतस्थितं मां (सकल भूतोंमें स्थित मुझको) एकं आस्थितः भजति (अभेद भावसे भजन करता है) सर्वथा अपि वर्त्तमानः (जिस किसी अवस्थामें रहने पर भी) सः योगी मयि वर्त्तते (वह योगी मुझमें अर्थात् ब्रह्मभावमें ही रहता है)। हे अर्जुन! (हे अर्जुन!) यः सर्वत्र (जो योगी सकल भूतोंमें) सुखं वा यदि वा दुःखं (सुख या दुःख दोनोंको ही) आत्मौपम्येन समं पश्यति (अपने आत्माके सादृश्य विचारसे

तुल्यरूपमें देखता है) सः योगी परमः मतः (वही योगी श्रेष्ठ है)।

सरलार्थ—धीरतासे युक्त बुद्धिके द्वारा गुरूपदिष्ट मार्गानुसार क्रमशः योगीको, प्रपञ्चसे उपराम होना चाहिये और आत्मामें मनको लगाकर और कुछ भी नहीं चिन्ता करनी चाहिये। स्वभावतः चञ्चल मन अस्थिर हो कर जहां जहां भागने लगे, उन रूप रसादि चाञ्चल्य कारणोंसे मनको रोक कर आत्मामें ही वशीभूत कर देना चाहिये। इस प्रकारसे मनके शान्त तथा रजोगुणरहित होने पर ब्रह्मस्वरूपमें स्थित, धर्माधर्मवर्जित योगीको असीम आनन्दकी प्राप्ति होती है। वे योगयुक्त मनको आत्मामें डुबा कर सदा असीम अनुपम ब्रह्मानन्दका ही उपभोग करते रहते हैं। उस समय स्वरूपस्थित योगीको अपना आत्मा सकल भूतोंमें और सकल भूतोंका आत्मा अपनेमें अभिन्न भावसे दीखने लगता है। जो इस प्रकार मुझे सर्वत्र और मुझमें सबको आत्माके अद्वैत अनुभवके विचारसे देखते हैं ऐसे योगी न कभी मुझसे ही बिछुड़ते हैं और न कभी मैं उनसे बिछुड़ता हूं। सकल भूतोंमें व्याप्त परमात्मारूपी मुझको जो इस प्रकार अभेद बुद्धिके साथ भजन करते हैं, वे चाहे किसी अवस्थामें क्यों न हों, मुझमें ही सदा रहते हैं। हे अर्जुन! जैसा अपनेको सुख दुःख है ऐसा दूसरेको भी है इस विचारसे अपने आत्माके साथ तुलना करके जो सर्वत्र समदर्शी तथा सबके सुखचाहनेवाले होते हैं, वे ही योगी उत्तम हैं ऐसा जानना चाहिये।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें कुछ साधनोपाय तथा सिद्धावस्थाका अलौकिक अनुभव बताया गया है। साधन दशामें वैषयिक वृत्तियोंका निरोध धीरे धीरे करना चाहिये क्योंकि जन्मजन्मान्तरके संस्कारों द्वारा पुष्ट वृत्तियोंको एकदम रोकनेकी चेष्टा करनेसे कदाचित् उलटी प्रतिक्रिया हो सकती है। इस लिये 'शनैः शनैः उपराम' होनेका उपदेश दिया गया है। बुद्धिके साथ धृतिकी सहायता रहनेसे तभी वृत्तिदमन स्थायी हो सकता है, क्योंकि विचारद्वारा अच्छे बुरेका पता लग जाने पर भी जब तक धैर्य्य न हो, साधक उसमें जम कर नहीं रह सकता है। श्रीभगवान्ने सात्त्विकी धृतिका लक्षण आगे भी कहा है यथा—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ! सात्त्विकी॥

जिस धृतिके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंको योगी निश्चितरूपसे रोक सके वही सात्त्विकी धृति है। इसी धृतिसे युक्त बुद्धि द्वारा धीरे धीरे उपरत हो कर आत्मामें योगी जब लवलीन हो जाते हैं तभी निर्मल, अक्षय, असीम आत्मानन्दका उदय हो जाता है। उस समय आनन्दकी पूर्णताके साथ ही साथ ज्ञानकी भी पूर्णता हो जाती है, जिससे योगीको सर्वत्र अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार होने लगता है। वे अपने आत्माको सकल भूतोंमें, सकल भूतोंको अपने आत्मामें, परमात्माको सर्वत्र और सबको परमात्मामें देख कर कृतकृत्य हो जाते हैं। ऐसे महात्माके लिये आत्मा कभी अदृश्य नहीं होते हैं और न वे ही कभी आत्मासे दूर या परोक्ष रह सकते हैं। वे सर्वतोव्याप्त ब्रह्मकी उपासना अभेदबुद्धिसे ही करते हैं और किसी अवस्थामें रहने पर भी तत्त्वतः अद्वैतावस्थामें ही रहते हैं।

इसी भावमें आविष्ट होकर श्रीभगवान् शङ्कराचार्यने कहा था—

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

हे नाथ ! तुम्हारे साथ भेदभावका अभाव हो जाने पर भी, मैं तो तुम्हारा ही हूं, तुम मेरे नहीं हो, क्योंकि तरङ्ग ही समुद्रका होता है, समुद्र तरङ्गका नहीं होता है । यही अद्वैत भावमें ब्रह्मोपासनाका अलौकिक भाव है । ऐसे महात्मा व्यावहारिक जगत्में भी अपने ही सुखदुःख जैसे सभीका सुख दुःख जान कर सभीके प्रति दया तथा सहानुभूतिका वर्ताव करते हैं । जैसा कि स्मृति शास्त्रमें लिखा है—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥

अर्थात् जिस प्रकार अपना प्राण अपनेको प्रिय है, उसी प्रकार सभी जीवोंको अपने अपने प्राण प्रिय होते हैं, इसीलिये अपने ही साथ मिला कर महात्मागण जीवोंके प्रति दयाका वर्ताव करते हैं, अनन्त सुधामय विश्वप्रेमकी वर्षा करते हैं, यही भाव मुक्तात्मा स्वरूपस्थित योगीका होता है । इस प्रकारसे विश्वप्राणके साथ एकप्राण, विश्वात्माके साथ अभिन्नात्मा महात्मा योगसुधासमुद्रमें अवगाहन स्नान करके स्वयं पवित्र होते हैं और समस्त जगत्को भी पवित्र करते हैं ॥२५-३२॥

अथ प्रसङ्गोपात्त योगसिद्धिके विषयमें अर्जुनको शङ्का होती है—

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ! ।
एतस्याऽहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३

चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि-बलवद्‌ दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

अन्वय—हे मधुसूदन ! (हे कृष्ण !) त्वया (तुमने) साम्येन (समत्व भावके द्वारा पाने योग्य) यः अयं योगः प्रोक्तः (यह जो योग कहा), एतस्य (इसकी) स्थिरां स्थितिं (अचल स्थितिको) चंचलत्वात् (मनकी स्वाभाविक चंचलताके कारण) अहं न पश्यामि (मैं नहीं देखता हूं)। हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) हि (निश्चित ही) मनः (मन) चञ्चलं (स्वभावसे ही चपल है) प्रमाथि (शरीर इन्द्रियादिमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला है) बलवत् (प्रबल अर्थात् विचार तथा पुरुषार्थ द्वारा भी इसका जीतना कठिन है) दृढ़ं (विषय वासनाके द्वारा जकड़ा रहनेसे अति दुर्भेद्य भी है), अहं (मैं) तस्य निग्रहं (मनके निग्रहको) वायोः इव सुदुष्करं मन्ये (वायुका निग्रह करना जिस प्रकार कठिन है ऐसा ही अति कठिन समझता हूँ)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा हे मधुसूदन ! समत्व भावके साथ साधने योग्य जिस योगके विषयमें तुमने कहा, मनकी स्वाभाविक चंचलताके कारण उस योगमें अचल स्थितिकी सम्भावना मैं नहीं देखता हूं। हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चंचल शरीर-इन्द्रियोंको सता कर विषयोंमें फंसादेनेवाला, इतना बलवान् कि पुरुषार्थके द्वारा भी जीतने योग्य नहीं और नाग-पाशकी तरह दृढ़ है। जिस प्रकार हवाकी गठरी बांधना कठिन है, ऐसा ही मनोनिग्रहको मैं अति कठिन समझता हूं।

चन्द्रिका--वृत्तियोंके द्वारा मनमें जो विषमता उत्पन्न होती है उसीसे योगका नाश होता है और समता द्वारा ही योगमें सिद्धि लाभ होता है। किन्तु जन्मजन्मान्तरके विषय संस्कार तथा स्वाभाविक संकल्प विकल्प परायणताके कारण मन स्वभावतः ही चञ्चल है। इस कारण योगी जिस समय मनको शान्त करनेके लिये प्रयत्न करता है, उस समय स्वभाव पर आघात होनेसे मन और भी चञ्चल हो उठता है। स्वभावतः चञ्चल बन्दरको बांधने के लिये कोशिश करने पर जैसा वह और भी चञ्चलता प्रकट करता है, ऐसा ही स्वाभाविक चंचल मनके लिये भी समझना चाहिये। क्योंकि मनके लिये शान्त हो जाना उसके चंचल स्वभावका सत्यानाश है, अतः यह मनका जीवन मरण संग्राम है और इसी कारण ध्यानादिके समय मन बहुत ही चंचल होने लगता है। महाभारतमें भी लिखा है—

जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि॥
समाहितं क्षणं किञ्चिद् ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति।
पुनर्वायुपथभ्रान्तं मनो भवति वायुवत्॥

कमलपत्र पर जलबिन्दु जैसा चञ्चल रहता है, ऐसा ही ध्यान करते समय योगाभ्यासीका मन चञ्चल होता है। कभी थोड़ी देर तक ध्यानयोगमें मन शान्त हो जाता है, किन्तु शीघ्र ही पुनः वायुकी तरह चञ्चल हो उठता है। अतः ऐसे स्वभावतः चञ्चल तथा इन्द्रियोंको बलात् विषयोंमें फंसानेवाले मनका निग्रह करके योगमें सिद्धि लाभ करना कैसे सम्भव हो सकता है यही अर्जुनकी शङ्का है। 'कृष्ण' सम्बोधनका यह तात्पर्य है

कि तुम भक्तोंके पापादि दोषोंका आकर्षण करते हो, इसलिये मेरे भी चित्तचाञ्चल्यको आकर्षण करके मुझे योगयुक्त कर दो। यही इस प्रश्नका रहस्य है ॥३३-३४॥

अब प्रश्नके अनुरूप उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अन्वय—मनः (मन) दुर्निग्रहं (कठिनतासे रोकने योग्य) चलं (चञ्चल है) असंशयं (यह बात निःसन्देह है), तु (किन्तु) हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) अभ्यासेन वैराग्येण च (अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा) गृह्यते (मन रोका जाता है) असंयतात्मना (जिसने मनको वशीभूत नहीं किया है उसके द्वारा) योगः दुष्प्रापः इति मे मतिः (योग पाने योग्य नहीं है यही मेरी सम्मति है), तु (किन्तु) वश्यात्मना उपायतः यतता (संयतचित्त तथा अभ्यास वैराग्यरूपी उपायसे यत्न करनेवालेके द्वारा) अवाप्तुं शक्यः (योगका लाभ हो सकता है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन! जैसा तुमने कहा निःसन्देह ही मन चञ्चल तथा अति कठिनतासे रोकने योग्य है। किन्तु अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मनका निग्रह

हो सकता है। जिसका अन्तःकरण संयत नहीं होता, उसका योग मिलना असम्भव ही है यही मेरी राय है। किन्तु संयत-चित्त पुरुष अभ्यासवैराग्यरूपी उपायोंसे यत्न करता करता योगको पा सकता है।

चन्द्रिका—मन चञ्चल है तथा अतिकठिनतासे ठिकाने पर लाया जा सकता है, अर्जुनकी इन बातोंका समर्थन करके श्रीभगवान् मनो-निरोधके लिये दो उपाय बताते हैं, यथा अभ्यास और वैराग्य। योग-दर्शनमें भी लिखा है 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। अर्थात् अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चित्तवृत्तिका निरोध होता है। अभ्यासके विषयमें योगदर्शनमें लिखा है 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः' परमात्मामें चित्तके ठहरानेका जो प्रयत्न है उसको अभ्यास कहते हैं। दीर्घ समय तक श्रद्धा भक्तिके साथ निरन्तर प्रयत्न करनेसे तभी अभ्यासकी भूमि दृढ़ होती है। वैराग्यके लक्षणके विषयमें योगदर्शनमें लिखा है 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्यवशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' दृष्ट अर्थात् इहलोकके, आनुश्रविक अर्थात् स्वर्गादि परलोकके विषयोंके प्रति तृष्णाहीन पुरुषके चित्तकी जो वशीकार संज्ञा है उसीको वैराग्य कहते हैं। अधिकारानुसार वैराग्यवान् चित्तकी चार संज्ञाएं होती हैं, यथा—यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा और वशीकार संज्ञा। संसारमें सार क्या है, असार क्या है गुरु तथा शास्त्रकी सहायतासे इसके जाननेका प्रयत्न यतमान संज्ञाका लक्षण है। चित्तमें जितने वैषयिक भाव थे, उनमेंसे इतने नष्ट हो गये हैं, और इतने बाकी हैं इस तरहसे विवेचन करना व्यतिरेक संज्ञाका लक्षण है। बाहिरी इन्द्रियोंसे विषयवृत्ति

हट कर केवल मनमें ही विषय तृष्णाका रह जाना एकेन्द्रिय संज्ञाका लक्षण है। और अन्तमें मनमें भी विषय तृष्णाका न होना वशीकार संज्ञाका लक्षण है। इस प्रकारसे अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा चित्तको संयत करनेकी जिसको परवाह ही नहीं है उसको योग नहीं मिलता, किन्तु जो लगातार वैराग्य तथा अभ्यासके द्वारा इसी काममें लगे रहते हैं वे इस योगको अवश्य ही पा लेते हैं यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥३५-३६॥

पुनरपि अर्जुन शङ्का करते हैं—

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण! गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो! विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण! छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

अन्वय—हे कृष्ण! (हे कृष्ण!) श्रद्धया उपेतः (प्रथमतः श्रद्धाके साथ योगमें प्रवृत्त) अयतिः (किन्तु पश्चात् योगाभ्यास-में यत्नहीन) योगात् चलितमानसः (योगमार्गसे विचलित चित्त पुरुष) योगसंसिद्धिं अप्राप्य (योगमें सिद्धि न पाकर) कां गतिं गच्छति (किस गतिको पाता है)। हे महाबाहो! (हे कृष्ण!) ब्रह्मणः पथि (ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें) विमूढः (मूढ़भाव ग्रस्त) अप्रतिष्ठः (निराश्रय) उभयविभ्रष्टः (कर्मपथ योगपथ

दोनोंसे च्युत) छिन्नाभ्रं इव (विच्छिन्न मेघकी तरह) न नश्यति कच्चित् (नष्ट तो नहीं हो जाता है ?) हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) मे एतत् संशयं (मेरे इस सन्देहको) अशेषतः (निःशेषरूपसे) छेत्तुं अर्हसि (तुम्हें दूर करना चाहिये), हि (क्योंकि) त्वदन्यः (तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई) अस्य संशयस्य छेत्ता (इस सन्देहका दूर करनेवाला) न उपपद्यते (नहीं मिल सकता है)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण ! यदि कोई ऐसा पुरुष हो जो कि पहिले श्रद्धाके साथ योगाभ्यासमें प्रवृत्त हुआ था, किन्तु पश्चात् यत्नकी कमीसे योगसे विचल गया, ऐसे पुरुषको योगमें सिद्धिलाभ न होनेके कारण कौन गति प्राप्त होगी ? हे महाबाहो ! ब्रह्मप्राप्ति मार्गमें विमूढ़, कहीं आश्रय-हीन, कर्मपथ-योगपथ दोनोंसे भ्रष्ट ऐसा पुरुष मेघमालासे विच्छिन्न मेघखण्डकी तरह बीच ही में नष्ट तो नहीं हो जायगा ? हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देहका निश्चित निराकरण करो, क्योंकि तुम्हारे सिवाय इसका निराकरण करनेवाला दूसरा मुझे नहीं दीखता है।

चन्द्रिका—योगमार्ग बड़ा कठिन है इसलिये सम्भव हो सकता है कि पहिले पहिल साग्रह योगाभ्यासमें रत होने पर भी पश्चात् महा-मायाके प्रभावसे मार्ग छूट जाय और चित्त चञ्चल होकर विषयमलिन हो पड़े, ऐसी दशा में न योग ही बना और न गृहस्थी ही बना, दोनों मार्गसे भ्रष्ट हो गया। इसलिये अर्जुनको औत्सुक्य होता है कि ऐसे योगभ्रष्ट योगीकी क्या गति होती है सो जान लेवे। श्रीभगवान् 'महाबाहु' हैं,

भक्तोंके योगमार्गके उपद्रव नाश करनेके अर्थ वे प्रचण्डबाहु चतुर्भुज हैं, महर्षियोंके भी गुरु, पूर्णप्रज्ञ, सर्वज्ञ हैं, इस कारण ऐसी शंकाओंका शान्तिप्रद समाधान उन्हींके द्वारा सम्भव हो सकता है, ऐसा निश्चय कर अर्जुनने श्रीभगवान्से ही सन्देह दूर करानेका आग्रह किया है ॥ ३७–३९ ॥

प्रश्नके अनुरूप उत्तर श्रीभगवान् देते हैं।

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ! ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम् ॥४५॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) न एव इह (न इहलोकमें) न अमुत्र (और न परलोकमें) तस्य विनाशः विद्यते (योगभ्रष्ट पुरुषकी अधोगति होती है), हि (क्योंकि) हे तात ! (हे प्रिय अर्जुन !) कल्याणकृत् कश्चित् (शुभकारी कोई भी) दुर्गतिं न

गच्छति (हीन गतिको नहीं प्राप्त करता है) । योगभ्रष्टः (पूर्व वर्णित योगभ्रष्ट योगी) पुण्यकृतान् लोकान् प्राप्य (यज्ञादि पुण्य-कारियोंके भोग्य स्वर्गादि लोकोंको पा कर) शाश्वतीः समाः (बहु वर्ष तक) उषित्वा (उन लोकोंमें वाससुख उपभोग करके) शुचीनां श्रीमतां गेहे (पवित्रात्मा धनियोंके घरमें) अभिजायते (जन्म लेता है) । अथवा (अथवा) धीमतां योगिनां एव कुले (ज्ञानवान् योगियोंके वंशमें) भवति (उत्पन्न होता है), ईदृशं यत् जन्म (यह जो योगियोंके कुलमें जन्म है) एतत् हि लोके दुर्लभतरम् (सो श्रीमानोंके घरमें जन्मकी अपेक्षा दुर्लभ जन्म है)। तत्र (योगियोंके कुलमें जन्म लेकर) पौर्वदेहिकं तं बुद्धि-संयोगं (पूर्वजन्ममें अर्जित उस योगबुद्धिको) लभते (योगभ्रष्ट योगी प्राप्त करता है), ततः च (और इसी कारण) हे कुरुनन्दन! (हे अर्जुन!) भूयः (विशेष पुरुषार्थके साथ) संसिद्धौ यतते (योगमें सिद्धिलाभके लिये प्रयत्न करता है)। तेन एव पूर्वाभ्यासेन (पूर्व जन्मके अभ्यासके कारण) सः हि (वही योगभ्रष्ट) अवशः अपि ह्रियते (विवशरूपसे योगमार्गमें आकृष्ट हो जाता है), योगस्य जिज्ञासुः अपि (योगके स्वरूप जाननेकी इच्छा करने पर भी) शब्दब्रह्म अतिवर्तते (वेद कोटिका अतिक्रम करके मोक्षप्रद योगपदवी पर प्रतिष्ठित हो जाता है)। प्रयत्नात् तु यतमानः योगी (पुरुषार्थके साथ योगभूमिमें अग्रसर होनेके लिये यत्नशील योगी) संशुद्धकिल्बिषः (पापमुक्त होकर) अनेकजन्मसंसिद्धः (अनेक जन्मोंमें क्रमोन्नति द्वारा सिद्धि लाभ करता हुआ) ततः

(अन्तमें) परां गतिं याति (मोक्षरूपी परम गतिको पा लेता है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे पार्थ ! न इहलोक न परलोकमें योगभ्रष्ट पुरुषकी अधोगति होती है । क्योंकि कल्याणपथके पथिक कदापि दुर्गतिको नहीं पाते हैं। ऐसे पुरुष अपने कुछ भी अर्जित शुभ प्राक्तनके फलसे पुण्यात्माओंके भोग्य स्वर्गादि लोक पाकर वहां वर्षों नाना भोग भोगनेके बाद पवित्राचार धनियोंके घरमें जन्म ग्रहण करते हैं । अथवा ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें उनका जन्म होता है और संसारमें इस प्रकारका जन्म बड़ा ही दुर्लभ है। इस प्रकारसे अच्छे कुलमें जन्म होनेके बाद उन्हें प्राक्तन योगबुद्धि स्वतः लब्ध होती है जिससे अधिक पुरुषार्थके साथ योग मार्गमें अत्युन्नत होनेके लिये वे प्रयत्न करने लग जाते हैं । पूर्वजन्मके अभ्यासके बलसे विना कोशिश किये ही-विवशकी तरह वे योगमार्गमें प्रवृत्त हो जाते हैं और प्रवृत्त न होकर भी केवल योगस्वरूपके विषयमें जिज्ञासा होते ही वे वेदमार्गको पार होकर मोक्षमार्गमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इस तरह यत्न करते करते मनोमल शरीरमल आदिकी निवृत्तिके साथ साथ जन्म जन्मान्तरके अभ्यास परिपाक द्वारा सिद्धि मिलने पर तब योगीको मोक्षरूपी परमगति प्राप्त हो जाती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें अर्जुनकी शङ्काके समाधानरूपमें श्रीभगवान्‌ने योगभ्रष्टपुरुषकी अन्तिम गति बताई है। अच्छे काम थोड़े भी हों 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इन भगवद्वचनोंके अनुसार अच्छेके अच्छे ही फल होते हैं। इसलिये

योगभ्रष्ट पुरुषने प्रथमतः जो कुछ अच्छे साधन संस्कार प्राप्त किये थे उन्हींके फलरूपसे उन्हें स्वर्गादि आनन्दमय लोक मिलते हैं और वहां बहु वर्ष तक सुख भोग करके पश्चात् सदाचारपरायण धनियोंके घरमें अथवा ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें उनको मनुष्यदेह मिलता है। धनी होनेसे 'योगक्षेम' का अभाव नहीं रहता है और सदाचारी होनेसे धनका मद भी नहीं होता है। इसलिये ऐसे घरमें जन्म होना योगके लिये सुविधाजनक अवश्य है। किन्तु योगियोंके कुलमें जन्म होना और भी शुभ है क्योंकि वहां माता पिताके द्वारा भी योगका स्वाभाविक संस्कार जन्मतः प्राप्त होता है और कुलमें योगकी परम्परा रहनेसे सभी विषयोंमें सुविधा मिलती है, ऐसे जन्मप्राप्त पुरुष जन्मसे ही योगी बनते हैं और योगाभ्यास-के लिये विशेष प्रयत्न करते हैं। शास्त्र में लिखा है—

पूर्वजन्मार्जिता विद्या पूर्वजन्मार्जितं धनम्।
पूर्वजन्मार्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति॥

पूर्वजन्मके कमाये हुए धन, विद्या तथा पुण्य आगे जन्ममें प्राप्त होते हैं। तदनुसार इच्छा न करने पर भी ऐसे पुरुषका चित्त योगमें खिंच जाता है, और योगकी बात पूछते पूछते भी वे कर्मकाण्डको छोड़ कर योगपरिपाक-रूपी मोक्ष पदवी पर पहुंच जाते हैं। ऐसे ही अनेक जन्म तक थोड़े थोड़े योगसंस्कार एकत्रित होकर अन्तमें योगाभ्यासीको निर्मल, सदानन्दमय अमृतपदको दिला देते हैं, यही उत्तम कर्मकी उत्तम गति है। श्लोकमें 'तात' शब्दके द्वारा अर्जुनके प्रति विशेष प्रेम तथा कृपा श्रीभगवान्ने प्रकट की है। 'तात' पिताको कहते हैं, पुत्र भी पिताका आत्मज होनेके कारण 'तात' कहलाता है। शिष्य पुत्रस्थानीय है और पुत्रकी तरह स्नेहपात्र है, इस

कारण शिष्य अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार स्नेह तथा कृपासूचक शब्दका प्रयोग किया और यही भाव प्रकट किया कि तुम भी योगी बन जाओ, तुम्हें डर नहीं है, क्योंकि यदि तुम मनकी चञ्चलताके कारण कभी योगभ्रष्ट भी हो गये तथापि इहलोक, परलोकमें तुम्हें उत्तम सुख और अन्तमें उत्तमा गति प्राप्त होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ॥४०–४५॥

उपासनायोगकी उत्तमता बता कर उपसंहारमें उसी योगीकी ओर अर्जुनका ध्यान आकृष्ट करते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ! ॥४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।

अन्वय––योगी (क्रियायोगपरायण पुरुष) तपस्विभ्यः अधिकः (तपकरनेवालोंसे श्रेष्ठ है) ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः (अनुभवहीन केवल शास्त्रज्ञ पुरुषोंसे भी श्रेष्ठ है) कर्मिभ्यः च अधिकः मतः (और इष्टापूर्त्तादि स्वर्गप्रद सकाम कर्मकारियोंसे भी अधिक है यही मेरा अभिमत है) तस्मात् (इसलिये) हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) योगी भव (तुम योगी हो जाओ) । सर्वेषां योगिनां अपि (सब योगियोंमें भी) यः श्रद्धावान् (जो श्रद्धालु योगी) मद्गतेन अन्तरात्मना (मुझमें ही सारे अन्तःकरणको डालकर) मां भजते (मेरा भजन करता है)

सः मे युक्ततमः मतः (उसे मैं सर्वोत्तम योगी मानता हूं)।

सरलार्थ—क्रियायोगपरायण पुरुष तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ है, इसलिये, हे अर्जुन! तुम योगी हो जाओ। योगियोंमें भी जो श्रद्धालु योगी मुझमें सम्पूर्ण मनको लगा कर मेरी उपासना करता है ऐसे भक्तिमान् योगीको मैं सर्वश्रेष्ठ योगी समझता हूं।

चन्द्रिका—इन दोनों श्लोकोंमें तपस्वी आदियोंसे यमनियमादि अष्टाङ्गयोगपरायण योगीकी श्रेष्ठता और ऐसे योगियोंमें भी भक्तिमान् उपासनारत योगीको सर्वश्रेष्ठता बताई गई है। योगी तपस्वीसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि सकाम तपस्या द्वारा केवल स्वर्गादि प्राप्ति और निष्काम तपस्या द्वारा चित्तशुद्धि मात्र होती है। मोक्ष-प्रद योगसाधना इस अधिकारसे बहुत ऊंची है। योगी ज्ञानी अर्थात् शास्त्रज्ञाता विद्वान्से श्रेष्ठ हैं क्योंकि बिना अनुभवके नीरे शास्त्रज्ञान द्वारा आत्माके राज्यमें विशेष प्रतिष्ठा होती नहीं, उधर योगी योगबलसे आत्मराज्यमें पूर्णप्रतिष्ठा लाभ करते हैं। योगी इष्टापूर्तादि सकाम कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इन कर्मोंका भी अन्तिम परिणाम स्वर्गसुख ही है और पश्चात् स्वर्गसे पतन है। अतः आत्माके राज्यमें उन्नतिके विचारसे तपस्वी, शब्दज्ञानी तथा कर्मी सभीसे योगी श्रेष्ठ हुए। इन योगियोंमें भी उपासना तथा भक्तिसे युक्त योगी सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि भक्तिके बिना केवल आसन प्राणायामादि कहीं कहीं व्यायामादि रूपमें ही परिणत हो जाते हैं और कहीं कहीं छोटी मोटी सिद्धिके देनेवाले हो जाते हैं। किन्तु ईश्वर परायणताके साथ अष्टाङ्ग योगका अनुष्ठान होने पर समाधि सिद्धि तथा ब्रह्मप्रतिष्ठा निश्चय ही हो जाती

है। इसी कारण भक्तिमान् ईश्वररत योगी ही सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः अर्जुनको तथा संसारके समस्त लोगोंको कर्मयोगके साथ उपासनायोगका समन्वय करके अपना अपना वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्य पालन करना चाहिये यही श्रीभगवान्का उपदेश है। कर्मयोगके साथ ज्ञानयोगका समन्वय रहनेसे कर्म तथा विकर्मका भेद समझकर कर्म करनेमें कैसी सुविधा होती है इसका रहस्य चतुर्थाध्यायमें श्रीभगवान् कुछ बता चुके हैं। अब इस अध्यायमें उपासनायोगकी महिमा बता कर कर्मयोगके साथ इस योगके भी समन्वयकी आवश्यकता उन्होंने बता दी है। जिससे कर्मयोगीमें 'अहंकार विमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते' यह दोष न आ जाय और वे कर्ममें फंस कर अहंकारके कारण अपनेको कर्त्ता ही न समझ बैठे। कर्मके साथ उपासनाका मधुर विनीत भाव रहनेसे कर्मयोगी अपनेको कर्त्ता न समझ कर यही समझेंगे कि उनके भीतर जो शक्ति काम करती है वह भगवान्की ही है और वे केवल यन्त्री भगवान्के यन्त्ररूप हैं। अतः कर्मका फलाफल भगवान्में ही समर्पण करके निर्लिप्तरूपसे वे अपना वर्णाश्रमोचित धर्म पालन कर सकेंगे। यही कर्मयोगके साथ उपासनायोग तथा ज्ञानयोगके मधुर समन्वयका अलौकिक रहस्य है और यही श्रीमद्भगवद्गीताका प्रतिपाद्य विषय है॥ ४७॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुन संवादका 'ध्यानयोग' नामका छठा अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठ अध्याय समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः ।

परम करुणामय श्रीभगवान् वासुदेव निजभक्त अर्जुनके द्वारा जिज्ञासित न होने पर भी भक्तके प्रति स्वाभाविक करुणाके कारण स्वयं ही पूर्वाध्यायमें प्रारब्ध उपासनायोगका विशेष वर्णन इस अध्यायसे करने लगे हैं । वेदके उपासनाकाण्डमें भक्ति और योग दोनोंका ही उपासनाके अङ्गरूपसे वर्णन है । भक्ति उपासनाका प्राण है और योग उपासनाका शरीर है । विना भक्तिके उपासना निर्जीव है और विना योगके उपासना पुष्ट नहीं होती है । इसी कारण उपासनामें भक्ति और योग दोनोंकी ही नितान्त आवश्यकता बताई गई है। भक्तिहीन योग कहीं तो स्थूल व्यायाम रूपमें ही पर्यवसित हो जाता है, कहीं सिद्धि आदि द्वारा बन्धनकारक बन जाता है और कहीं जड़ समाधि आदि उत्पन्न करके परमात्माप्राप्तिके सरलपथको कण्टकमय बना देता है । इसलिये योगीको योगपथमें किसी प्रकार विघ्नबाधा प्राप्ति न हो इस विचारसे श्रीभगवान्ने प्रथमतः षष्ठाध्यायके अन्तमें भक्तिमान् योगीको ही श्रेष्ठयोगी बताकर अब सप्तमाध्यायसे उसी भावका विस्तार करना प्रारम्भ किया है। 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' परमात्माके प्रति परम अनुराग-का नाम भक्ति है, महर्षि शाण्डिल्यने भक्तिका यही लक्षण किया है। श्रीभगवान्के प्रति भक्तजनमुकुटमणि प्रह्लादकी प्रार्थना है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

विषयी जनोंका जिस प्रकार विषयमें अनुराग होता है, जिसके विना विषयी एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता है, श्रीभगवान्के प्रति उसी प्रकार अनुरागका नाम भक्ति है। ऐसी भक्ति चित्तको द्रव करके गङ्गाकी धाराकी तरह उसे सच्चिदानन्द समुद्रकी ओर प्रवाहित करती है, योगमार्गके समस्त विघ्नका विनाश करके चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योगलक्ष्यको सुसिद्ध कर देती है और कर्मपथमें अवश्यम्भावी अभिमान अहङ्कारको विदूरित करके कर्मयोगीको अनायास ही आनन्दनिलय भगवान्में लयलीन कर देती है। इसलिये प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मकाण्डका प्रतिपादन होकर अब द्वितीय छः अध्यायोंमें उपासनाकाण्डका प्रतिपादन श्रीमद्गीताका लक्ष्य है। यमनियमादि अष्टाङ्गयोग तथा मधुमय भक्तियोगसमन्वित इसी उपासनाकी ओर अर्जुन तथा जगज्जनोंका विशेष लक्ष्य करानेके लिये श्रीभगवान् कह रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥१॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते॥२॥

अन्वय—हे पार्थ! (हे अर्जुन) मयि आसक्तमनाः (मुझमें

मनको लगाकर) मदाश्रयः (मेरी ही शरण लेकर) योगं युञ्जन् (उपासनायोगमें युक्त हो) समग्रं मां (अनन्तविभूति बलैश्वर्यादिसे युक्त मुझको) असंशयं (निश्चितरूपसे) यथा ज्ञास्यसि (जैसे जान सकोगे) तत् शृणु (सो सुनो)। अहं (मैं) ते (तुम्हें) सविज्ञानं इदं ज्ञानं (अनुभवसहित इस ज्ञानको) अशेषतः (पूर्णरूपसे) वक्ष्यामि (कहूंगा), यत् ज्ञात्वा (जिसको जानकर) इह (यहां पर) भूयः (पुनः) अन्यत् ज्ञातव्यं न अवशिष्यते (जानने योग्य और कुछ भी बाकी नहीं रह जाता)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन! मुझमें मनको बांधकर मदेकशरण भक्त उपासनायोगमें युक्त हो पूर्णविभूतिमय मुझे किस प्रकारसे निश्चित जान सकता है सो सुनो। मैं तुम्हें अनुभवसहित यह ज्ञान पूर्णरूपसे बताऊंगा, जिसे जान लेने पर उन्नतिपथमें जानने योग्य और कुछ भी बाकी नहीं रह जाता।

चन्द्रिका—ये दोनों श्लोक वक्तव्य विषयके सूचनारूप हैं। पूर्व छः अध्यायोंमें कर्मयोगके द्वारा ब्राह्मीस्थितिलाभका रहस्य बता कर अब अगले छः अध्यायोंमें उपासनायोगके द्वारा ब्राह्मीस्थितिलाभके रहस्य बतानेकी सूचना श्रीभगवान्‌ने इन दोनों श्लोकोंके द्वारा की है। ज्ञान यदि केवल शास्त्रपाठादि द्वारा हो तो वह आत्मानुभवराज्यमें उतना फलप्रद नहीं हो सकता है, और न उसके द्वारा अनन्त विभूतिके आधार 'समग्र' परमात्मा ही जाने जा सकते हैं, इसलिये श्रीभगवान्‌ने 'सविज्ञान ज्ञान' अर्थात् अनुभवसहित ज्ञान बतानेकी सूचना की है। सब ज्ञानका अन्तिम

ज्ञान जब सबसे परे विराजमान परमात्माका ही ज्ञान है, तो परमात्माके अनुभवमय ज्ञानके उदय होने पर ज्ञातव्य और कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह सकता है, इसलिये श्रीभगवान्ने द्वितीय श्लोकके द्वारा इसीकी सूचना कर दी है ॥ १–२ ॥

सूचना करके अब प्रकृत विषय प्रारम्भ कर रहे हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

अन्वय—मनुष्याणां सहस्रेषु (हजारों मनुष्योंमें) कश्चित् (कोई एक आध) सिद्धये (आत्मज्ञानलाभके लिये) यतति (प्रयत्न करता है), यततां सिद्धानां अपि (ऐसें प्रयत्नशील आत्मज्ञान-लाभेच्छु अनेकोंमेंसे) कश्चित् (कोई एक आध) मां तत्त्वतः वेत्ति (मेरे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लेता है)।

सरलार्थ—तत्त्वज्ञान ऐसी दुर्लभ वस्तु है कि सहस्र सहस्र मनुष्योंमेंसे एक आध ही इसके लिये प्रयत्न करता है और ऐसे प्रयत्न करनेवाले हजारोंमेंसे एक आधको सच्चा तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है।

चन्द्रिका—भक्तवत्सल श्रीभगवान् पूर्वश्लोकमें अर्जुनको तत्त्वज्ञान बतानेके लिये कह कर अब इस श्लोकमें तत्त्वज्ञानकी दुर्लभता बता रहे हैं ताकि अर्जुनकी चित्तवृत्ति इसकी प्राप्तिके लिये विशेष उत्सुक हो जाय और श्रीभगवान्का भी यथार्थ पात्रमें तत्त्वज्ञानका दान हो।

संसार अविद्याके द्वारा ग्रस्त है, 'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्त-भूतं जगत्' मोहमयी प्रमाद मदिराको पीकर जगत् उन्मत्त हो रहा है,

इसलिये अनेक जन्म सञ्चित पुण्य प्रतापसे पापक्षय होने पर हजारोंमेंसे किसी किसीकी ही तत्त्वज्ञान लाभके लिये इच्छा होती है । और केवल इच्छा होनेसे ही क्या होगा वेदभगवान् कहते हैं—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'

तत्त्वज्ञानके मार्ग पर चलना छुराकी धार पर चलनेकी तरह कठिन है, पद पदमें पतनकी आशङ्का, महामायाके जालमें फंस जानेकी आशङ्का रहती है, इस कारण तत्त्वज्ञानके लिये प्रयत्न करनेवाले हजारोंमेंसे भी एक ही साधकों सच्चा तत्त्वज्ञान मिल जाता है । अर्जुन भगवान्का भक्त है, श्रीभगवान् भक्तवत्सल हैं, इसलिये ऐसा दुर्लभतम तत्त्वज्ञान भी कृपा करके श्रीभगवान् अर्जुनको बता रहे हैं अतः अर्जुनकोभी ऐसे ही आग्रहके साथ इसे ग्रहण तथा धारण करना चाहिये । श्लोकमें 'सिद्धानां' शब्दके द्वारा सिद्धिलाभके लिये यत्नशील पुरुष ही कहे गये हैं ॥ ३ ॥

अब सृष्टितत्त्व पर विवेचन करते हुए तत्त्वज्ञान बता रहे हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

अन्वय—भूमिः (सूक्ष्म पृथ्वी अर्थात् गन्ध तन्मात्रा) आपः

(सूक्ष्म जल अर्थात् रस तन्मात्रा) अनलः (सूक्ष्म अग्नि अर्थात् रूप तन्मात्रा) वायुः (सूक्ष्म वायु अर्थात् स्पर्श तन्मात्रा) खं (सूक्ष्म आकाश अर्थात् शब्द तन्मात्रा) मनः (मनका कारण अहङ्कार) बुद्धिः एव च (तथा अहङ्कारका कारण महत्तत्त्व) अहङ्कारः (सबकी मूल अव्यक्त प्रकृति) इति इयं (यह) मे अष्टधा भिन्ना प्रकृतिः (मेरी आठ भागमें विभक्त प्रकृति है)। इयं अपरा (यह मेरी अपरा प्रकृति है) इतः तु अन्यां (इससे पृथक्) जीवभूतां मे परां प्रकृतिं विद्धि (जीवरूपी अर्थात् चेतन क्षेत्रज्ञ रूपी मेरी उत्तमा प्रकृतिको जानो), हे महाबाहो! (हे अर्जुन!) यया (जिस चेतन प्रकृतिके द्वारा) इदं जगत् धार्यते (यह जड़ जगत् रक्षित तथा सञ्चालित होता है)। सर्वाणि भूतानि (जड़ चेतनात्मक समस्त विश्व) एतद्योनीनि (इन्हीं पर अपर रूपी दोनों प्रकृतियोंसे बना है), अहं (प्रकृतिका भी कारण मैं) कृत्स्नस्य जगतः (समस्त विश्वका) प्रभवः (उत्पत्तिकर्त्ता) तथा (और) प्रलयः (संहारकर्त्ता हूं)। हे धनञ्जयः! (हे अर्जुन!) मत्तः परतरं (मुझसे पृथक्) अन्यत् किञ्चित् न अस्ति (विश्वकारण दूसरा कोई नहीं है) सूत्रे मणिगणा इव (धागेमें पिरोये हुए मणियोंकी तरह) इदं सर्वं (यह सब विश्व) मयि प्रोतम् (मुझमें गुंथा हुआ है)।

सरलार्थ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये पांच तन्मात्रा, अहंतत्त्व, महत्तत्त्व और अव्यक्त यह मेरी आठ भागोंमें विभक्त प्रकृति है। जड़ होनेके कारण यह मेरी अपरा प्रकृति है। इसके अतिरिक्त चेतन क्षेत्रज्ञरूपी मेरी परा प्रकृति है, जिसने हे अर्जुन!

समस्त विश्वको धारण कर रक्खा है। जड़चेतनात्मक समस्त संसार इन्हीं परा-अपरा प्रकृतियोंसे बना है। प्रकृतिका भी कारण मैं ही हूं, इसलिये समस्त विश्वकी उत्पत्ति तथा प्रलय मेरे द्वारा ही होता है। हे अर्जुन! मुझसे दूसरा कोई विश्व-कारण नहीं है, सूतमें गुंथे हुए मणियोंकी तरह सारा संसार मुझमें ही गुंथा हुआ है।

चन्द्रिका—उपासना योगकी सहायतासे परमात्माके जिस सर्व-भूतमय स्वरूपका अनुभव भक्तको जन्मजन्मान्तरके बाद हो जाता है उसीका तत्त्व श्रीभगवान्‌ने इन श्लोकोंमें बताया है। सांख्य दर्शनमें सृष्टिकी मूलरूपिणी जिस प्रकृतिका वर्णन है, वह प्रकृति श्रीभगवान्‌की ही शक्ति है। उसकी प्रथम आठ दशा 'प्रकृति' और दूसरी सोलह दशा 'विकृति' कहलाती है। प्रथम सत्त्वरजस्तमोमयी मूलप्रकृति या अव्यक्तसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंतत्त्व और अहंतत्त्वसे पञ्चतन्मात्रा प्रकट होती है। अहंतत्त्वके परिणामसे पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन उत्पन्न होते हैं। पञ्चतन्मात्रासे पृथिवी आदि स्थूल पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इस तरहसे उत्पन्न करनेकी शक्तिसे युक्त होनेके कारण प्रथम आठका नाम 'प्रकृति' है और दूसरे सोलहमें यह शक्ति न रहनेके कारण तथा केवल प्रकृतिके परिणाममात्र होनेके कारण इनका नाम 'विकृति' है। प्रथम श्लोकमें 'अष्टधा प्रकृति' इस शब्दके होनेसे भूमि, आप, मन आदिको स्थूल भूमि आदि न कहकर सूक्ष्म तन्मात्रा तथा अहंतत्त्व आदि रूपसे बताया गया है। यही परमात्माकी जड़शक्तिरूपिणी अष्टधा प्रकृतिका स्वरूप है। जड़ अर्थात् अचेतन होनेसे यह प्रकृति अपरा अर्थात् गौण है

और दूसरी प्रकृति परमात्माको चेतन शक्ति या अंशरूपिणी जिसको शास्त्रमें जीवात्मा या क्षेत्रज्ञ कहा गया है, जिसके द्वारा जड़ प्रकृति चल सकती है और चेतनके भोगायतनरूपसे कार्य कर सकती है उसका नाम परा या मुख्य प्रकृति है । समस्त विश्वसंसार जड़ और चेतन, चित् और अचित् इन दोनोंके संयोगसे बना हुआ है और ये भी दोनों परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं, अतः परमात्मा ही सबके उत्पत्ति तथा प्रलयकर्त्ता हैं । 'यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिः' अर्थात् जगतकी जननी प्रकृति जिससे उत्पन्न हुई है और 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' अर्थात् परमात्मा निज अंशरूपी जीवात्माके रूपसे जड़ प्रकृतिमें प्रवेश करके नामरूपमय विश्वका परिणाम प्रकट करते हैं, इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा यह विज्ञान स्पष्ट प्रमाणित होता है । अतः जड़प्रकृति जब उनकी शक्ति तथा चेतन प्रकृति उनकी सत्ता है, तो उन्हींमें ही समस्त विश्व 'ओतप्रोत' है यह तत्त्व प्रमाणित हुआ । 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' विश्वमें जो कुछ है, सो तन्तुमें पटकी तरह परमात्मामें ही स्थित है, परमात्माके द्वारा ही आवृत है ऐसा ईशावास्य श्रुतिमें कहा भी गया है । श्लोकमें जो 'मणियोंमें सूत्र' का दृष्टान्त दिया गया है, उसके द्वारा केवल 'भगवान्‌में सब गुंथे हुए हैं' यही भाव प्रकट होता है । वास्तवमें जगत्‌के साथ परमात्माका और भी अधिक सम्बन्ध है । परमात्मा प्रत्येक पदार्थकी सारसत्ता है अर्थात् जिस सारसत्ताके बिना किसी वस्तुकी वस्तुत्वसिद्धि ही नहीं होती, वही सारसत्ता परमात्मा है ॥४–७॥

अब इसी सारसत्ताका प्रतिपादन दृष्टान्तद्वारा श्रीभगवान् क्रमशः कर रहे हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) अहं (मैं) अप्सु (जलमें) रसः (जलका सारभूत रस) शशिसूर्ययोः (चन्द्र सूर्य्यमें) प्रभा (ज्योतिर्मय वस्तुओंका सारभूत प्रकाश) सर्ववेदेषु (सकल वेदोंमें) प्रणवः (वेदोंका सारभूत ओंकार) खे (आकाशमें) शब्दः (शब्दगुण आकाशका सारभूत शब्द) नृषु (पुरुषोंमें) पौरुषं (पुरुषका सारभूत पौरुष) अस्मि (हूं) ।

सरलार्थ—मैं जलमें रस, चन्द्रसूर्यमें प्रभा, सकलवेदोंमें ओंकार, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पौरुष हूँ ।

चन्द्रिका—पूर्व विचारके अनुसार श्रीभगवान्‌की सारसत्ताका प्रतिपादन इस श्लोकमें किया गया है । रसके बिना जल जल ही नहीं कहला सकता इसलिये जलमें रसरूपी सारसत्ता श्रीभगवान् हैं, प्रभाके बिना सूर्य्य चन्द्रादि ज्योतिर्मय पदार्थोंका अस्तित्व ही वृथा है, इसलिये इन सब प्रकाशमान पदार्थोंका प्रकाश श्रीभगवान् हैं, सब मन्त्रोंका आदि मन्त्र प्रणव है, और इसी आदि मन्त्रके परिणामरूपमें ही वेदादि समस्त मन्त्रोंका विकाश होता है, इसलिये सकल वेदोंका सारभूत ओंकार श्रीभगवान् हैं । उपनिषद्‌में भी—'तद् यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृणान्येवमोंकारेण सर्वा वाक्' अर्थात् डण्ठीमें पत्रोंकी तरह ओंकारमें समस्त वेदवाक्य ग्रथित हैं ऐसा कह कर इसी सिद्धान्तकी प्रतिध्वनि की गई है । शब्दगुण आकाशमें सारभूत वस्तु शब्द ही है, अतः वही शब्द श्रीभगवान् हैं, पौरुष अर्थात् उद्यम ही पुरुषके पुरुषत्वका लक्षण है, अतः पुरुषका सारभूत पौरुष श्रीभगवान् हैं । ये ही सब विश्व संसारमें परमात्माकी सारसत्ताके प्रतिपादक दृष्टान्त हैं, ऐसे ही सकल साररूप परमात्मामें समस्त विश्व ओतप्रोत है ॥८॥

पुनरपि दृष्टान्त देते हैं—

पुण्यो गन्धः पृथिव्याश्च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ ! सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवताश्चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ! ॥११॥

अन्वय—पृथिव्यां च पुण्यः गन्धः (गन्धवती पृथिवीमें अविकृत सुगन्ध) विभावसौ तेजः च (और अग्निमें सर्वदग्धकारी प्रकाशमयी दीप्ति), सर्वभूतेषु जीवनं (सकल प्राणियोंमें देहधारणकारी प्राणशक्ति), तपस्विषु तपः च अस्मि (और तपस्वियोंमें तपःशक्ति मैं हूं)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन) मां (मुझको) सर्व भूतानां (सकल जीवोंके) सनातनं बीजं विद्धि (चिरन्तन बीज करके जानो) अहं (मैं) बुद्धिमतां बुद्धिः (बुद्धिमान् जनोंकी बुद्धि) तेजस्विनां तेजः च अस्मि (और तेजस्वी जनोंका तेज हूं)। हे भरतर्षभ ! (हे अर्जुन !) अहं (मैं) बलवतां (बलवान् पुरुषोंका) कामरागविवर्जितं (काम तथा रागसे रहित) बलं (बल हूं) भूतेषु (प्राणियोंमें) धर्माविरुद्धः (धर्मके अनुकूल) कामः अस्मि (काम मैं हूँ)।

सरलार्थ—मैं पृथिवीमें सुगन्ध, अग्निमें तेज, सकल जीवोंका जीवन और तपस्वियोंका तप हूँ। हे अर्जुन ! मुझे समस्त जीवोंका नित्य बीज करके जानो, मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका

तेज हूं । हे अर्जुन ! मैं बलवान् पुरुषका कामरागरहित बल हूँ और जीवोंमें जो धर्मानुकूल काम है सो भी मैं ही हूं ।

चन्द्रिका--इन श्लोकोंमें भी दृष्टान्त द्वारा श्रीभगवान्ने यही समझाया है कि सर्वत्र जो विकारहीन सारसत्ता है, वही परमात्माकी सत्ता है । गन्धवती पृथिवीकी सारसत्ता सुगन्ध है, दुर्गन्ध उसमें भूत-संसर्ग जनित विकार मात्र है, इस कारण पृथिवीमें जो पुण्य गन्ध है वही भगवान् है । विश्वदाहकारी तेजके द्वारा ही अग्निका अग्नित्व सिद्ध होता है, अतः वही तेज श्रीभगवान् है । प्राणसे ही प्राणिका प्राणित्व है, इसलिये वही प्राण श्रीभगवान् है । शीत उष्ण, सुखदुःख आदि द्वन्द्वोंमें समभाव रखनेका नाम तप है और तपकारियोंकी सारवस्तु यही है । जहां सम वहीं ब्रह्म है, जो सारसत्ता वही ब्रह्म है । अतः तपस्वियोंकी तपोवृत्ति श्रीभगवान्का स्वरूप है । बीजसे उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है, श्रीभगवान् इन दोनों ही का कारण होनेसे समस्त जीवोंका बीजरूप हैं और सनातन बीज हैं अर्थात् भूत वर्तमान भविष्यत् सदाके लिये तथा सभी अवस्थाके लिये बीजरूप हैं । विवेकीकी विवेकशक्ति ही सब कुछ है, वही विवेकमयी बुद्धि श्रीभगवान् है । आत्मबलके विलासका नाम तेज है । तेज ही मनुष्यके मनुष्यत्वकी, ब्राह्मणके ब्राह्मणत्वकी, क्षत्रियके क्षत्रियत्वकी रक्षा करता है और उन्हें अपनी दशासे गिरने नहीं देता है । अतः तेजस्वीका तेज ही सब कुछ है और इसी कारण तेज भगवान् है । अप्राप्त विषयके प्रति आसक्तिका नाम 'काम' है और प्राप्त विषयमें रम जानेका नाम 'राग' है । ये दोनों ही विकृति हैं । रजोगुण, तमोगुणात्मक इन दोनों विकृतियोंसे रहित सत्त्वगुणमय

जो 'बल' है जिसके द्वारा जीव शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरणकी रक्षा तथा आत्माका लाभ कर सकता है, वही बलवान्‌की सारसत्ता है और इसलिये वही श्रीभगवान्‌की विभूति है। देहधारणके निमित्त पान भोजनादि प्रवृत्ति तथा सृष्टिविस्तारके लिये स्वाभाविक मैथुनादि प्रवृत्ति सृष्टिस्थितिमयी ब्रह्मा-विष्णुमयी भगवद् विभूतिका विलास मात्र हैं, अतः यह भगवान्‌का ही स्वरूप है। इसका धर्मशास्त्रानुसार गर्भाधानादि विधिके अनुसार होना प्रकृति है, इससे विपरीत होना विकृति है। अतः धर्मसे अविरुद्ध तथा धर्मशास्त्रानुकूल सुसन्तान उत्पादनार्थ काम भगवान् है। ये ही सब समस्त जीव तथा समस्त भावोंमें भगवद्भावकी सारसत्ताके दृष्टान्त हैं ॥९-११॥

सब भावोंमें होने पर भी वे किसी भावमें नहीं होते हैं इसीका रहस्य बता रहे हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

अन्वय—ये च एव सात्त्विकाः भावाः (शमदम आदि जो कुछ सात्त्विक भाव हैं), ये च राजसाः तामसाः (और कामक्रोधादि जो कुछ राजसिक तथा मोह जड़तादि तामसिक भाव हैं) तान् मत्तः एव इति विद्धि (उन्हें मुझसे ही प्रकट जानो) अहं तु तेषु न (मैं किन्तु उन भावोंमें नहीं हूं) ते मयि (वे भाव मुझमें हैं)।

सरलार्थ—जो कुछ सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भाव हैं वे मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं ऐसा जानो, तथापि मैं उन भावोंके वशमें नहीं हूं, वे ही मेरे वशमें हैं।

चन्द्रिका—प्रकृति परमात्मासे उत्पन्न होती है, इस लिये त्रिगुणमयी प्रकृतिके सभी त्रिगुणके भाव परमात्मासे ही प्रकट होते हैं यह बात विज्ञानसिद्ध है। किन्तु परमात्मा प्रकृतिके चालक हैं, वशमें नहीं हैं, इस कारण तीन गुणके भाव भी उन्हीं के वशमें हैं, वे उनके वशमें नहीं हैं। त्रिगुणमयी माया दासीकी तरह अनन्तनागशायी महाविष्णुकी सेवा करती है और उन्हींके इङ्गितके अनुसार उन्हींकी चेतनसत्ताके बलसे त्रिगुणमय अनन्तलीलाविलासको बताती है, यही इस श्लोकका रहस्य है ॥१२॥

परमात्मामें भावोंका अभाव रहने पर भी जीवों पर उनका पूर्ण प्रभाव है यही बता रहे हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

अन्वय—एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः (इन तीन गुणमय भावोंके द्वारा) मोहितं (वशीभूत) इदं जगत् (जगत्के जीव) एभ्यः परं (इन भावोंसे परे) अव्ययं (सकलभाव विकाररहित) मां (मुझे) न अभिजानाति (नहीं जान पाते हैं)।

सरलार्थ—समस्त विश्व त्रिगुणमय इन भावोंसे मुग्ध है, इस कारण जगत्के जीव भावोंसे परे स्थित उनके द्वारा अस्पृष्ट सकलभाव विकाररहित मुझको जान नहीं पाते हैं।

चन्द्रिका—सत्त्व रज तमः इन तीन गुणोंके राग द्वेष मोह आदि अनेक भावोंके द्वारा समस्त जगत मुग्ध है, जगत्के जीव मायाके भावोंमें फंस कर ज्ञान विवेक आदि सब कुछ खो बैठते हैं, जिस कारण उन्हें

यह पता नहीं लगता है कि इन भावोंके नियन्ता तथा उत्पादक होने पर भी मैं इनके वशमें या इनके द्वारा संस्पृष्ट नहीं होता हूँ, वे ही मेरे वशमें रहते हैं, मैं सब भावोंसे परे तथा अव्यय अर्थात् सकलभाव विकारवर्जित हूँ। त्रिगुणमयी मायाके फन्देमें फँस जानेके कारण ही जीवोंकी ऐसी दुर्दशा होती है ॥ १३ ॥

इस दुर्दशासे कौन बच सकता है, सो ही बता रहे हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

अन्वय—एषा (यह) गुणमयी (त्रिगुणमयी) दैवी (अलौकिक) मम माया (मेरी शक्तिरूपिणी माया) हि (निश्चित ही) दुरत्यया (अति कठिनतासे काटने योग्य है), ये (जो लोग) माम् एव (अनन्ययोगसे केवल मुझे ही) प्रपद्यन्ते (आश्रय करते हैं) ते (वे) एतां मायां तरन्ति (इस मायासे तर कर मुझे पाते हैं)।

सरलार्थ—त्रिगुणमयी मेरी अलौकिक मायाशक्ति निश्चय ही दुःखसे तरने योग्य है। केवल जो मुझमें अनन्यशरण होते हैं, वे ही मायासमुद्रसे तर कर मुझे प्राप्त कर सकते हैं।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें मायाकी गहन शक्ति तथा उससे तर जानेका उपाय बताया गया है। 'देवस्य इयं इति दैवी' अर्थात् देव भगवान्की ही अलौकिकी शक्ति माया है। श्रुतिमें भी 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' इस मन्त्रके द्वारा मायाको परमात्माकी शक्ति तथा परमात्माको मायाके चालक मायी कहा गया है। यह माया 'दुरत्यया' अर्थात् अति कठिनतासे तरने योग्य है। सप्तशतीमें लिखा है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥

बड़े बड़े ज्ञानियोंके चित्तको भी भगवती माया जबरदस्ती खींच कर संसारजालमें फँसा देती है, अतः माया 'दुरत्यया' अवश्य ही है। इससे तरनेका एक ही उपाय भगवान् बताते हैं, 'माम् एव ये प्रपद्यन्ते'। सब कुछ छोड़ कर 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' जो भगवान्की शरण लेता है, उन्हींकी उपासनामें रात दिन लगा रहता है, वही मायाजालसे बच कर परमात्माको पा सकता है। श्रुतिमें भी लिखा है 'आत्मेत्येवोपासीत, तद्वात्मानमेवावेत्, तमेव धीरो विज्ञायातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' परमात्माकी उपासना करनी चाहिये, उन्हें ही प्रसन्न करना चाहिये, उन्हींको पहचान कर धीर योगी मायासे अतीत अमृतत्वपदको पा सकते हैं, मायासमुद्रसे तर जानेका और दूसरा उपाय कोई भी नहीं है। श्रीभगवान्ने भी आगे कहा है—

'अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते'।
'तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्' ॥

सब ओरसे चित्तको खींच कर अनन्ययोगके साथ परमात्माकी जो उपासना करता है, उसीको श्रीभगवान् संसारसागरसे पार उतार देते हैं। ऐसी उपासनामें जमनेका उपाय महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें लिखा है 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः'। वर्षों निरन्तर श्रद्धाके साथ अभ्यास करते करते तब उपासनामें योगी अनन्यचित्त हो सकता है और यही उपाय मायासिन्धु पार होनेका है ॥ १४ ॥

किन्तु क्यों लोग ऐसे अनन्यशरण नहीं होते हैं उसीका कारण बता रहे हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

अन्वय—दुष्कृतिनः (पापकर्मी) मूढ़ाः (विवेकशून्य) मायया अपहृतज्ञानाः (मायाके द्वारा नष्टबुद्धि) नराधमाः (निकृष्ट मनुष्य गण) आसुरं भावं आश्रिताः (दम्भदर्प हिंसादि आसुर भावके द्वारा ग्रस्त होकर) मां न प्रपद्यन्ते (मेरी शरण नहीं लेते हैं)।

सरलार्थ—पापकर्मी, विवेकशून्य, मायाके द्वारा नष्टबुद्धि, निकृष्ट मनुष्यगण आसुरभावके द्वारा ग्रस्त होकर मेरी शरण नहीं लेते हैं।

चन्द्रिका—परमात्माकी शरण लेने पर मायाके प्रभावसे मनुष्य बच सकता है और अनायास ही संसारसिन्धु पार हो सकता है, तथापि जो विरले ही कोई कोई भाग्यवान् व्यक्तिकी ऐसी इच्छा होती है, इसका कारण यह है कि जब तक पुण्यसंस्कारके द्वारा जन्मजन्मान्तरगत पापसंस्कारका क्षय न हो तब तक मोक्षमार्गमें जीवकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है। श्रीभगवान्‌ने भी कहा है 'येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्' पुण्यकर्मके द्वारा पापके कट जाने पर ही परमात्माके चरणोंमें रति होने लगती है। अतः जो दुष्कर्मकारी मूढ़जन हैं, जिनके चित्त पर काम क्रोध हिंसादि आसुरभावका पूरा प्रभाव है, जिनका विवेक मायाके अन्धकारसे आच्छन्न है, ऐसे अधम कोटिके मनुष्य कभी श्रीभगवान्‌की शरण नहीं ले सकते यही इस श्लोकका तात्पर्य है ॥ १५ ॥

अब कैसे मनुष्य भगवत्परायण होते हैं सो बता रहे हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

अन्वय—हे भरतर्षभ ! (हे भरतवंशश्रेष्ठ अर्जुन !) आर्त्तः (रोगादिपीड़ित तामसिक भक्त) जिज्ञासुः (भगवानके विषयमें जाननेकी इच्छा रखनेवाला राजसिक भक्त) अर्थार्थी (लौकिक धनादि विषयोंका चाहनेवाला राजसिक भक्त) ज्ञानी च (और सात्त्विक ज्ञानी भक्त) चतुर्विधाः (ये ही चार प्रकारके) सुकृतिनः जनाः (पुण्यात्मा भक्त) मां भजन्ते (मेरी उपासना करते हैं) । तेषां (इन चारोंमेंसे) नित्ययुक्तः (सदा मुझमें रत) एकभक्तिः (मेरा अनन्य भक्त) ज्ञानी विशिष्यते (ज्ञानी भक्त ही सबसे उत्तम है), अहं हि (मैं निश्चित ही) ज्ञानिनः अत्यर्थं प्रियः (ज्ञानी भक्तका अत्यन्त प्रिय हूँ) सः च मम प्रियः (और वह भी मेरा प्रिय है) । एते सर्वे एव (ये सभी प्रकारके भक्त) उदाराः (उत्तम हैं), ज्ञानी तु (किन्तु ज्ञानी भक्त) आत्मा एव मे मतं (मेरा आत्मा है यह मेरा निश्चय है), हि (क्योंकि) युक्तात्मा सः (मुझमें युक्तचित्त ज्ञानी भक्त) अनुत्तमां गतिं मां एव (सर्वोत्कृष्ट

(गतिरूपसे मुझे ही) आस्थितः (आश्रय किया हुआ है)। बहूनां जन्मनां अन्ते (अनेक जन्मोंके बाद अन्तिम जन्ममें) ज्ञानवान् (पूर्ण स्वरूपज्ञानसम्पन्न त्रिगुणातीत भक्त) वासुदेवः सर्वं इति (ब्रह्म ही निखिल जगत् है ऐसे अनुभव द्वारा) मां प्रपद्यते (अद्वैतभावसे मुझमें रम जाता है) सः महात्मा (ऐसा महापुरुष) सुदुर्लभः (अत्यन्त दुर्लभ है)।

सरलार्थ—हे भरतवंशश्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकारके पुण्यात्मा पुरुष मेरा भजन करते हैं यथा—आर्त्त अर्थात् रोगादि भयसे भीत होकर भयनिवारणार्थ भक्ति करने वाला, जिज्ञासु अर्थात् परमात्माके विषयमें शंका करके तत्त्व जाननेकी इच्छा रखने वाला अर्थार्थी अर्थात् इहलोक परलोकमें धन सम्पत्ति चाहने वाला और ज्ञानी अर्थात् आत्मतत्त्वकी ओर अग्रसर होनेवाला निष्काम सात्त्विक भक्त। इन चारोंमेंसे मुझमें सदा युक्त अनन्य-भक्त ज्ञानी सर्वोत्तम है। मैं ज्ञानीभक्तका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मेरा प्रिय है। सभी भक्त अच्छे हैं, किन्तु ज्ञानी भक्त मेरा आत्मा है, क्योंकि पूर्णनिष्कामरूपसे और किसीकी शरण न लेकर वह केवल सर्वोत्तम गतिरूपी मेरी ही शरण लेता है। अनेक जन्मोंके अनन्तर पूर्णज्ञान लाभ करके 'ब्रह्म ही समस्त जगत् है' ऐसे अद्वैत अनुभव द्वारा ज्ञानीभक्त मुझमें रम जाते हैं, संसारमें इस प्रकारका महात्मा अति दुर्लभ है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें चार प्रकारके भक्तोंकी वर्णना तथा ज्ञानी भक्तकी श्रेष्ठता बताई गई है। आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये

चार प्रकारके भक्त होते हैं। आर्त्त भक्त तामसिक है क्योंकि इनकी भक्ति रोगादि भयसे होती है, भय दूर होनेके बाद इनकी भक्ति नष्ट हो सकती है। जिज्ञासु भक्त राजसिक है क्योंकि उनके हृदयमें परमात्माके विषय-में अभी शंका है। अर्थार्थी भक्त भी राजसिक है क्योंकि राजसिक धनादि कामनासे ये भक्ति करते हैं। केवल ज्ञानी भक्त ही सात्त्विक है, क्योंकि उनके हृदयमें विषय कामना नहीं रहती है, ये केवल आत्माके प्रेममें ही मग्न होकर आत्माकी प्राप्तिके लिये निष्कामरूपसे परमात्माकी भक्ति करते हैं। इसीलिये श्रीभगवान्ने कहा है कि सभी भक्त उत्तम हैं क्योंकि जब किसी क्षुद्रशक्तिकी शरण न लेकर वे भगवान्की ही शरण लेते हैं तो इनकी उत्तमतामें कोई सन्देह नहीं होसकता। किन्तु ज्ञानी भक्त सबसे अच्छे हैं क्योंकि एक तो वे सकल वैषयिक कामनाओंको छोड़ केवल भगवान्में ही 'एकान्तरति' बनते हैं और दूसरा प्रियतम आत्माके विचारसे ही इनमें भक्तिका उदय होता है। संसारमें आत्मा ही सबसे प्रिय है और आत्माके कारण ही सब कुछ प्रिय होता है। श्रुतिमें लिखा है—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियंभवति, तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयोवित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरो यदयमात्मा"। पतिके लिये पति प्रिय नहीं होता है किन्तु आत्माके लिये पति प्रिय होता है, सबके लिये सब प्रिय नहीं होता है किन्तु आत्माके लिये सब कुछ प्रिय होता है, इसलिये अन्तराकाशविहारी आत्मा पुत्र, धन तथा और सबसे प्रियतर है। यही कारण है कि निष्काम, आत्मरत ज्ञानी भक्तके लिये आत्मा परमप्रिय वस्तु है और यह भी परमात्माका विशेष प्रिय है। ऐसे ज्ञानी भक्त आत्मामें रत होकर आत्मानुसन्धान करते करते

अनेक जन्मके साधना परिपाकके बाद जब जान लेते हैं कि पत्थरमें खोदी हुई मूर्तियोंकी तरह समस्त संसार ब्रह्ममें ही व्याप्त है तभी उनको निःश्रेयस लाभ हो जाता है। इस समय ये आत्ममय जगत् देख कर अद्वैतभावमें सच्चिदानन्द समुद्रमें हो डूबे रहते हैं। ऐसे ज्ञानी भक्त त्रिगुणसे परे ब्रह्मानन्दमें लवलीन हो जाते हैं, यही ज्ञान तथा उपासनाकी चरम सीमा तथा मनुष्यजीवनका अन्तिम लक्ष्य है। मायामय संसारमें ऐसे मायातीत भक्त विरल ही मिलते हैं क्योंकि यह पथ 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' अर्थात् क्षुरेकी धार पर चलनेकी तरह अति कठिन है ॥ १६-१९ ॥

उदार अपने भक्तोंके विषयमें कह कर अब अनुदार अन्य भक्तोंके विषयमें कहते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अन्वय—तैः तैः कामैः (पुत्र स्वर्गप्राप्ति शत्रुनाश वशीकरण आदि कामनाओंके द्वारा) हृतज्ञानाः (नष्टबुद्धि मनुष्यगण) स्वया प्रकृत्या नियताः (अपनी ही पूर्वजन्मार्जित प्रकृतिके वेगसे विवश होकर) तं तं नियमं आस्थाय (क्षुद्रदेवताओंके पूजनके

नियमोंका आश्रय करके) . अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते (परमात्मासे अतिरिक्त इन्द्र वरुण वेताल यक्ष आदि देवताओंकी उपासना करते हैं)। यः यः भक्तः (जिस जिस प्रकृति प्रवृत्तिका जो भक्त) यां यां तनुं (मेरी जिस जिस देवता मूर्तिकी) श्रद्धया अर्चितुं इच्छति (श्रद्धाके साथ पूजा करना चाहता है) तस्य तस्य (उस उस प्रकृति प्रवृत्तिवाले भक्तकी) तां एव अचलां श्रद्धां (उन्हीं देवताओंके प्रति दृढ़ श्रद्धाको) अहं विदधामि (मैं देता हूँ)। सः (वह भक्त) तया श्रद्धया युक्तः (मेरी दी हुई उस श्रद्धासे युक्त होकर) तस्याः (उस देवताका) राधनं ईहते (पूजन करता है), ततः च (और उस देवतासे) मया एव हि विहितान् (मेरे ही द्वारा निर्दिष्ट) तान् कामान् लभते (उन इप्सित वस्तुओंको पाता है)। तु (किन्तु) अल्पमेधसां तेषां (अल्पबुद्धि उन उपासकोंका) तत् फलं (वह सकाम फल) अन्तवत् भवति (नाशवान् होता है) देवयजः (देवोपासकगण) देवान् यान्ति (उपास्य देवता या उनके लोकको पाता है) मद्भक्ताः (मेरे भक्तगण) मां अपि यान्ति (मुझे भी प्राप्त कर लेते हैं)।

सरलार्थ—क्षुद्र वासनाओंके द्वारा नष्टबुद्धि मनुष्यगण अपनी क्षुद्र प्रकृतिके वशीभूत होकर मुझे छोड़ इन्द्र वरुण यक्ष वेतालादि देवताओंकी उपासना यथाविधि करते हैं। मैं उनका बुद्धिभेद न करके जो जिस देवताकी श्रद्धाके साथ पूजा करना चाहे, उसीके लिये उसे अचल श्रद्धा देता हूँ। वह मेरी दी श्रद्धा-के साथ उस देवताकी पूजा करता है और पूजाफलरूपसे मेरे

ही द्वारा यथायथ निर्दिष्ट काम्यवस्तुको पाता है। किन्तु अल्प-बुद्धि जनोंके सब सकाम फल नाशवान् तथा क्षणभङ्गुर होते हैं। देवताओंके पूजनेवाले देवलोकको जाते हैं और मेरे भक्त मुझ तकको प्राप्त कर लेते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें भगवान्से विमुख अतिक्षुद्र फलकामी मनुष्योंकी देवोपासना तथा उसके फल कैसे होते हैं सो बताया गया है। यद्यपि सकाम बुद्धिसे ईश्वरकी भी उपासना आर्त्त तथा अर्थार्थी भक्त करते हैं तथापि—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जितः क्वथिता धानः प्रायो बीजाय नेष्यते॥

इस भगवद्वचनके अनुसार महत्केन्द्रमें स्थापित यह कामना दग्धबीज-की तरह अङ्कुर उगानेमें समर्थ नहीं होती है। इसलिये आर्त्त तथा अर्थार्थी भगवद्भक्त शीघ्र ही कामनानिर्मुक्त हो कर निष्काम ज्ञानी भक्तके अधिकार-को पा सकते हैं। किन्तु क्षुद्रवासनाबद्ध जीवोंके भाग्यमें यह उत्तम अधिकार नहीं मिलता है। वे परमात्माको छोड़ इन्द्रादि देवता तथा यक्ष वेतालादि क्षुद्र देवताओंकी पूजा शत्रुनाश, वशीकरण, स्वर्गलाभ, कामिनी काञ्चनलाभ आदि क्षुद्र वस्तुओंका शीघ्र प्राप्तिके लिये करते हैं। 'कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिम्' इत्यादि वचनोंके द्वारा श्रीभगवान्ने पहिले भी ऐसा ही इङ्गित किया है। पूर्वकर्मानुसार जिसको जो प्रकृति मिली है उसमें बाधा देकर बुद्धिभेद करना अनुचित है, इस लिये श्रीभगवान् इन सब मन्दाधिकारियोंका बुद्धिभेद न करके अपनी विभूतिरूपी उन देवताओंके प्रति ही ऐसे भक्तोंकी श्रद्धा उपजा देते हैं। 'फलमत उपपत्तेः'

इस वेदान्तसूत्रानुसार श्रीभगवान् ही सकाम निष्काम सकल पुरुषार्थके फलदाता हैं। अतः उन्हींके द्वारा देवोपासकोंको कामनानुरूप फल भी मिलते हैं। किन्तु ये सब देवता स्वयं अविनाशी न होनेके कारण इनके दिये हुए फल भी अविनाशी नहीं हो सकते। अतः इन सब क्षुद्र साधनाओंके फल क्षणभङ्गुर तथा परिणाममें दुःखदायी होते हैं। 'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति' इत्यादि श्रुतिनें यही बताया गया है कि सकाम सुखभोगके परिणाममें पुनः मनुष्ययोनि अथवा पश्वादि हीनयोनि भी प्राप्त होती है। शत्रुनाश, वशीकरण आदि लाभके परिणाममें तो बहुत ही बुरा होता है, और यदि देवताने बहुत कुछ दिया तौ भी अपने लोकमें ही स्थितिको दे सकेंगे जिसका भी परिणाम अन्तमें पतन तथा दुःखभोग ही है। अतः हीनबुद्धि लोगोंके लिये ही यह पन्था है, उच्चबुद्धिके लिये नहीं। किन्तु करुणामय भगवान्‌की करुणा इस पथके पथिकके लिये भी परीक्षारूपसे प्रवाहित होती है। वे सकाम क्षुद्रबुद्धि जीवोंको इसी तरहसे दुःखमय परिणाम चखा कर धीरे धीरे अपनी ओर खींचते हैं। उनकी करुणामयी अन्तःसलिला फल्गुप्रवाहिनी इसी प्रकारसे सदा जीवकल्याणमें रत रहती है। किन्तु वासनाबद्ध जीव भगवान्‌की उपासना करने पर वासनाको चरितार्थ करते हुए भी उन्हींके चरणकमलोंका लाभ कर सकते हैं, तथापि मन्दप्रारब्धी लोग क्षुद्रदेवतासाधनामें रत होकर अपने मुक्तिपथको कण्टकमय बनाते हैं यही श्रीभगवान्‌को 'अपसौस' है, जिसको 'मद्भक्ता यान्ति मां अपि' इस 'अपि' शब्दके द्वारा उन्होंने व्यक्त किया है। अर्थात् मेरे सकाम भक्त कामनाओंको सिद्ध करते हुए मुझे भी पाते हैं, तथापि मूढ लोग मेरी भजना नहीं करते हैं यही श्रीभगवान्‌का 'अपि' शब्द द्वारा प्रकट 'अपसौस' है ॥२०—२३॥

अब क्षुद्रबुद्धि जनोंकी यह भ्रान्ति कैसे होती है सो बता रहे हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

अन्वय—अबुद्धयः (अविवेकिगण) मम अव्ययं अनुत्तमं परं भावं अजानन्तः (मेरे अव्यय सर्वोत्तम श्रेष्ठ स्वरूपको न समझ कर) अव्यक्तं मां (प्रपञ्चसे अतीत अप्रकट स्वरूप मुझको) व्यक्तिं आपन्नं (मनुष्यादि रूपमें प्रकट) मन्यन्ते (समझते हैं)। अहं (मैं) योगमायासमावृतः (अपने स्वरूपको भिन्नरूपमें दिखाने वाली दैवी मायाके द्वारा अपनेको आवृत करके) सर्वस्य प्रकाशः न (सबके लिये यथार्थ स्वरूपमें प्रकट नहीं होता हूँ), अयं मूढः लोकः (इस लिये अज्ञानी जीव) अजं अव्ययं मां (मुझे जन्मरहित नाशरहित ईश्वररूपसे) न अभिजानाति (नहीं पहचान पाता है)।

सरलार्थ—अविवेकी मनुष्यगण मेरे निर्विकार, सर्वोत्तम श्रेष्ठ भावको न समझकर अप्रकट स्वरूप मुझको मनुष्यादिरूपमें प्रकट समझते हैं। कुछसे कुछ दिखानेवाली दैवी मायाके द्वारा अपनेको ढाक कर मैं सबको अपना यथार्थ रूप नहीं दिखाता हूँ, इसलिये मूढ़ लोग मुझे जन्मरहित, नाशरहित, नित्य वस्तु करके नहीं जान पाते हैं।

चन्द्रिका—वासनाबद्ध देवोपासक क्षुद्रबुद्धि लोग परमात्माकी उपासना क्यों नहीं करते हैं, इसीका कारण इन श्लोकोंमें बताया गया है। श्रीभगवान् नीरूप होने पर भी योगमायाके आश्रयसे मनुष्य मत्स्य कूर्मादि अनेक रूपोंमें व्यक्त होते हैं। निराकारको साकार दिखाना, अव्यक्तको व्यक्त कर देना, एक रूपमें अनेक रूप बता देना, कुछसे कुछ दिखा देना, इन सबकी युक्तिका नाम योग है। क्योंकि परमात्माकी सङ्कल्प शक्तिरूपिणी दैवी मायाके द्वारा ऐसी युक्तियां रची जाती हैं, इस कारण उनकी दैवी माया योगमाया कहलाती है। मायाके अधीश्वर श्रीभगवान् इसी योगमायाकी सहायतासे मनुष्य पशु आदि अनेक अवतार आकारमें प्रकट होते हैं। किन्तु वास्तवमें वे अव्यक्त तथा नीरूप हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं चाखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

श्रीकृष्ण सकल जीवोंके भीतर विद्यमान निराकार आत्मा हैं केवल जगत्कल्याणके लिये योगमायाके आश्रयसे वे रूपधारीकी तरह दीखते हैं। किन्तु अज्ञानी जीव श्रीभगवान्के इस लीलारहस्यको न समझकर उन्हें मनुष्यादि देहवान् समझते हैं। इसी लिये उनके प्रति उपेक्षा करके क्षुद्रकामनाकी सिद्धिके लिये देवताओंकी पूजा करते हैं। यही लौकिक जीवोंकी भ्रान्तिका कारण है ॥ २४-२५ ॥

योगमाया जीवको मुग्ध करने पर भी परमात्माको मुग्ध नहीं कर सकती है यथा—

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मान्तु वेद न कश्चन ॥२६॥

अन्वय—हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) अहं (मैं) समतीतानि (चिरकालसे विनष्ट) वर्त्तमानानि च (तथा वर्त्तमान कालमें अवस्थित) भविष्याणि च (और आगे उत्पन्न होनेवाले) भूतानि (स्थावर जङ्गम सकल भूतोंको) वेद (जानता हूँ), तु (किन्तु) कश्चन (कोई भी) मां न वेद (मुझे नहीं जानता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! भूत भविष्यत् वर्त्तमान त्रिकाल-वर्त्ती सकल जीवोंको मैं जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता है।

चन्द्रिका—इस श्लोकका यही तात्पर्य है कि जिस प्रकार मायावी मायाके द्वारा दूसरेको मुग्ध कर देने पर भी स्वयं उससे मुग्ध नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार योगमाया लौकिक जीवोंको मुग्ध कर देने पर भी परमात्माको मुग्ध नहीं कर सकती है और उनकी दासी बन कर आज्ञाकारिणी ही रहती है। यही कारण है कि मायातीत परमात्मा चराचर विश्वको जानते हैं, किन्तु मायामुग्ध जीव उनके सच्चे स्वरूपको नहीं जान पाते हैं। केवल भाग्यवान् अलौकिक ज्ञानी भक्त ही उन्हें तत्त्वतः जान कर संसारसागरसे तर जाते हैं ॥ २६ ॥

अब मायाके किस भावमें भूलकर जीव उन्हें नहीं जान पाता है सो बता रहे हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ! ॥
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ! ॥२७॥

अन्वय—हे परन्तप ! हे भारत ! (हे अर्जुन !) सर्गे (सृष्टिमें)

इच्छाद्वेषसमुत्थेन (रागद्वेषसे उत्पन्न) द्वन्द्वमोहेन (सुख दुःखादि द्वन्द्व निमित्त मोहके द्वारा) सर्वभूतानि (चराचर जीव) सम्मोहं यान्ति (अज्ञानमें फँस जाते हैं)।

सरलार्थ--हे अर्जुन ! रागद्वेषसे उत्पन्न सुखदुःखादि द्वन्द्व निमित्त मोहके द्वारा सृष्टिमें सभी जीव महान् अज्ञानमें फँस जाते हैं।

चन्द्रिका--चराचर विश्ववासी लौकिक जीव जो परमात्माके सच्चे स्वरूपको जान नहीं पाते हैं, इसका कारण यह है कि मनके अनुकूल विषयोंमें राग और प्रतिकूल विषयोंमें द्वेष इस प्रकारसे रागद्वेषसे उत्पन्न सुखदुःखादि द्वन्द्वोंमें जीव मुग्ध रहते हैं। यही महामोह जीवको फँसा कर उसकी अन्तर्मुखीन वृत्तिको एकबारगी नष्ट कर देता है। जिस कारण लौकिक जीव परमात्माकी शरण न लेकर उन्हीं क्षुद्र वासनाओंकी तृप्तिके लिये देवतादिकी शरण लेते हैं यही तात्पर्य है। 'भारत' और 'परन्तप' इन सम्बोधनोंके द्वारा वंशगौरव तथा वीरत्वका स्मरण दिला कर श्रीभगवान् अर्जुनको भी इस महामोहमें नहीं फँसना चाहिये ऐसा कल्याणमय इङ्गित करते हैं ॥२७॥

उनकी शरण कौन लेता है सो ही बता रहे हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्मतद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।

अन्वय—येषां तु पुण्यकर्मणां जनानां (किन्तु जिन पुण्यकार जनोंका) पापं अन्तगतं (पाप कट गया है), द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः ते (द्वन्द्वनिमित्त मोहसे रहित ऐसे पुरुष) दृढ़व्रताः (दृढ़ सङ्कल्पके साथ) मां भजन्ते (मेरी उपासना करते हैं)। जरामरणमोक्षाय (जरा मृत्यु आदिसे मुक्तिलाभ के लिये) मां आश्रित्य (मुझे आश्रय करके) ये यतन्ति (जो लोग प्रयत्न करते हैं) ते (वे) तत् ब्रह्म (परब्रह्मको) कृत्स्नं अध्यात्मं (समस्त अध्यात्म वस्तुको) अखिलं कर्म च (और समस्त कर्मको) विदुः (जानते हैं)। ये मां (जो लोग मुझे) साधिभूताधिदैवं साधियज्ञं च विदुः (मेरे (अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ भावके साथ जानते हैं), ते (वे) युक्तचेतसः (मुझमें चित्तको बांध कर) प्रयाणकाले अपि च (मृत्युके समयमें भी) मां विदुः (मुझे जानते हैं)।

सरलार्थ—जिन पुण्यकर्मी जनोंका पाप कट गया है, द्वन्द्वनिमित्त मोहसे मुक्त ऐसे पुरुष दृढ़व्रत होकर मेरी भजना करते हैं। जन्मजरामृत्यु आदि संसारदुःखसे मुक्त होनेके लिये मेरी शरण लेकर जो पुरुषार्थ करते हैं उन्हें परब्रह्म, अध्यात्म और कर्म सभीके रहस्यका पता लग जाता है। इस प्रकारसे

मेरे अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ भावके साथ जो मुझे जानते हैं, मृत्युके समय भी युक्तात्मा ऐसे पुरुष मुझे भूलते नहीं।

चन्द्रिका—महामायाके जालमें फँस कर क्षुद्रबुद्धि जीव उन्हें किस तरह भूलते हैं यह कहकर, अब उनकी शरण कब तथा किस लिये भक्त लेते हैं सो इन श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने बताया है। पुण्यकर्मके संस्कार बढ़ते बढ़ते जितने ही पाप कटते हैं, उतने ही जीव मायाके फन्देसे छुटकारा पाकर परमात्माकी शरण लेते हैं। इस प्रकारसे जरामृत्युभयमय संसारसे मुक्तिलाभके लिये परमात्माकी शरण लेकर पुरुषार्थ करते करते परमात्मा, उनका अध्यात्मभाव तथा कर्मरहस्य सभीका पता भक्तको लग जाता है। इसके सिवाय उनके अधिदैव, अधिभूत तथा अधियज्ञ स्वरूपका भी रहस्य वे जान जाते हैं। और इन सब भावोंमें सदा जमे रहनेके फलसे मरणकालीन विकलताके समय भी ऐसे श्रेष्ठ भक्त उन्हें भूलते नहीं हैं, जिसका फल यह होता है कि 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्' इत्यादि भगवद्वचनोंके अनुसार ऐसे उत्तम साधकोंको परमगति प्राप्त हो जाती है। अध्यात्म, अधिदैव आदि भावोंका रहस्यवर्णन श्रीभगवान्‌ने अर्जुनके शंकासमाधानरूपमें आगेके अध्यायमें कर दिया है ॥२८-३०॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'ज्ञान विज्ञान योग' नामक सातवां अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तम अध्याय समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः ।

सप्तम अध्यायके अन्तमें मुमुक्षुके लिये अवश्य जानने योग्य ब्रह्म तथा उसके विविध भावोंके विषयमें श्रीभगवान्‌ने सूत्ररूपसे जो कुछ कहा था, उसीकी विस्तारित वृत्तिरूपसे यह अध्याय प्रारम्भ होता है । इसमें प्रथमतः अर्जुनके प्रश्नोंके उत्तररूपमें श्रीभगवान्‌ने छः पदार्थोंका विवेचन किया है और सप्तम प्रश्नके उत्तररूपमें अनेक प्रकारके उपासनारहस्य तथा उत्तरायण दक्षिणायन आदि विविधगतियोंका वर्णन किया है । चूंकि मध्यवर्त्ती इन छः अध्यायोंका प्रधान लक्ष्य उपासना योगका ही प्रतिपादन करना है, इसलिये समस्त उपदेशोंके निष्कर्षरूपसे उपासनायोगका ही भाव प्रत्येक अध्यायमें प्रकट किया गया है । अब प्रथमतः अपने विविध भावोंकी व्याख्या द्वारा जगज्जनोंके कल्याणके लिये अर्जुनमुखसे प्रश्न करा रहे हैं—

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अन्वय—हे पुरुषोत्तम ! (हे कृष्ण !) तत् ब्रह्म किं ? (जिस ब्रह्मके लिये तुमने इशारा किया है वह क्या वस्तु है ?) अध्यात्मं

किं ? (अध्यात्म क्या वस्तु है ?) कर्म किं ? (कर्म क्या वस्तु है ?) अधिभूतं किं प्रोक्तं ? (अधिभूत किसको कहते हैं ?) किं च अधिदैवं उच्यते ? (और अधिदैव कौन पदार्थ कहलाता है ?)। हे मधुसूदन ! (हे कृष्ण !) अत्र (इस शरीरमें) अधियज्ञः कः ? (अधियज्ञ किसको कहते हैं ?) अस्मिन् देहे (इस शरीरमें) कथं (अधियज्ञकी कैसी स्थिति है ?) प्रयाणकाले च (और मृत्युके समय) नियतात्मभिः (संयतचित्त पुरुषोंके द्वारा) कथं ज्ञेयः असि ? (किस प्रकारसे तुम जाने जाते हो ?) ।

सरलार्थ--अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम मधुसूदन कृष्ण ! यह ब्रह्म क्या वस्तु है, अध्यात्म क्या वस्तु है और कर्म क्या वस्तु है ? अधिभूत तथा अधिदैव किसे कहते हैं ? इस देहमें अधियज्ञ कौन है और उसकी इसमें कैसे स्थिति है ? संयतात्मा पुरुषगण मृत्युके समय तुम्हारे स्वरूपको किस प्रकारसे जान जाते हैं ?

चन्द्रिका—ये सब प्रश्न पूर्वाध्यायके इङ्गितके अनुसार अर्जुन कर रहे हैं। और इनका यथायथ समाधान श्रीभगवान् कर देंगे। 'पुरुषोत्तम' सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि सकल पुरुषोंमें श्रेष्ठतम, सर्वज्ञ भगवान्के लिये अज्ञेय वस्तु कुछ भी नहीं है, अतः अर्जुनका भी शङ्कासमाधान यथोचित कर देंगे। 'मधुसूदन' सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि असुर-नाशके द्वारा उपद्रव निवारक श्रीभगवान् अर्जुनके भी सन्देहरूपी उपद्रवका निवारण अनायास ही कर देंगे। ये ही अर्जुनके सम्बोधनपूर्वक सात प्रश्न हुए ॥ १—२ ॥

अब प्रश्नोंके अनुरूप यथाक्रम उत्तर श्रीभगवान् दे रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥४॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अन्वय—परमं अक्षरं ब्रह्म (नाशरहित कूटस्थसे परे परम वस्तु ब्रह्म है), स्वभावः अध्यात्मं उच्यते (ब्रह्मका तथा प्रत्येक वस्तुका अपना मौलिक भाव 'अध्यात्म' कहलाताहै) भूतभावोद्भवकरः (स्थावर जङ्गम पदार्थोंकी उत्पत्ति करनेवाला) विसर्गः (सृष्टि-व्यापार) कर्मसंज्ञितः (कर्म कहलाता है)। क्षरः भावः (नाशवान् परिणामशील नामरूपात्मक भाव) अधिभूतं (अधिभूत कहलाता है), पुरुषः च अधिदैवतम् (चेतन सञ्चालक अधिष्ठाता अधिदैवत है), हे देहभृतांवर ! (हे नरश्रेष्ठ अर्जुन !) अत्र देहे (इस देहमें) अहं एव (मैं ही) अधियज्ञः (देह सञ्चालन तथा देह रक्षणार्थ जो कुछ यज्ञरूपी कर्म है उसका अधिपति क्षेत्रज्ञ, कूटस्थ, प्रत्यगात्मा हूँ) । अन्तकाले च (मृत्युके समय) मां एव स्मरन् (मुझे ही स्मरण करता हुआ) कलेवरं मुक्त्वा (शरीरको छोड़) यः प्रयाति (जो प्रस्थान करता है) सः मद्भावं याति (वह मेरे ही स्वरूपको पाता है) अत्र संशयः नास्ति (इसमें सन्देह नहीं है)।

सरलार्थ—नाशरहित कूटस्थसे भी अतीत वस्तु ब्रह्म है, उसका तथा प्रत्येक वस्तुका अपना मौलिक भाव अध्यात्म है, चराचर भूतोंकी उत्पत्तिके लिये जो सृष्टि व्यापार है उसे कर्म कहते हैं, नाशवान् परिणामशील स्थूल भाव अधिभूत है, चेतन अधिष्ठाता पुरुष अधिदैवत है, शारीरिक समस्त व्यापारके साक्षी कूटस्थ चैतन्य अधियज्ञ है। मृत्युके समय मुझे ही स्मरण करता हुआ जो शरीर त्याग करता है वह मेरे ही भावमें जा मिलता है इसमें सन्देह नहीं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें अर्जुनकी शङ्काओंके समाधानरूपसे कारण-ब्रह्म तथा कार्यब्रह्मके अन्तर्गत समस्त पदार्थोंके विविध भाव बताये गये हैं। कारणब्रह्म केवल 'अक्षर' अर्थात् नाशहीन कूटस्थ चेतनसत्ता नहीं है, अपितु अक्षरसे भी परे 'अक्षरादपि चोत्तम' (गी. १५–१८) परम अक्षर, सर्वव्यापी, सकलभूत कारण चेतन सत्ता है। उनका यही सर्वकारण मौलिक निर्गुण ब्रह्मभाव 'अध्यात्म' कहलाता है। उनका अधिदैवत भाव मायाके पति, विश्वके सञ्चालक सगुण ब्रह्म ईश्वर है और उनका अधिभूत भाव कार्यब्रह्मरूपी अनन्तकोटिब्रह्माण्डमय विराट है। ये ही ब्रह्मके तीन भाव हैं। कारणद्रव्यमें तीन भाव होनेसे प्रत्येक कार्यद्रव्यमें भी ये ही तीन भाव होते हैं। तदनुसार प्रत्येक पदार्थका जो मौलिक भाव है अर्थात् जिसके ऊपर उस पदार्थकी सत्ता निर्भर करती है वही उसका 'अध्यात्म' है। इस मौलिक भावका जो स्थूलजगत्में परिणामशील, नामरूपमय विलास है उसे 'अधिभूत' कहते हैं। और जिस दैवी चेतन सत्ता द्वारा यह अधिभूत भाव सञ्चालित तथा विविध रूपमें विकाशको प्राप्त हो सकता है

उसीका नाम 'अधिदैवत' है। यथा महाभारतके शान्तिपर्वमें—

पादोऽध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः।
गन्तव्यमधिभूतन्तु विष्णुस्तत्राधिदैवतम्॥
मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्योगतत्त्वविशारदाः।
मन्तव्यमधिभूतन्तु चन्द्रमा चाधिदैवतम्॥

सूक्ष्म पादेन्द्रिय 'अध्यात्म' है, चलना फिरना रूप स्थूल व्यापार 'अधिभूत' है और इसके सञ्चालक 'विष्णु' अधिदैवत हैं। मनरूपी सूक्ष्म इन्द्रिय 'अध्यात्म' है, मनन क्रिया 'अधिभूत' है और उसके चालक 'चन्द्रदेव' अधिदैवत हैं। इस प्रकारसे कारणब्रह्म तथा कार्यब्रह्मके अन्तर्गत प्रत्येक पदार्थमें त्रिविध भावका अनुभव आत्माके राज्यमें उन्नत साधकको हो सकता है यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है। चराचर भूतोंकी उत्पत्तिके लिये जो सृष्टि व्यापार है, प्रकृतिके तीन गुणोंमें कम्पन होकर जो प्रकट होता है, उसको 'कर्म' कहते हैं। प्रत्येक देह तथा समष्टि देहरूपी विराटमें सदा यह कर्मचक्र चलता रहता है। प्रति देहमें निर्लिप्तरूपसे इस कर्मचक्र अर्थात् यज्ञचक्रका द्रष्टा, साक्षी, अधिष्ठाता अधियज्ञ या कूटस्थ चैतन्य या प्रत्यगात्मा कहलाता है। विराटदेहमें इस कर्मचक्रका अधिष्ठाता पुरुषविशेष 'ईश्वर' है। इन्हीं सब भावोंमें अद्वितीय ब्रह्मभावकी भावना करते हुए, परमात्मामें ही तन्मय होकर भक्त यदि शरीरको छोड़ सके, तो उन्हें ब्रह्मधामकी प्राप्ति होती है, यही अन्तिम श्लोकका तात्पर्य है 'देहभृतां वर' अर्थात् नरश्रेष्ठ कह कर श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको उत्साहित किया है और अपने गूढ़ उपदेशोंके सुनने तथा धारण करनेकी योग्यता उनमें है यह भी बता दिया है॥३-५॥

अब इस गतिके लिये कारण बता कर उपदेश कर रहे हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः ॥६॥
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥७॥

अन्वय—हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) अन्ते (मृत्युके समय) यं यं वा अपि भावं (जिस किसी भी भावको) स्मरन् (चित्तमें धारण करके) कलेवरं त्यजति (शरीरको जीव छोड़ता है) सदा (सब समय) तद्भावभावितः (उस भावके द्वारा आविष्ट होकर) तं तं एव एति (उसीको पाता है अर्थात् मृत्युके अनन्तर उसी भावानुसार गतिको पाता है। तस्मात् (इस लिये) सर्वेषु कालेषु (सब समय) मां अनुस्मर (मुझे स्मरण करते रहो) युध्य च (और युद्धरूपी स्वधर्मका पालन करो) मय्यर्पितमनोबुद्धिः (इस प्रकार-से मन और बुद्धिको मुझमें अर्पण करके) मां एव (मुझे ही) एष्यसि (प्राप्त करोगे) असंशयः (इसमें सन्देह नहीं है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! मृत्युके समय जिस भावके द्वारा चित्तको वासित या मग्न करके जीव शरीरको छोड़ता है, सदा स्मृतिके कारण उसी भावानुसार जीवको आगेकी योनि या गति मिलती है। इस लिये सदा मुझमें ही चित्तको बांध कर तुम युद्धरूपी कर्त्तव्यका पालन किये जाओ, इस प्रकार मन बुद्धि सब कुछ मुझमें अर्पण कर देने पर तुम मुझे ही पाओगे इसमें सन्देह नहीं है।

चन्द्रिका—परमात्माको स्मरण करते हुए देहत्याग कर देने पर ब्रह्मधाम क्यों मिलते हैं इसीका कारण तथा विज्ञान इन श्लोकोंमें बताया गया है। छान्दोग्यादिश्रुतिमें लिखा है—'यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' 'प्राणस्तेजसा युक्तो यथा सङ्कल्पितं लोकं नयति' मनुष्यका जैसा क्रतु अर्थात् सङ्कल्प होता है, उसीके अनुसार मृत्युके बाद गति होती है । यह सङ्कल्प मृत्युके समय तभी दृढ़ रह सकता है जब कि सारा जीवन मनुष्य इसी भावमें बिताया करे। क्योंकि मृत्युरूपी भीषण सन्धिके समय सूक्ष्मशरीर स्वभावतः कुछ दुर्बल हो जाता है और दुर्बल चित्तमें प्रारब्धरूपसे वही संस्कार सामने आ जाता है, जिसका वेग बहुत पहिलेसे जीवके चित्तमें था। अतः यह भावना वृथा है कि सारा जीवन जो चाहे करेंगे और मृत्युके समय परमात्माका चिन्तन कर उत्तम गतिको पावेंगे। ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं है। इसी लिये श्लोकमें 'सदा तद्भावभावितः' अर्थात् सब समय जिस भावमें चित्त भावित रहता है उसीके अनुसार गति मिलती है यह कहा गया है और इसी लिये अर्जुनको भी श्रीभगवान्‌ने सदा उन्हें स्मरण रखते हुए तथा सब कुछ उनमें समर्पण करते हुए स्वधर्म पालनका उपदेश किया है । यही कारण है कि धन सन्तान स्त्री आदिमें मुग्ध होकर मरनेसे जीवको मृत्युके बाद प्रेतयोनि मिलती है, यही कारण है कि भागवतके पुरञ्जन राजाको मृत्युके समय अपनी स्त्रीमें मुग्ध होकर मरनेसे स्त्रीयोनि मिली थी, मृगमें मुग्ध होकर मरनेसे भरत राजाको मृगयोनि मिली थी इत्यादि । श्रीभगवान्‌ने आगे भी इस विषयमें कहा है यथा—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

अर्थात् देवोपासकोंको मृत्युके समय देहभावमें तन्मय होकर देवत्व प्राप्ति, पितर उपासकोंको पितृत्वप्राप्ति, प्रेतोपासकोंको प्रेतत्व प्राप्ति और ब्रह्मोपासकोंको ब्रह्मत्वप्राप्ति होती है । यही मृत्युकालीन भावनाके अनुसार जीवगतिका विज्ञान तथा अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥६-७॥

अब सप्तम प्रश्नके विस्तारित उत्तर प्रदान प्रसङ्गमें ब्रह्मोपासनाके रहस्य बता रहे हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) अभ्यासयोगयुक्तेन नान्यगामिना चेतसा (निरन्तर ध्यानरूपी अभ्यासयोगके द्वारा युक्त, विषयान्तरमें न जाकर परमात्मामें ही रत चित्तके द्वारा) दिव्यं परमं पुरुषं (दिव्य परमपुरुष परमात्माको) अनुचिन्तयन् (चिन्तन करते करते) याति (उन्हींको योगी प्राप्त करता है) ।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! अन्तःकरणको विषयान्तरमें न लगा कर केवल परमात्माके ही निरन्तर ध्यानरूपी अभ्यासयोगमें युक्त रहने पर योगी उन्हींका चिन्तन करता हुआ ज्योतिर्मय परमपुरुष उन्हींको प्राप्त करता है ।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें मृत्युके समय परमात्मभावमें भावित होनेके निमित्त यावज्जीवन उनके स्मरणकी आवश्यकता बताई गई है । अभ्यासका लक्षण योगदर्शनमें यह लिखा गया है, यथा—'तत्र स्थितौ

यत्नोऽभ्यासः' 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' परमात्मामें चित्तस्थिर करनेके प्रयत्नका नाम अभ्यास है, दीर्घकाल तक श्रद्धाके साथ निरन्तर ऐसा करते रहने पर तब अभ्यासकी भूमि दृढ़ होती है। इस प्रकारसे यदि यावज्जीवन साधक अभ्यासमें रत रहे तभी चित्तका अनुकूल प्रवाह परमात्माकी ओर प्रवाहित हो जाता है और यही भाव मृत्युके समय भी यदि रहे तो साधक योगी दिव्यपुरुष परमात्माका लाभ कर सकता है यही इस श्लोकका तात्पर्य है ॥ ८ ॥

इसी प्रसङ्गमें उपासनाका और भी गूढ़तर रहस्य कह रहे हैं—

कविं पुराणमनुशासितारमणो-
रणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

अन्वय—कविं (क्रान्तदर्शी अर्थात् भूत भविष्यत् वर्त्तमान सर्वदर्शी सर्वज्ञ) पुराणं (अनादि कालसे वर्त्तमान, चिरन्तन) अनुशासितारं (समस्त जगत्के नियन्ता) अणोः अणीयांसं (आकाशादि सूक्ष्म वस्तुओंसे भी सूक्ष्मतर) सर्वस्य धातारं (समस्त कर्मफलोंके जीवोंमें विभाग कर देनेवाले) अचिन्त्यरूपं (मनबुद्धिसे अगोचर स्वरूप) आदित्यवर्णं (सूर्यकी तरह प्रकाश-

मान् ज्ञान ज्योतिःस्वरूप) तमसः परस्तात् (मायान्धकारसे परे विराजमान् परमात्माको) प्रयाणकाले (मृत्युके समय) भक्त्या युक्तः (भक्तिके द्वारा युक्त होकर) अचलेन मनसा (चाञ्चल्यरहित अन्तःकरणसे) योगबलेन च एव (और चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योगके बलसे) भ्रुवोः मध्ये प्राणं सम्यक् आवेश्य (भ्रूयुगलके बीचमें आज्ञाचक्रमें प्राणको उत्तम रीतिसे ठहरा कर) यः अनुस्मरेत् (जो योगी उपासक चिन्तन करता है) सः तं दिव्यं परं पुरुषं उपैति (वह उस दिव्य परमपुरुष परमात्माको पाता है)।

सरलार्थ—जो साधक योगी मनको रोककर चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योगकी सहायतासे प्रेमके साथ उस दिव्यपुरुष परमात्माका चिन्तन करते हैं जो कि सर्वज्ञ हैं, अनादिसिद्ध हैं, समस्त विश्वके नियन्ता हैं, तथा आकाश जैसे सूक्ष्म वस्तुओंसे भी सूक्ष्मतर, कर्मफलके विभक्ता, मनबुद्धिसे भी अगोचर, सूर्य की तरह प्रकाशमान् ज्ञानस्वरूप और मायासे परे विराजमान् हैं और मृत्युके समय आज्ञाचक्रमें प्राणको निरुद्ध करके ऐसा ही चिन्तन करते रहते हैं उन्हें अवश्य ही परमात्मा प्राप्त हो जाते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें परमात्माके स्वरूप वर्णन करते हुए उनकी साधनाके रहस्य बताये गये हैं। परमात्मा 'कवि' अर्थात् क्रान्तदर्शी–भूत भविष्यत् वर्तमान सब कुछ जानने वाले, सर्वज्ञ तथा सर्व विद्याके निर्माणकर्त्ता हैं। यही 'कवि' शब्दका तात्पर्य है। परमात्मा सबके कारण होनेसे अनादिसिद्ध 'पुराण' पुरुष हैं, प्रकृतिके समस्त स्तरसे परे होनेके कारण आकाशसे भी सूक्ष्मतर हैं। 'फलमतः उपपत्तेः' इस

वेदान्तसूत्रके अनुसार जीवोंमें कर्मफलके दाता तथा विभागकर्त्ता हैं। प्रकृतिराज्यसे अतीत होनेके कारण उनका स्वरूप मन वाणी बुद्धिसे भी अगोचर है। 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' श्रुतिमें लिखा भी है। उनका ज्योतिर्मय ज्ञानप्रकाश सूर्यकी तरह अन्तर राज्यमें चमकता है, इसलिये वे 'आदित्य वर्ण' हैं। मायाका अन्धकार या आवरण उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता है, इस लिये वे 'तमसे परे' हैं। ऐसे परमपुरुष परमात्मामें उपासना द्वारा लवलीन होनेके लिये प्रथमतः मनको विषय चाञ्चल्यसे हटाना अवश्य पड़ता है। 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' इस भगवद्वचनके अनुसार बिना प्रेम तथा अनुरागरूपिणी भक्तिके परमात्मा नहीं मिलते हैं। इसलिये साधनपथमें भक्तिकी विशेष आवश्यकता होती है। चित्तकी रागद्वेष आदि वृत्तियोंके निरोधके बिना मन कभी निश्चल नहीं हो सकता है। इसलिये साधनपथमें चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योगबलकी भी आवश्यकता है। मनकी शक्तिसे चिन्ता होती है और प्राणकी शक्तिसे क्रिया होती है। इसलिये मन और प्राण दोनों ही साथ साथ रहते हैं। अतः योगपथमें मनके रोकनेके साथ ही साथ प्राणको भी रोकना पड़ता है। इसलिये लययोगकी प्रक्रियाके अनुसार साधनपथमें प्रथमतः हृदयपुण्डरीकमें मनप्राणको वशीभूत करके तदनन्तर सुषुम्नारूपी योगनाड़ीके द्वारा गुरुके बताये हुए उपदेशके अनुसार धीरे धीरे मनप्राणको ऊपर ले जाकर भ्रूयुगलके बीचमें स्थित आज्ञाचक्रमें ठहराना होता है। इस प्रकारसे साधनाका अभ्यास करते करते मृत्युके समय जो योगी आज्ञाचक्रमें मनप्राणको ठहरा कर अन्तमें मस्तकके भीतर ब्रह्मरन्ध्रके पथसे प्राणको निकाल सकते हैं उन्हें सूर्यगति या उत्तरायणगति या देवयानगति द्वारा ब्रह्मधामकी प्राप्ति होती है जहां पर परमात्माका साक्षात्कार

कर योगी उन्हींमें लवलीन हो जाते हैं। यही इन श्लोकोंका तात्पर्य है ॥ ९—१० ॥

पुनरपि प्रणवकी महिमा बताते हुए इसी उपासना रहस्य-को प्रकट कर रहे हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदंति विशंति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

अन्वय—वेदविदः (वेदके तत्त्व जाननेवाले) यत् (जिस ओंकाररूपी ब्रह्मपदको) अक्षरं (अविनाशी) वदन्ति (कहते हैं) वीतरागाः यतयः (विषयासक्तिशून्य यतिगण) यत् विशन्ति (जिस ओंकाररूपी ब्रह्मपदमें प्रवेश करते हैं) यत् इच्छन्तः (जिस पदकी इच्छा करके) ब्रह्मचर्यं चरन्ति (साधुगण ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं) ते (तुम्हें) तत् पदं (उसी ॐ रूपी ब्रह्मपदको) संग्रहेण (संक्षेपसे) प्रवक्ष्ये (बताऊंगा)। सर्वद्वाराणि संयम्य (चक्षु आदि समस्त इन्द्रियद्वारको रोक कर) हृदि च (और हृदय पुण्डरीकमें) मनः निरुध्य (मनको रोक कर) आत्मनः प्राणं (अपनी प्राण-शक्तिको) मूर्द्धि्न (सुषुम्ना मार्गके द्वारा चढ़ाते हुए मस्तकमें) आधाय (ठहरा कर) योगधारणां आस्थितः (योगमें चित्तको बांध कर) ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म (ॐ रूपी एकाक्षर ब्रह्मको)

व्याहरन् (उच्चारण करता हुआ) मां अनुस्मरन् (परमात्माका चिन्तन करता हुआ) देहं त्यजन् यः प्रयाति (जो योगी शरीर त्याग कर जाता है) सः परमां गतिं याति (उसे परमगतिरूपी ब्रह्मपद प्राप्त होता है)।

सरलार्थ—वेदतत्त्वज्ञ पुरुषगण जिस ॐ रूपी ब्रह्मपदको अविनाशी कहते हैं, विषयरागरहित महात्मागण जिस पदमें लयलीन होते हैं और जिसकी इच्छा करके साधुगण ब्रह्मचर्य-व्रतका आचरण करते हैं उसका रहस्य मैं तुम्हें संक्षेपसे कहूँगा। समस्त इन्द्रियोंको रोक कर, हृदयकमलमें मनको और मस्तकमें प्राणको ठहरा कर योगधारणामें बद्धचित्त जो योगी ॐ रूपी एकाक्षर ब्रह्मका जप तथा परमात्माका स्मरण करता हुआ देहत्याग कर सकता है उसे उत्तमा ब्रह्मगति अवश्य मिलती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें परमात्माके वाचकरूपी ओंकारके जपके साथ वाच्य परमात्माके निरन्तर चिन्तनद्वारा ब्रह्मपदप्राप्तिका रहस्य बताया गया है। ओंकार या प्रणव परमात्माका वाचक है। 'तस्य वाचकः प्रणवः' योगदर्शनमें सूत्र भी है। महाप्रलयके अनन्तर जब परमात्मा 'एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय' मैं एकसे बहुत हो जाऊं और सृष्टि करूं इस इच्छाशक्तिको प्रकट करते हैं, तभी त्रिगुणमयी प्रकृतिके तीनगुणोंमें क्रियाशक्ति उत्पन्न हो जाती है और तीन गुणोंमें कम्पन होने लगता है। जहां कम्पन होता है वहां शब्द भी अवश्य होता है इस तरहसे गुणमयी समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिके कांप उठनेसे प्रथम शब्द 'ॐ' नाद प्रकट होता है। परमात्माकी इच्छाशक्तिके साथ ही साथ इस तरह ओंकारका विकाश होनेके कारण ओंकार परमात्माका वाचक कहलाता

है । तदनन्तर प्रकृतिके अनेक कम्पनोंके साथ अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं, जो उन उन प्रकृतियोंके अधिष्ठाता देवताओंके मन्त्र कहलाते हैं। यही मन्त्रोत्पत्ति तथा मंत्रविज्ञानका रहस्य है । वाचक और वाच्यका अभेद सम्बन्ध होता है । इसलिये श्रीभगवान्‌ने ॐकारको ही 'एकाक्षर ब्रह्म' कहा है । जिस प्रकार 'प्रतिमा' या 'प्रतीक' में इष्ट भावना करनेके कारण प्रतिमा भी इष्टदेवता कहलाती है, उसी प्रकार ईश्वरका वाचक या प्रतीक ॐकार भी ब्रह्मा-विष्णु-रुद्ररूपी ईश्वर परमात्मा कहलाता है । श्रुतिने तो 'तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये' इस पदके स्थानमें 'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि' 'ॐ' 'इति' ऐसा स्पष्ट कह कर ओंकारको 'ब्रह्म' कहे ही दिया है । योगदर्शनमें सूत्र है—'तज्जपस्तदर्थभावनम्' 'ततः प्रत्यक्‌चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' अर्थात् ओंकारका जप तथा अर्थचिन्ता करते करते परमात्माकी प्राप्ति होती है और समस्त योगविघ्न दूर हो जाते हैं । इसलिये इन श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने यही उपदेश दिया है कि ब्रह्मरूपी अविनाशी एकाक्षर मन्त्र ॐ का उच्चारण तथा ब्रह्मका चिन्तन मन-प्राण-इन्द्रियोंको रोक कर करते रहनेसे तथा ऐसा ही करते हुए शरीर त्याग कर देनेसे योगीको निश्चय ही परम ब्रह्मपदकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ११-१३ ॥

अब उपासनाकी और भी महिमा तथा साधनाका फल बता रहे हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन !
मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) अनन्यचेताः (अन्यत्र चित्त न लगा कर) यः मां (जो मुझे) नित्यशः सततं (प्रतिदिन निरन्तर) स्मरति (चिन्तन करता है) नित्ययुक्तस्य तस्य योगिनः (सदा युक्त उस योगीके लिये) अहं सुलभः (मैं अनायास पाने योग्य हूँ)। महात्मानः (महात्मागण) मां उपेत्य (मुझे प्राप्त हो कर) दुःखालयं (आध्यात्मिक आदि तीन प्रकारके दुःखोंके घर) अशाश्वतं (अनित्य क्षणभङ्गुर) पुनर्जन्म (मनुष्यादि योनिमें पुनरुत्पत्तिको) न आप्नुवन्ति (नहीं पाते हैं) परमां संसिद्धिं गताः (क्योंकि उन्हें परमसिद्धिरूपी मोक्ष मिल जाता है)। हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) आब्रह्मभुवनात् लोकाः (ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोक) पुनरावर्त्तिनः (बार बार आवर्त्तनशील अर्थात् आने जाने वाले हैं), तु (किन्तु) हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) मां उपेत्य (मुझे पा जाने पर) पुनः जन्म न विद्यते (जीवोंका पुनः जन्म नहीं होता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! मुझमें सदा युक्त जो योगी अनन्यचित्त होकर प्रतिदिन निरन्तर मेरा चिन्तन करता है, उसको मैं अनायास ही मिल जाता हूँ। इस तरहसे जब महात्मागण मुझे प्राप्त कर लेते हैं तो उन्हें अनित्य तथा दुःखागार संसारमें पुनः आना नहीं पड़ता है, क्योंकि उन्हें मोक्षरूपी परमा सिद्धि मिल जाती है। हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक उत्पत्ति

प्रलयके अधीन हैं, किन्तु मुझे प्राप्त कर लेने पर जीवका पुनर्जन्म नहीं होता है ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें उपासनासिद्ध योगीकी अनुपम स्थिति तथा उससे भिन्न और सब अनित्य स्थिति बताई गई है । योगदर्शनके पूर्वोक्त सूत्रानुसार 'दीर्घकाल तक निरन्तर भक्तिके साथ' परमात्माका स्मरण करते करते 'अभ्यासकी भूमि' दृढ़ हो जाती है और ऐसे अनन्य भक्त भगवान्को अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं । यथा श्रीमद्भागवतमें—

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥

जिस प्रकार पतिभक्तिपरायणा पतिव्रता स्त्री प्रेमके बलसे पतिको वश कर लेती है, उसी प्रकार साधुगण भी भगवान्में एकान्तरति होकर भक्तिके बलसे भगवान्को वशीभूत कर लेते हैं । ऐसे भक्तके लिये भगवान् सदा सुलभ होते हैं । वे उन्हें पाकर मोक्षके द्वारा उन्हींमें लवलीन हो जाते हैं । त्रिविध दुःखमय अनित्य संसारमें उन्हें पुनः नहीं आना पड़ता है । किन्तु यदि ऐसी उन्नतावस्था न हो तो ब्रह्मलोकसे भी जीवोंका पतन हो सकता है । यों तो उन्नत पञ्चम लोकके ऊपरके लोकोंसे पुनरावृत्ति नहीं होती है, क्योंकि षष्ठ तथा सप्तम लोकमें स्वतन्त्र कर्म करनेका अधिकार रहनेसे इन लोकोंमें रहनेवाले महात्मागण उपासना या ज्ञानकी सहायतासे क्रममुक्ति अथवा महाप्रलयके समय अपने इष्टदेवके साथ ब्रह्ममें विलीन होकर मुक्तिको पा जाते हैं । यथा स्मृतिशास्त्रमें—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

ब्रह्मलोकप्राप्त महात्मागण ब्रह्माकी आयु समाप्त होने पर उन्हींके साथ परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। श्रुति तथा ब्रह्मसूत्रमें भी लिखा है—'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते' 'अनावृत्तिः शब्दात्' अर्थात् ब्रह्मलोकसे पुनः लौट कर आना नहीं पड़ता है। किन्तु यदि उपासना या ज्ञानकी उतनी पूर्णता न हो अथवा कदाचित कोई अपराध हो जाय तो पतन भी हो सकता है। जय विजय नामक विष्णुलोकप्राप्त जीवोंका इसी तरहसे पतन हुआ था। किन्तु परमात्माको प्राप्त हो जाने पर पतन या पुनर्जन्मकी आशंका एकबारगी ही नहीं रहती। ऐसे महात्मा जन्ममरणके चक्रसे सदाके लिये छुटकारा पाकर अनन्तानन्दमय परमात्मामें लवलीन हो जाते हैं यही उपासनाकी अनुपम महिमा है ॥ १४—१६ ॥

अब कालपरिमाणके विवेचन द्वारा इसी पुनरावृत्तिके विषयमें कह रहे हैं—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ! प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

अन्वय—सहस्रयुगपर्यंतं ब्रह्मणः यत् अहः (चार युग सहस्र बार आने पर ब्रह्माका जो एक दिन होता है) युगसहस्रान्तां रात्रिं (ऐसे ही चार युग सहस्र बार बीत जाने पर ब्रह्माकी जो एक रात्रि होती है) विदुः (इसके रहस्यको जो

जानते हैं) ते जनाः अहोरात्रविदः (उन्हें ही वास्तवमें दिवा रात्रिका ज्ञान है)। अहरागमे (ब्रह्माके दिन आने पर) अव्यक्तात् (कारणप्रकृतिसे) सर्वाः व्यक्तयः प्रभवन्ति (समस्त स्थावर जङ्गम सृष्टि प्रकट होती है) रात्र्यागमे (ब्रह्माकी रात्रि आने पर) तत्र एव अव्यक्तसंज्ञके (उसी कारणप्रकृतिमें) प्रलीयन्ते (सब सृष्टि लय हो जाती है)। हे पार्थ! (हे अर्जुन!) सः एव अयं भूतग्रामः (वे ही सब पूर्वकल्पके जीव) अवशः (कर्मवेगसे विवश होकर) भूत्वा भूत्वा (बार बार जन्म ग्रहण करते हुए) रात्र्यागमे प्रलीयते (ब्रह्मरात्रिके समय कारणमें लय हो जाते हैं) अहरागमे (ब्रह्मदिनके आ जाने पर) प्रभवति (पुनः प्रकट हो जाते हैं)।

सरलार्थ—चार युग हजार बार बीत जाने पर ब्रह्माका एक दिन होता है और इतना ही परिमाण रात्रिका है। जो योगी ब्रह्मदिवारात्रिके इस रहस्यको जानते हैं वे ही यथार्थमें दिवा-रात्रिके ज्ञाता हैं। ब्रह्मदिवामें स्थावर जङ्गम समस्त सृष्टि अव्यक्त प्रकृतिसे प्रकट होती है और ब्रह्मरात्रिमें पुनः अव्यक्तमें लीन हो जाती है। हे अर्जुन! कर्मपरतन्त्र जीव इस प्रकारसे पुनः पुनः ब्रह्माके दिनमें उत्पन्न होकर ब्रह्मरात्रिमें लय हो जाते हैं।

चन्द्रिका—पूर्वश्लोकोंमें ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोकोंकी नश्वरता बता कर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माकी आयुके साथ इनकी उत्पत्ति तथा नाशका विवेचन श्रीभगवान्ने इन श्लोकोंके द्वारा किया है। आर्यशास्त्रमें प्रलय चार प्रकारके कहे गये हैं यथा—नित्य, आत्यन्तिक, नैमित्तिक और प्राकृतिक। इनमेंसे प्रथम दो प्रलय व्यष्टिजीवके सम्बन्धसे और शेष दो प्रलय ब्रह्माण्ड

तथा समष्टिजीवके सम्बन्धसे होते हैं। जीवशरीरके अणु परमाणु तथा जीवचक्रकी गतिमें जो अनुक्षण परिवर्त्तन होता रहता है उसको नित्य प्रलय कहते हैं। ब्रह्ममें विलीन होकर जीवका मोक्ष होना आत्यन्तिक प्रलय कहलाता है। प्राकृतिक प्रलय महाप्रलयका नाम है जो कि ब्रह्माकी सौ वर्ष आयुके बीत जाने पर होता है। उस समय समस्त ब्रह्माण्डका एकबारगी ही नाश हो जाता है। प्रकृत विषय महाप्रलयका नहीं है, किन्तु नैमित्तिक अर्थात् खण्डप्रलयका है। इसके विषयमें शास्त्रमें यह लिखा है कि ब्रह्माके दिन बीत जाने पर रात्रिके समय यह प्रलय होता है। मनुष्योंके एक वर्षमें देवताओंका एक अहोरात्र होता है। दक्षिणायनके ६ महीने देवताओंकी रात्रि और उत्तरायणके ६ महीने देवताओंका दिन है। इस प्रकारसे दैव दिवारात्रिके हिसाबसे दैव द्वादश सहस्र वर्षोंमें सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि ये चार युग होते हैं। मनुष्यलोकके परिमाणसे १७२८००० वर्षका सत्ययुग, १२९६०१० वर्षका त्रेतायुग, ८६४००० वर्षका द्वापरयुग और ४३२००० वर्षका कलियुग होता है। इन चार युगोंके हजार बार हो जाने पर ब्रह्माका एक दिन होता है। जैसा कि श्लोकमें कहा गया है। उनकी रात्रि भी उतनी ही होती है। लौकिक जीव २४ घण्टेवाले अपने ही रातदिनको जानते हैं। केवल सर्वज्ञ योगिगण ही ब्रह्मदिवारात्रिके स्वरूपको जानते हैं जैसा कि 'तेऽहोरात्रविदो जनाः' इस वाक्यके द्वारा श्रीभगवान्ने बताया है। ब्रह्माके जागे रहनेके समय उनकी प्राणशक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्माण्डका चक्र चलता है। इसलिये जिस प्रकार निद्राके समय इन्द्रियां निश्चेष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार ब्रह्माकी निद्राके समय समस्त ब्रह्माण्डमें क्रिया बन्द हो जाती है। इसीको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। उस समय भूः, भुवः, स्वः ये तीन लोक दग्ध हो जाते हैं और महर्लोकके

निवासिगण तापसे पीड़ित होकर जनलोकमें चले जाते हैं। तदनन्तर तीन लोकके जलमय हो जाने पर ब्रह्माण्डव्यापी प्राणशक्तिको अपने भीतर भर कर ब्रह्माजी विष्णुके साथ शेषशय्या पर योगनिद्रामें सो जाते हैं। क्रियाके अनन्तर निष्क्रियता भी स्वभाविक है। इसलिये प्रकृतिके स्वाभाविक नियमानुसार ब्रह्माजीमें इस प्रकारकी निचेष्टता आ जाती है, जिस कारण ब्रह्माण्ड शरीरमें भी निश्चेष्टता आ जाती है। केवल प्रलय-कालमें भी जीवित रहनेकी शक्ति रखनेवाले योगिगण जनलोकमें ब्रह्माके ध्यानमें रत रहते हैं। जनलोकस्थ इन योगियोंके द्वारा प्रार्थित कमलयोनि ब्रह्मा इस प्रकारसे ब्रह्मरात्रिको योगनिद्रामें वितानेके अनन्तर पुनः ब्रह्म-दिवाके उदयमें जाग्रत होकर ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। इस प्रकारसे नैमित्तिक प्रलयके समय अव्यक्त प्रकृतिके गर्भमें छिपे हुए जीवगण ब्रह्मदिवामें पुनः प्रकट होते हैं। 'नाशः कारणलयः' इस सांख्य सूत्रके द्वारा यही बताया गया है कि प्रलयमें जीव नष्ट नहीं होते हैं, केवल अव्यक्त प्रकृतिके गर्भमें प्रच्छन्न हो जाते हैं और प्रलयके बाद सृष्टिके समय पुनः ये ही जीव प्रकट हो जाते हैं। त्रिगुणमयी प्रकृतिकी जो गुणोंमें समताकी अवस्था है उसे 'अव्यक्त' प्रकृति कहते हैं। उनकी गुणवैषम्यकी अवस्था व्यक्तदशा या सृष्टिदशा कहलाती है। जीवको मोक्ष मिलनेसे पहिले तक कर्मानुसार इन्हीं दो दशाओंमें बार बार भ्रमण करना पड़ता है यही अन्तिम श्लोकका आशय है॥ १७-१९॥

अब इस नश्वर भावसे विलक्षण नित्य भावका वर्णन तथा उसकी प्राप्तिका उपाय बता रहे हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

अन्वय——तस्मात् तु अव्यक्तात् परः (किन्तु उस अव्यक्तसे परे) अन्यः अव्यक्तः सनातनः यः भावः (दूसरा इन्द्रियातीत नित्य जो ब्रह्मभाव है) सः (वह) सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु (सकल भूतोंके नष्ट होने पर भी) न विनश्यति (नष्ट नहीं होता है)। अव्यक्तः अक्षरः इति उक्तः (जो अव्यक्त भाव अक्षर कहलाता है) तं परमां गतिं आहुः (उसे परम गति कहते हैं) यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते (जिस भावके प्राप्त होने पर पुनः संसारमें लौटना नहीं पड़ता है) तत् मम परमं धाम (वही मेरा परम पद है)। हे पार्थ! (हे अर्जुन!) भूतानि यस्य अन्तःस्थानि (कारणरूपी जिसके भीतर चराचर समस्त भूत रहते हैं) येन इदं सर्वं ततं (जिसके द्वारा समस्त चराचर व्याप्त है) सः परः पुरुषः (वह परम पुरुष परमात्मा) अनन्यया तु भक्त्या लभ्यः (केवल अनन्य भक्तिके द्वारा पाने योग्य है)।

सरलार्थ—कारणप्रकृतिरूपी अव्यक्तसे परे दूसरा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियातीत जो सनातन ब्रह्मभाव है चराचर सब कुछ नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता है। उस अव्यक्तभावको अक्षर तथा परमा गति कहा गया है, इसके पा जाने पर पुनः संसारचक्रमें आना नहीं पड़ता है, और यही

ब्रह्मका परम पद है । हे अर्जुन ! कारणमें कार्यकी तरह चराचर विश्व जिसमें स्थित है तथा आकाशकी तरह जो सर्वत्र परिव्याप्त है वह परमपुरुष परमात्मा अनन्यभक्तिके द्वारा ही प्राप्त होता है ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंके द्वारा 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' इस श्रुतिवाक्यके अनुसार अव्यक्त प्रकृतिसे भी परे विराजमान ब्रह्मकी परमा स्थिति और भक्तिके द्वारा उनकी प्राप्तिका साधन बताया गया है । त्रिगुणमयी प्रकृतिके अन्तर्गत सभी वस्तु नाशवान् हैं, किन्तु इससे अतीत परमात्मा अजर-अमर है । इस कारण उनके पा जाने पर जीवको भी पुनः जनन-मरण चक्रमें नहीं आना पड़ता है । यही उनका परम पद है । सूक्ष्म आकाशकी तरह सूक्ष्मतम परमात्मा चराचर भूतोंमें व्याप्त है और कार्यगुण कारणगुणके ही अन्तर्वर्त्ती होनेके कारण कार्यब्रह्मरूपी विश्व कारणब्रह्मरूपी परमात्मामें ही स्थित है । अनुरागकी तीव्रता तथा तन्मयताके द्वारा ही प्रत्येक वस्तु लब्ध होती है, तीव्र अनुरागको ही भक्ति कहते हैं, इस कारण सब ओरसे चित्तको खींचकर भक्त जब अनन्यभक्तिके साथ परमात्मामें तन्मय हो जाते हैं, तभी उन्हें अनन्तानन्दनिलय परमात्मा प्राप्त हो जाते हैं । गीताके इन अध्यायोंमें उपासना भावकी मुख्यता रहनेके कारण उपासना के प्राणरूपी भक्तिके द्वारा ही परमात्माप्राप्तिके साधन इनमें बताये गये हैं ॥२०—२२॥

आवृत्ति अनावृत्तिका रहस्य बताकर अब उसके लिये पथ निर्देश कर रहे हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ! ॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥
धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥२६॥

अन्वय—हे भरतर्षभ! (हे अर्जुन!) यत्र काले तु प्रयाताः (जिस कालमें मृत होकर अर्थात् मृत्युके अनन्तर जिस कालाभिमानी देवताके पथसे जाकर) योगिनः (कर्म या उपासना योगयुक्त पुरुषगण) अनावृत्तिं आवृत्तिं च यत्र यान्ति (पुनः संसारमें नहीं लौटते हैं या लौटते हैं) तं कालं वक्ष्यामि (उस पथके विषयमें तुम्हें कहूंगा)। अग्निः (अग्निके अभिमानी देवता) ज्योतिः (प्रकाशके अभिमानी देवता) अहः (दिनके अभिमानी देवता) शुक्लः (शुक्लपक्षके अभिमानी देवता) उत्तरायणं षण्मासाः (उत्तरायणके छः महीनेके अभिमानी देवता) तत्र प्रयाताः (इन देवताओंके मार्गमें होकर जानेवाले) ब्रह्मविदः जनाः (ब्रह्मोपासनाद्वारा ब्रह्मतत्त्ववेत्ता योगिगण) ब्रह्म गच्छन्ति (ब्रह्मको पाते हैं)। धूमः (धूएंके अभिमानी देवता) रात्रिः (रात्रिके अभिमानी देवता) तथा कृष्णः (और कृष्णपक्षके अभिमानी देवता) दक्षिणायनं षण्मासः (दक्षिणायनके छः महीनेके अभिमानी देवता) तत्र योगी (इन देवताओंके मार्गमें होकर जानेवाला योगी) चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य (चन्द्रमाकी ज्योतिसे

युक्त स्वर्गलोकको पाकर) निवर्त्तते (स्वर्गसुख भोगके बाद संसारमें लौट आता है)। जगतः (संसारके जीवोंके) शुक्लकृष्णे एते हि गती (शुक्लगति कृष्णगति, देवयानपथ पितृयानपथ, उत्तरायणगति दक्षिणायनगति नामक ये दो मार्ग) शाश्वते मते (अनादि माने गये हैं) एकया अनावृत्तिं याति (शुक्लगतिके द्वारा जानेसे पुनः लौटना नहीं पड़ता है) अन्यया पुनः आवर्त्तते (कृष्णगति प्राप्त जीव पुनः संसारमें लौट आता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! किस पथसे जाने पर परलोकगत योगीको पुनः संसारमें नहीं आना पड़ता है और किस पथसे उन्हें पुनरावृत्ति होती है सो तुम्हें कहूंगा। अग्नि, प्रकाश, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण पर अधिष्ठान करनेवाले देवताओंके मार्गमें होकर जो योगी ऊर्ध्वगतिको पाते हैं वे ब्रह्मस्वरूपको जान कर ब्रह्ममें ही लवलीन हो जाते हैं। धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन पर अधिष्ठान करनेवाले देवताओंके मार्गमें होकर जो योगी जाते हैं उन्हें चन्द्रमाकी ज्योतिसे युक्त स्वर्गलोकका भोग होता है और भोगक्षयमें वे पुनः संसारमें लौट आते हैं। जगत्‌के जीवोंके लिये ये ही शुक्लगति तथा कृष्णगति नामक अनादिसिद्ध दो गतियां हैं जिनमेंसे एकके द्वारा मुक्ति और दूसरेके द्वारा संसारमें पुनरावृत्ति होती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने देवयानपथ तथा पितृयानपथका विशेष वर्णन किया है। आर्यशास्त्रमें कर्मानुसार तीन गतियां बताई गई हैं यथा—शुक्लगति, कृष्णगति और सहजगति। सहज-

गतिका रहस्य 'ब्राह्मीस्थिति' प्रकरणमें पहिले ही बताया गया है। उसमें क्रमोर्द्ध्व गति न होकर ज्ञानके परिपाकमें यहीं ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है यथा श्रुतिमें-'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते' ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषको विदेहमुक्तिके समय प्राण ऊपर नहीं जाता है, किन्तु यहीं महाप्राणमें लय हो जाता है। इसीका नाम 'सहजगति' है। द्वितीय गतिका नाम 'शुक्लगति' है, देवयानपथ या उत्तरायणपथके द्वारा यह गति होती है। कर्म अथवा उपासना योगकी सहायतासे विशेष उन्नत होने पर भी जिस योगीको ज्ञानकी पूर्णता द्वारा आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है उसको यह गति मिलती है। इसके लिये श्रुतिमें लिखा है—"तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्नः .... तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्त्तन्ते।" अर्थात् ऐसे योगी अग्नि, प्रकाश आदिके अधिष्ठात्री देवताओंके स्थानोंको अतिक्रम करके अन्तमें विद्युत् अभिमानी देवताके स्थानको जाते हैं और वहांसे एक दिव्य पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं, जहांसे उन्हें पुनः लौटना नहीं पड़ता है। वे ज्ञानपरिपाकद्वारा आत्माको पाकर वहीं मुक्त हो जाते हैं। यदि पूर्णता होनेमें कदाचित् कोई विघ्न हुआ तो वहांसे भी पतन हो सकता है, जिसके लिये श्रीभगवान्ने 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' इत्यादि पहिले ही बताया है। किन्तु साधारणतः ब्रह्मलोकसे पुनरावृत्ति नहीं होती है। तृतीय गतिका नाम 'कृष्णगति' है, धूमयान, पितृयान या दक्षिणायन पथके द्वारा यह गति होती है। इष्टपूर्त्तादि सकाम कर्मके द्वारा यह गति प्राप्त होती है। इसकी अन्तिम सीमा चन्द्रलोक या चन्द्रकिरणसे युक्त स्वर्गलोक है। इसके लिये वेदमें लिखा है—"तेधूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं

प्राप्य अन्नं भवन्ति" ऐसे सकाम कर्मी जीव धूम आदिके अधिष्ठात्री देवताओंके स्थानोंमें होकर स्वर्गमें पहुंचते हैं और वहां वे देवताओंके अन्न बनते हैं अर्थात् देवतागण उन्हें लेकर आनन्द करते हैं। उन्हें "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इस उपदेशके अनुसार स्वर्गभोगके अन्तमें पुनः संसारमें आना पड़ता है। ये ही आर्यशास्त्रोक्त तीन गतियां हैं। श्लोकमें जो 'काल' शब्द है उसका अर्थ कालाभिमानी देवताका पथ है। अग्नि, ज्योति आदि शब्दके द्वारा 'पथ' ही बताया गया है। अर्थात् दोनों मार्गोंमें अग्नि, धूम आदिके अधिष्ठाता देवताओंके स्थान मिलते हैं। जिस प्रकार रेलमें बहुत दूर जानेके समय रास्तेमें अनेक स्टेशन मिलते हैं, यहां भी इन सबको देवताओंके स्थानरूपी स्टेशन समझने चाहिये। 'अग्नि', 'ज्योति' आदि शब्दके द्वारा कालकी सूचना न होने पर भी 'अहः', 'शुक्ल' आदि कालवाचक शब्दोंके साथ इनका भी प्रयोग हुआ है ऐसा समझना चाहिये। 'पितृयान' गतिमें पुनरावृत्ति होती है इस लिये इसके मार्ग भी धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष आदिसे भरे हुए हैं। और पुनरावृत्तिहीन देवयानपथमें 'प्रकाश' का ही प्राधान्य है। चन्द्रमा मनके देवता और सूर्य बुद्धिके देवता हैं। मनके द्वारा संसार बढ़ता है और बुद्धिके प्रकाशसे संसारका लय होता है। इस लिये पितृयानके साथ चंद्रका सम्बन्ध और देवयानके साथ सूर्यका सम्बन्ध है ये ही सब इन गतियोंके रहस्य हैं ॥२३-२६॥

रहस्य बता कर उपसंहारमें अब कर्त्तव्यका उपदेश कर रहे हैं—

नैते सृती पार्थ ! जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे अक्षरपरमब्रह्मयोगोनाम
अष्टमोऽध्यायः।

अन्वय—हे पार्थ! (हे अर्जुन!) एते सृती (इन दोनों मार्गों-को) जानन् (जान कर) कश्चन योगी (कोई भी योगी) न मुह्यति (सुमार्गको नहीं भूलता है), तस्मात् (इस लिये) हे अर्जुन! (हे अर्जुन!) सर्वेषु कालेषु (सकल समय) योगयुक्तः भव (तुम परमात्मामें युक्त रह कर अपने कर्त्तव्यका पालन करो)। वेदेषु यज्ञेषु तपःसु दानेषु च एव (वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञोंका अनुष्ठान, तपश्चर्या और दान इन सबमें) यत् पुण्यफलं प्रदिष्टं (जो पुण्यरूपी फल शास्त्रमें बताया गया है), इदं विदित्वा (सात प्रश्नोंके उत्तर रूपमें मेरे बताये हुये तत्त्वको जान कर) योगी तत् सर्वं अत्येति (योगी उन पुण्यफलोंको अतिक्रम करके और भी उत्कृष्ट योगैश्वर्यको पाता है) आद्यं च परं स्थानं उपैति (और सबके आदिरूप उत्कृष्टतम स्थान ब्रह्मपदको लाभ कर लेता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! शुक्ल कृष्ण इन दोनों गतियोंके रहस्य-को जान कर कोई भी योगी कुमार्गमें नहीं फँस जाता है। इस कारण परमात्मामें युक्त रह कर तुम सदा सुमार्गमें ही बने

रहो । वेदोंका अभ्यास, यज्ञोंका अनुष्ठान, तपश्चर्या तथा सुपात्र-में दान—इन सभीसे जो कुछ पुण्यफल शास्त्रोंमें बताया गया है, मेरे उपदिष्ट इस तत्त्वके ज्ञान लेने पर योगी उस पुण्यकोटिको अतिक्रम करके उत्तम आदिकारणरूपी मुझे ही पा लेता है ।

चन्द्रिका—प्रथम छः प्रश्नोंके उत्तरमें कार्यब्रह्म तथा कारणब्रह्मके अनेक रहस्य बता कर सप्तम प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान्‌ने 'अन्तकी गति' के विषयमें बहुत कुछ कहा है और सकाम तथा निष्काम योगके अनुसार कृष्णगति और शुक्लगति पर भी विशेष प्रकाश डाला है । अब अन्तमें उनका यही उपदेश है कि इन गतियोंके रहस्य जाननेवाले धीर योगियों-की तरह अर्जुनको भी शुक्लगतिके मार्गसे डिगना नहीं चाहिये, किन्तु परमात्मामें युक्त होकर निष्कामरूपसे कर्त्तव्य पालन करते हुए अन्तिम तथा आदि स्थान ब्रह्मको ही प्राप्त कर लेना चाहिये, क्योंकि वह पद यज्ञदानादि परिपाकजन्य पुण्यकोटिसे बहुत परे है और योगिजनोंका अन्तिम आनन्दमय लक्ष्य वही है ॥ २७-२८ ॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसम्वादका 'अक्षरपरमब्रह्मयोग' नामक आठवां अध्याय समाप्त हुआ ।

अष्टम अध्याय समाप्त ।

नवमोऽध्यायः।

अष्टमाध्यायमें कार्यब्रह्म तथा कारणब्रह्म के तत्त्वनिरूपणके अनन्तर श्रीभगवान्के प्रति ध्यानयोगमें युक्त भक्तोंकी मरणानन्तर गतिके विषयमें प्रचुर विचार किया गया है। किन्तु उन विचारों-में 'सहजगति' का वर्णन न होकर प्रायः 'क्रमोर्द्ध गति' का ही वर्णन आया है, जिससे योगयुक्त उपासक शुक्लगतिके द्वारा ब्रह्मलोकमें पहुंच कर ज्ञानबलसे मुक्त हो सकता है या इष्टके साथ प्रलयकालमें ब्रह्ममें विलीन हो सकता है। किन्तु यह गति कालसापेक्ष है और कहीं कहीं अनवधानतासे पतनकी आशंका-को भी उत्पन्न कर सकती है। इस कारण इस अध्यायमें श्रीभगवान् 'राजविद्या' की सहायतासे 'सहजगति' का वर्णन कर रहे हैं, जिससे ज्ञानमिश्रा भक्ति तथा उपासनाके द्वारा योगी इसी लोकमें परमा सिद्धि लाभ कर सकता है। अतः ज्ञानोपासनामयी राजविद्या ही इस अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है। इसमें ज्ञान तथा उपासनामूलक गम्भीर अनुभवगम्य विचारोंके साथ श्रीभगवान्ने प्रसङ्गोपात्त देवोपासनादिके भी अनेक तत्त्व बताये हैं। और अन्तमें इन सबकी अलग अलग गति तथा परम गतिका भी वर्णन कर दिया है। अब प्रथमतः इसी राजविद्याकी स्तुति करते हुए प्रतिपाद्य विषयका प्रारम्भ कर रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥२॥
अश्रद्दधानाः पुरुषाः धर्मस्यास्य परन्तप ! ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

अन्वय—इदं गुह्यतमं तु विज्ञानसहितं ज्ञान (अति गोपनीय अनुभवयुक्त इस ज्ञानको) अनसूयवे ते (दोषदर्शनरहित तुम्हें) प्रवक्ष्यामि (मैं बताऊंगा) यद् ज्ञात्वा (जिसे जान कर) अशुभात् मोक्ष्यसे (अकल्याणसे तुम मुक्त हो जाओगे) । इदं (यह ज्ञान) राजविद्या (सकल विद्याओंका राजा है) राजगुह्यं (गोपनीयोंका राजा अर्थात् परम गोपनीय है) उत्तमं पवित्रं (विशेष पवित्र है) प्रत्यक्षावगमं (प्रत्यक्ष फल देनेवाला है) धर्म्यं (धर्मके अनुकूल है) कर्त्तुं सुसुखं (सुखसाध्य है) अव्ययम् (नाशहीन फलदाता है)। हे परन्तप ! (हे अर्जुन !) अस्य धर्मस्य (इस आत्मज्ञानरूपी परम धर्मके) अश्रद्दधानाः पुरुषाः (अश्रद्धा करनेवाले पुरुषगण) मां अप्राप्य (मुझे न पाकर) मृत्युसंसारवर्त्मनि (मृत्युसे व्याप्त संसारमार्गमें) निवर्त्तन्ते (घूमते रहते हैं)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—दोषदर्शनरहित श्रद्धावान् तुमको मैं अति गोपनीय अनुभवसहित यह ज्ञान बताऊँगा जिसके जान लेने पर तुम अशुभसे मुक्त हो कल्याणके अधिकारी बनोगे। यह ज्ञान सकल विद्याओंका राजा तथा परम गोपनीय है, यह अति पवित्र, प्रत्यक्ष फलदाता, धर्मसे भूषित, सुखसाध्य तथा अविनाशी है। हे अर्जुन ! इसके प्रति जो अश्रद्धा करते हैं,

ये मुझे न पाकर मृत्युमय संसारमार्गमें पुनः पुनः आते जाते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें श्रीभगवान्ने 'राजविद्या' के प्रति अर्जुनकी विशेष रुचि दिलानेके लिये इस विद्याकी प्रशंसा की है। अर्जुन 'असूयाशून्य' थे, इस कारण राजविद्या प्राप्तिके अधिकारी थे। गुणमें दोष देखनेको 'असूया' कहते हैं। श्रीभगवान्का स्वरूप न समझ कर 'वे अपने ही मुखसे अपनी महिमा बता रहे हैं' ऐसी दोषदृष्टि अर्जुनमें हो सकती थी। किन्तु सो हुई नहीं, यही अर्जुनकी असूयाशून्यताका लक्षण है। ऐसे असूयाहीन श्रद्धालु जिज्ञासुको श्रीभगवान् राजविद्या बता रहे हैं। 'उपासनाकी मधुरतासे पूर्ण ज्ञान' जिसके प्राप्त होने पर 'सहजगति' के द्वारा ज्ञानी भक्त इसी लोकमें निर्वाणसुखको लाभ कर सकते हैं उसीका नाम राजविद्या है। बिना गुप्त रक्खे उपासनामें सिद्धिलाभ नहीं हो सकता, अनधिकारीसे ज्ञानको छिपाना भी शास्त्र तथा युक्तिसङ्गत है, धर्मका तत्त्व 'निहितं गुहायाम्' होनेके कारण गुप्त ही है, अतः परमधर्मरूपी परमात्मज्ञानदायिनी राजविद्या अति गोपनीय होगी इसमें क्या सन्देह है? यही 'गुह्यतम' तथा 'राजगुह्य' शब्दका तात्पर्य है। यह विद्या सबसे अधिक प्रकाशवान् तथा सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण इसको 'राजविद्या' कहा गया है। जिसके द्वारा महापापी भी पवित्र हो जाते हैं वह 'उत्तम पवित्र' अवश्य ही है। मनोनाश वासनाक्षय आत्मप्रसाद आदि राजविद्याके प्रत्यक्षफल साधनाके साथ ही साथ अनुभवमें आने लगते हैं, इसलिये यह विद्या 'प्रत्यक्षावगम' अर्थात् स्पष्ट फलदाता है। 'अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्' महर्षि याज्ञवल्क्यके इस प्रमाणके अनुसार राजविद्या ही परमधर्म तथा सकल धर्मोंका फलरूप है इसीलिये राजविद्याको 'धर्म्य' अर्थात् धर्मानुकूल कहा गया

है । इसके अभ्यास करनेमें देशकालका विचार नहीं है, सकाम यज्ञादिकी तरह सामान संग्रह तथा बीचके विघ्न आदिके झगड़े भी नहीं हैं, इसलिये यह विद्या 'सुसुख' है । सहज साध्य फल प्रायः थोड़े दिन स्थायी होते हैं, किन्तु 'राजविद्या' सुखसाध्य होने पर भी नाशहीन अनन्तफल-प्रद है, यही 'अव्यय' शब्दका तात्पर्य है । इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌ने राजविद्याकी स्तुति की है और भक्त अर्जुनको श्रद्धाके साथ इसे ग्रहण करनेके अर्थ प्रेरित किया है, क्योंकि 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं' श्रद्धाके द्वारा ही ज्ञान लाभ होता है, श्रद्धाहीन पुरुष ज्ञानहीन होकर संसार-चक्रमें परिभ्रमण करते हैं, यही इन श्लोकोंका आशय है ॥१—३॥

अब विस्तारके साथ राजविद्याका वर्णन कर रहे हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

अन्वय—अव्यक्तमूर्तिना मया (अतीन्द्रिय मेरी सत्ताके द्वारा) इदं सर्वं जगत् (यह समस्त विश्व) ततं (व्याप्त है), सर्वभूतानि मत्स्थानि (स्थावर जङ्गम सब जीव मुझमें रहते हैं) अहं च तेषु न अवस्थितः (किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ)। भूतानि न च मत्स्थानि (और जीवगण भी मुझमें नहीं रहते हैं) मे ऐश्वरं योगं पश्य (देखो यह कैसी मेरी अलौकिक महिमा है), भूत-

भावनः (भूतोंका उत्पन्न करनेवाला) भूतभृत् च (और भूतोंका पालनेवाला) मम आत्मा (मेरा स्वरूप, मेरी सत्ता) न भूतस्थः (भूतोंमें नहीं है)। यथा (जिस प्रकार) सर्वत्रगः (सर्वत्र जानेवाला) महान् वायुः (विपुल वायु) नित्यं आकाशस्थितः (आकाशके साथ संश्लिष्ट न होकर आकाशमें ही रहता है) तथा (उसी प्रकार) सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि (सभी भूत असंश्लिष्टरूपसे मुझमें रहते हैं) इति उपधारय (यही जानो)।

सरलार्थ——मैंने अपने इन्द्रियातीत स्वरूपके द्वारा समस्त विश्वको व्याप्त कर रक्खा है, मुझमें सब भूत है, किन्तु निर्लिप्त होनेके कारण मैं उनमें नहीं हूँ। और मुझमें सब भूत भी नहीं है, देखो कैसी मेरी अलौकिक योगमहिमा है! भूतोंका उत्पादक तथा रक्षक होने पर भी निःसङ्ग होनेके कारण मेरा आत्मा उनमें नहीं है। सर्वत्र बहनेवाला महान् वायु जिस प्रकार आकाशके साथ न मिल कर उसीमें रहता है, ठीक उसी प्रकार आकाश-रूपी मुझमें असंश्लिष्टरूपसे समस्त पदार्थ रहते हैं यही जानो।

चन्द्रिका—राजविद्या प्रकरणमें इन श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान्ने अपनी सङ्गरहित महिमा बताई है। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिवचनके अनुसार स्थावर जङ्गम सभी भूतोंके भीतर परमात्मा व्याप्त हैं और सबके कारण होनेसे सभी भूत उनमें हैं तथापि निर्लिप्त और मायासे परे परमात्मा है, इस हेतु न परमात्मा ही भूतोंमें हैं यह कहा जा सकता है और न भूत समूह ही परमात्मामें हैं यह कहा जा सकता है। यही उनकी ईश्वरीय अर्थात् अलौकिक योग अर्थात् अघटन घटनः

दिखानेकी युक्ति है। वायु आकाशमें सर्वत्र बहा करता है, किन्तु उसके साथ वायुका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है उसी प्रकार आकाशकी तरह निर्लिप्त सर्वव्यापी परमात्मामें भूतगण रहते हैं, इनके परिणाम, चाञ्चल्य, दोषगुण आदिके साथ परमात्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। श्रुतिमें भी लिखा है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

जिस प्रकार सूर्य सकल जीवोंके चक्षुरूपी होने पर भी चक्षुके दोषोंके साथ सूर्यका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, उसी प्रकार परमात्मा सकल भूतोंके भीतर होने पर भी भूतोंके सुख दुःखके साथ उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। यही स्थिति दशाके भूतोंके साथ परमात्माका निःसङ्ग सम्बन्ध है॥ ४-६॥

अब सृष्टि तथा प्रलय दशामें भूतोंके साथ उनका सम्बन्ध-रहस्य बताते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः॥
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥८॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय!।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥९॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय! जगद्विपरिवर्त्तते॥१०॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) सर्वभूतानि (स्थावर जङ्गम समस्त भूत) कल्पक्षये (ब्रह्माकी रात्रिमें ब्राह्मप्रलयके समय) मामिकां प्रकृतिं यान्ति (मेरी ही प्रकृतिमें लय हो जाते हैं) पुनः कल्पादौ (पुनः ब्रह्माके दिवाभागमें सृष्टिके समय) अहं (मैं) तानि विसृजामि (उन भूतोंकी सृष्टि करता हूँ)। स्वां प्रकृतिं अवष्टभ्य (अपनी प्रकृति पर अधिष्ठान करके) प्रकृतेः वशात् अवशं (त्रिगुणमयी प्रकृतिके अधीन होनेके कारण अस्वतन्त्र) इमं कृत्स्नं भूतग्रामं (इन सब भूतोंको) पुनः पुनः विसृजामि (मैं बार बार उत्पन्न करता हूं। हे धनञ्जय ! (हे अर्जुन !) तानि कर्माणि (ये सब सृष्टि आदिक कर्म) तेषु कर्मसु असक्तं (उन कर्मोंमें आसक्ति रहित) उदासीनवत् आसीनं च मां (तथा उदासीनकी तरह रहनेवाले मुझको) न निबध्नन्ति (नहीं बांध सकते हैं)। अध्यक्षेण मया (निमित्त कारणरूपी मेरी अध्यक्षतामें) प्रकृतिः सचराचरं सूयते (प्रकृति चराचर विश्वको उत्पन्न करती है), हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) अनेन हेतुना (इसी कारण) जगत् विपरिवर्त्तते (चराचर जगत् पुनः पुनः उत्पत्तिस्थितिप्रलयको प्राप्त होता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! कल्पान्तमें ब्रह्माकी रात्रि आने पर समस्त जीव मेरी प्रकृतिमें लय हो जाते हैं और पुनः नवीन कल्पमें ब्रह्माका दिन आ जाने पर मैं उन्हें उत्पन्न करता हूं। अपनी प्रकृति पर अधिष्ठान करके कर्माधीन प्रकृतिप्रवाहमें विवशरूपसे बहनेवाले समस्त प्राणियोंको मैं इस प्रकारसे बार बार उत्पन्न करता हूं। हे अर्जुन ! इतना होने पर भी ये सब

कर्म मुझे बांध नहीं सकते, क्योंकि मैं कर्मोंमें अनासक्त उदासीनकी तरह रहता हूं। केवल मेरी अध्यक्षतामात्रसे ही प्रकृति चराचर विश्वको प्रसव करती है और हे कौन्तेय! इसीसे समस्त विश्व बार बार आता जाता रहता है।

चन्द्रिका—जिस योगमाया पर अधिष्ठान करके ब्रह्माण्डकी स्थिति दशामें सब कुछ करने पर भी परमात्मा निःसङ्ग, निर्लिप्त, उदासीन रह सकते हैं, उसी योगमायाको वशीभूत करके सृष्टि तथा प्रलय कृत्योंमें भी कैसे परमात्मा निःसङ्ग, उदासीन रहते हैं इसी रहस्यमयी राजविद्याका वर्णन इन श्लोकोंमें किया गया है। जैसा कि पहिले अध्यायमें वर्णित हो चुका है ब्रह्मरात्रिमें चराचर जीव कारणप्रकृतिमें छिप जाते हैं और ब्रह्मदिनमें पुनः प्रकट हो जाते हैं। कर्मपरतन्त्र जीवको निर्वाणमोक्षलाभके पूर्व तक बार बार प्रकृति प्रवाहमें ऐसा ही बहना पड़ता है। किन्तु परमात्माकी क्या अलौकिक महिमा है कि सब कुछ करने पर भी वे सदा निःसङ्ग और उदासीन ही रहते हैं। इसका हेतु यह है कि परमात्मा अपनी प्रकृतिको वशमें लाकर उस पर अधिष्ठान करके तब सृष्टि आदि करते हैं और जीव त्रिगुणमयी प्रकृतिका अधीन होकर विवशरूपसे कर्म करता है। श्रुतिमें कहा है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

सकल भूतोंमें अद्वितीयरूपसे व्याप्त, सबके अन्तरात्मास्वरूप परमात्मा प्रकृतिके कर्मोंके साक्षी तथा निर्लिप्त अधिष्ठाता मात्र हैं। सांख्यदर्शनमें लिखा है—'तत् सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' जिस प्रकार चुम्बकके

पास रहने मात्रसे ही लोहेमें क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है, उसके लिये चुम्बकको स्वयं कुछ करना नहीं पड़ता है, ठीक उसी प्रकार परमात्माकी अध्यक्षतामात्रसे ही त्रिगुणमयी प्रकृति तरङ्गायित होकर समस्त विश्वको प्रसव करती है, किन्तु कर्त्तत्वाभिमानशून्य होनेसे परमात्मा उदासीन और निर्विकार होनेसे परमात्मा सदा निःसङ्ग रहते हैं। यही सबके हेतु होने पर भी परमात्माका सबसे पृथक् रहनेका रहस्य है ॥ ७-१० ॥

ऐसे निर्लिप्त-मुक्तस्वभाव भगवान्‌को साधारण जीव क्यों नहीं जान पाते सो बता रहे हैं—

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

अन्वय—मम भूतमहेश्वरं परं भावं (मेरे सकलभूतोंके महान् ईश्वररूपी श्रेष्ठ भावको) अजानन्तः (न जान कर) मूढ़ाः (अज्ञानी जीवगण) मानुषीं तनुं आश्रितं मां (संसारकी रक्षाके हेतु मनुष्यदेहधारी मुझको) अवजानन्ति (अवज्ञा करते हैं)। मोघाशाः (व्यर्थ आशा करनेवाले) मोघकर्माणः (व्यर्थ कार्य करनेवाले) मोघज्ञानाः (आस्तिक्यहीन वृथा ज्ञानवाले) विचेतसः (भ्रष्टचित्त ऐसे पुरुषगण) मोहिनीं (विवेकनाशकारी) राक्षसीं आसुरीं च एव (तामसी और राजसी) प्रकृतिं श्रिताः (प्रकृतिको आश्रय किये रहते हैं)।

सरलार्थ—सकलभूतोंके महान् ईश्वररूपी मेरे परम भाव-

को न जान कर मूढ़ जनगण मुझे मनुष्यदेहधारी समझ मेरी अवज्ञा करते हैं। इन सब बुद्धिनाशकारी तामसी तथा राजसी प्रकृतिवाले राक्षसी और आसुरी जीवगणको आशा व्यर्थ, कर्म व्यर्थ, ज्ञान व्यर्थ और चित्त भ्रष्ट रहता है।

चन्द्रिका—शास्त्रमें लिखा है—

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते।
असुराणाञ्च रजसि तमस्युद्धव! रक्षसाम्॥

सत्त्वगुणके द्वारा देवताओंका, रजोगुणके द्वारा असुरोंका और तमोगुणके द्वारा राक्षसोंका बल बढ़ता है। इसलिये रजोगुणमूलक काम दम्भ दर्प अभिमान आदि आसुरीप्रकृति जीवोंका लक्षण है और हिंसाद्वेषमाया आदि राक्षसीप्रकृति जीवोंका लक्षण है। ऐसे मनुष्य परमात्माकी महिमाको नहीं समझते हैं और भक्तोंकी रक्षाके हेतु नररूपधारी परमात्माको मनुष्य समझ कर उनकी अवज्ञा करते हैं। इस प्रकारसे भगवद्भावरहित होनेके कारण उनके कोई भी कार्य स्थायी कल्याणप्रद नहीं होते हैं। उनकी स्वर्णमयी सभी आशा व्यर्थ तथा परिणाममें दुःखदायिनी होती है, उनके आस्तिक्यहीन कर्म भी ऐसे ही व्यर्थ और कुतर्कनास्तिक भावमय ज्ञान भी व्यर्थ होते हैं। वे भ्रष्टबुद्धि, भ्रष्टकर्मी होकर 'असूर्या नाम ते लोकाः' इत्यादि श्रुतिप्रमाणके अनुसार अधोगतिको ही पाते हैं॥ ११-१२॥

इससे विपरीत उत्तम कर्मी जीव कौन होते हैं सो बता रहे हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्वय—हे पार्थ! (हे अर्जुन!) महात्मानः तु (किन्तु उन्नतहृदय उन्नतात्मा पुरुषगण) दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः (सत्त्व-गुणमयी दैवीप्रकृतिको आश्रय करके) अनन्यमनसः (अन्यत्र चित्त न डाल कर) मां (मुझे) भूतादिं (विश्वका आदिकारण) अव्ययं (अविनाशी) ज्ञात्वा भजन्ति (जान कर मेरी भजना करते हैं)। सततं मां कीर्त्तयन्तः (स्तोत्रादिके द्वारा सदा मेरा कीर्त्तन करते हुए) दृढ़व्रताः यतन्तः च (और दृढ़व्रत होकर यत्न करते हुए) भक्त्या मां नमस्यन्तः च (तथा भक्तिसे मेरा नमस्कार करते हुए) नित्ययुक्ता उपासते (सदा मुझमें युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं)। अन्ये अपि च (और भी कोई कोई) ज्ञानयज्ञेन यजन्तः (ज्ञानरूपी यज्ञके द्वारा मेरा पूजन करते हुए) विश्वतोमुखं मां (सर्वात्मक मुझे) एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा उपासते (अभेद भावसे या भेदभावसे बहुप्रकारसे उपासना करते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! राक्षसी और आसुरी प्रकृति मनुष्य मेरी अवज्ञा करने पर भी दैवी प्रकृतिवाले महात्मागण मुझे जगत्कारण अव्ययस्वरूप जान कर एकान्तरतिके साथ मेरी उपासना करते हैं। वे स्तोत्रादिके द्वारा सदा मेरा कीर्त्तन, दृढ़व्रत

को न जान कर मूढ़ जनगण मुझे मनुष्यदेहधारी समझ मेरी अवज्ञा करते हैं। इन सब बुद्धिनाशकारी तामसी तथा राजसी प्रकृतिवाले राक्षसी और आसुरी जीवगणकी आशा व्यर्थ, कर्म व्यर्थ, ज्ञान व्यर्थ और चित्त भ्रष्ट रहता है।

चन्द्रिका—शास्त्रमें लिखा है—

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते ।
असुराणाञ्च रजसि तमस्युद्धव ! रक्षसाम् ॥

सत्त्वगुणके द्वारा देवताओंका, रजोगुणके द्वारा असुरोंका और तमोगुणके द्वारा राक्षसोंका बल बढ़ता है। इसलिये रजोगुणमूलक काम दम्भ दर्प अभिमान आदि आसुरीप्रकृति जीवोंका लक्षण है और हिंसाद्वेषमाया आदि राक्षसीप्रकृति जीवोंका लक्षण है। ऐसे मनुष्य परमात्माकी महिमाको नहीं समझते हैं और भक्तोंकी रक्षाके हेतु नररूपधारी परमात्माको मनुष्य समझ कर उनकी अवज्ञा करते हैं। इस प्रकारसे भगवद्भावरहित होनेके कारण उनके कोई भी कार्य स्थायी कल्याणप्रद नहीं होते हैं। उनकी स्वर्णमयी सभी आशा व्यर्थ तथा परिणाममें दुःखदायिनी होती है, उनके आस्तिक्यहीन कर्म भी ऐसे ही व्यर्थ और कुतर्कनास्तिक भावमय ज्ञान भी व्यर्थ होते हैं। वे भ्रष्टबुद्धि, भ्रष्टकर्मी होकर 'असूर्या नाम ते लोकाः' इत्यादि श्रुतिप्रमाणके अनुसार अधोगतिको ही पाते हैं ॥ ११–१२ ॥

इससे विपरीत उत्तम कर्मी जीव कौन होते हैं सो बता रहे हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्वय—हे पार्थ! (हे अर्जुन!) महात्मानः तु (किन्तु उन्नतहृदय उन्नतात्मा पुरुषगण) दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः (सत्त्व-गुणमयी दैवीप्रकृतिको आश्रय करके) अनन्यमनसः (अन्यत्र चित्त न डाल कर) मां (मुझे) भूतादिं (विश्वका आदिकारण) अव्ययं (अविनाशी) ज्ञात्वा भजन्ति (जान कर मेरी भजना करते हैं)। सततं मां कीर्त्तयन्तः (स्तोत्रादिके द्वारा सदा मेरा कीर्त्तन करते हुए) दृढ़व्रताः यतन्तः च (और दृढ़व्रत होकर यत्न करते हुए) भक्त्या मां नमस्यन्तः च (तथा भक्तिसे मेरा नमस्कार करते हुए) नित्ययुक्ता उपासते (सदा मुझमें युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं)। अन्ये अपि च (और भी कोई कोई) ज्ञानयज्ञेन यजन्तः (ज्ञानरूपी यज्ञके द्वारा मेरा पूजन करते हुए) विश्वतोमुखं मां (सर्वात्मक मुझे) एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा उपासते (अभेद भावसे या भेदभावसे बहुप्रकारसे उपासना करते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! राक्षसी और आसुरी प्रकृति मनुष्य मेरी अवज्ञा करने पर भी दैवी प्रकृतिवाले महात्मागण मुझे जगत्कारण अव्ययस्वरूप जान कर एकान्तरतिके साथ मेरी उपासना करते हैं। वे स्तोत्रादिके द्वारा सदा मेरा कीर्त्तन, दृढ़व्रत

होकर मेरे लिये प्रयत्न और भक्तिके साथ मेरा नमस्कार करते हुए मुझमें युक्त हो मेरी उपासना करते हैं। किसी किसीका ज्ञान ही यज्ञ है, वे उसी यज्ञके द्वारा अभेदभावसे या भेदभावसे बहुप्रकारसे सर्वात्मक मेरी उपासना करते हैं।

चन्द्रिका——इन श्लोकोंमें दैवीप्रकृति महात्माओंकी भगवदुपासनाके प्रकार बताये गये हैं। जैसा कि पहिले वर्णन किया गया है सत्त्वगुणमयी शमदमदयादिमयी प्रकृति ही दैवी प्रकृति है। ऐसी प्रकृतिवाले उन्नतमना पुरुषगण परमात्माके अविनाशी सर्वकारण स्वरूपको पहचान कर उन्हींमें रत रहते हैं। इनमेंसे कोई कोई ज्ञानप्रिय उपासक 'वासुदेवः सर्वं' इस अद्वैतज्ञानरूपी यज्ञके द्वारा उनकी उपासना करते हैं। 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' हे भगवन्! मैं 'तुम' हूं और तुम 'मैं' हो यही अभेद भाव इस उपासनाका मूल है। इसके सिवाय परमात्माके 'विश्वतोमुख' अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-इन्द्र-आदित्य आदि सर्वात्मक होनेके कारण बहुतसे उपासक भेद भावसे इन्द्रादिरूपसे भी उनकी उपासना करते हैं। यह सभी उपासना उन्हींकी उपासना होकर उन्हींके चरणोंमें विलीन हो जाती है ॥१३-१५॥

सभीकी उपासना उन्हींकी कैसे होती है इसके तत्त्व बतानेके लिये अपनी सर्वात्मकता दिखा रहे हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन! ॥१९॥

अन्वय—अहं क्रतुः (अग्निष्टोमादि श्रौतयज्ञ मैं हूँ) अहं यज्ञः (बलिवैश्वदेवादि स्मार्त्तयज्ञ मैं हूँ) अहं स्वधा (श्राद्धादिमें पितरोंको जो दिया जाता है वह अन्न मैं हूँ) अहं ओषधं (प्राणियोंके प्राणधारणयोग्य धान्य, यवादि ओषधिसे उत्पन्न अन्न मैं हूँ) अहं मन्त्रः (यज्ञोंमें याज्ञिकके द्वारा उच्चारित मन्त्र मैं हूँ) अहं आज्यं (यज्ञमें आहुति देनेका सामान घृत आदि मैं हूँ) अहं अग्निः (जिसमें आहुति दी जाती है वह अग्नि मैं हूँ) अहं हुतम् एव (हवनरूप कार्य भी मैं हूँ)। अहं अस्य जगतः (मैं इस विश्वका) पिता (उत्पत्तिकर्त्ता) माता (जननी) धाता (कर्मफल विधाता) पितामहः (पिताके पिता) वेद्यं (ज्ञेय वस्तु) पवित्रं (पावन वस्तु) ओंकारः (श्रेयसाधन प्रणव) ऋक् साम यजुः एव च (और ऋगादि तीन वेद भी हूँ)। गतिः (मैं सबकी गति) भर्त्ता (पोषणकर्त्ता) प्रभुः (स्वामी) साक्षी (अच्छे बुरे कर्मोंका साक्षी) निवासः (सबका निवासस्थान) शरणं (आश्रयस्थान) सुहृत् (प्रत्युपकारके बिना ही उपकारी) प्रभवः (स्रष्टा) प्रलयः (संहारकर्त्ता) स्थानं (आधार) निधानं (लयस्थान) अव्ययं बीजम् (अविनाशी कारणरूप हूँ)। हे अर्जुन! (हे अर्जुन!) अहं तपामि (मैं सूर्यरूपसे तपाता हूँ)। अहं (मैं) वर्षं उत्सृजामि

निगृह्णामि च (वृष्टिको करता हूँ और कभी रोक भी लेता हूँ), अमृतं च एव मृत्युः च (मैं अमृत भी हूँ और मृत्यु भी हूँ) अहं सत् असत् च (मैं सत्‌रूपी अविनाशी और असत्‌रूपी विनाशी वस्तु हूँ)।

सरलार्थ—मैं श्रौतयज्ञ, स्मार्त्तयज्ञ, पितरोंका अन्न, जीवोंका अन्न, यज्ञमन्त्र, हवनसामग्री, अग्नि और हवन कार्य हूँ । मैं जगत्‌का पिता, माता, कर्मविधाता, पितामह हूँ, जो कुछ जानने योग्य और पवित्र है तथा ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं हूँ । मैं सबकी गति, सबका पोषक, स्वामी, साक्षी, निवासस्थान आश्रयस्थान, सखा, उत्पत्तिकर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, आधार, लयस्थान और अविनाशी बीजरूप हूँ। हे अर्जुन ! विश्वमें उष्णता मैं देता हूँ, मैं पानीको रोकता और बरसाता हूँ अमृत मृत्यु, सत् असत् मैं ही हूँ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें 'विश्वतोमुख' भगवान्‌का सर्वात्मकभाव बताया गया है। संसारमें कार्य, कारण, विभूति, शक्ति जो कुछ है सो भगवान् ही है, क्योंकि महाशक्तिरूपिणी प्रकृति उन्हींकी शक्ति है और संसार इसी शक्तिका विलासमात्र है। इसी व्यापकभावका दिग्दर्शन इन श्लोकोंमें किया गया है । यथा सब प्रकारके यज्ञ, यज्ञके सामान, अग्नि, आहुति सभी भगवान् हैं और देवता, पितर, मनुष्य सबका तृप्तिदायक अन्न भी वही है। पितृशक्ति, मातृशक्ति, उसके भी निदानरूपी पितामहशक्ति उन्हींकी विभूति है । ज्ञेय ब्रह्म वस्तु वे ही हैं, उसके वाचकरूपी प्रणव वे ही हैं और प्रणवके विस्ताररूपी समस्त वेद वे ही हैं । सृष्टि शक्ति,

स्थिति शक्ति, पालनपोषण शक्ति, नाश शक्ति, धारण देनेकी शक्ति, विश्वचराचरकी अविनाशी आदिशक्ति—सब उन्हींकी शक्ति है। इन्हीं शक्तियोंका विलास कभी चन्द्रकलारूपमें, कभी सूर्यरश्मिरूपमें, कभी वरुण रूपमें वे ही करते हैं और नाश या नाशका अभाव, नाशशील असत् वस्तु या अविनाशी सत् वस्तु ये सभी इनकी विभूति या विभूतिका विलास है। यही सब परमात्माके 'विश्वतोमुख' भावका प्रभाव है। इनमेंसे किसी भाव या किसी विभूतिकी उपासना परमात्मा बुद्धिसे करने पर परमात्माकी उपासनाका ही फल साधकको मिलता है जिससे जन्ममृत्युरूपी चक्रसे बच कर साधक क्रमशः मोक्षपदवीका लाभ कर सकता है ॥१६—१९॥

किन्तु ऐसा न करने पर क्या गति होती है सो ही बता रहे हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकंविशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

अन्वय—त्रैविद्याः (ऋग् यजुः साम इन तीन वेदोंके सकाम कर्मकाण्डमें रत पुरुष) मां यज्ञैः इष्ट्वा (न जानने पर भी

इन्द्रादिरूपसे यज्ञ द्वारा मेरी ही पूजा करके) सोमपाः पूतपापाः (यज्ञशेष सोमपान करके निष्पाप होकर) स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते (स्वर्गमें जाना चाहते हैं), ते (वे लोग) पुण्यं सुरेन्द्रलोकं आसाद्य (पुण्यफलरूपी इन्द्रलोकको पाकर) दिवि (स्वर्गमें) दिव्यान् देवभोगान् अश्नन्ति (उत्तम देवभोगोंको भोगते हैं)। ते तं विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा (वे विशाल स्वर्गलोकके सुखोंको भोग कर) पुण्ये क्षीणे (स्वर्गदेनेवाले पुण्यका क्षय हो जाने पर) मर्त्यलोकं विशन्ति (मृत्युलोकमें आ जाते हैं), एवं (इस प्रकारसे) त्रयीधर्म अनुप्रपन्नाः (वैदिक सकाम कर्मोंके अनुष्ठाता) कामकामाः (कामनापरायण व्यक्तिगण) गतागतं लभन्ते (आवागमनके चक्रमें घूमते रहते हैं)।

सरलार्थ—वेदत्रयके सकामकर्ममें रत पुरुषगण मेरी विभूति न जानने पर भी इन्द्रादिरूपसे मेरी आराधना यज्ञ द्वारा करके यज्ञशेष सोमपान पूर्वक निष्पाप होकर स्वर्गकी प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यकर्मोंके फलसे स्वर्गमें जाकर अनेक प्रकारके दिव्यभोगोंको भोगते हैं। और पुण्य क्षय हो जाने पर पुनः मृत्युलोकमें प्रवेश करते हैं। इस प्रकारसे सकाम वैदिक धर्मपरायण व्यक्तियोंका आवागमन चक्र बना रहता है।

चन्द्रिका—पहिले ही कहा गया है कि परमात्माकी अभेदबुद्धिसे उपासना या परमात्म बोधसे उनकी किसी विभूति अथवा प्रतीककी उपासना करने पर आवागमन चक्र छूट जाता है। किन्तु जिसमें यह बुद्धि नहीं है वह अज्ञान पूर्वक परमात्माकी विभूतिकी पूजा करने पर भी बुद्धि तथा

भावनाके अनुसार ही गतिको प्राप्त होता है। ये दो श्लोक इसीके दृष्टान्त हैं। इन्द्रवसु आदि देवतागण परमात्माकी ही विभूतियां हैं, किन्तु सकाम वैदिक कर्मकाण्डिगण ऐसा न समझ कर देवतारूपसे ही यज्ञमें उनकी आराधना करते हैं जिसका फल यह होता है, कि सकाम देवताबुद्धिकी यह पूजा उन्हें केवल स्वर्गभोग दिलाती है। जिन पुण्यकर्मोंके फलसे उन्हें स्वर्गसुख मिला था उनके समाप्त हो जाने पर वे स्वर्गमें ठहर नहीं सकते। यथा श्रुतिमें—'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति'। स्वर्गमें पुण्यफलरूपी सुखभोगके बाद जीव मृत्युलोक या इसके भी हीन पश्वादि योनियोंको पाते हैं। इस प्रकारसे परमात्माकी अनन्यशरण न लेने तक जीवोंका आवागमनचक्र बराबर बना रहता है॥ २०-२१॥

परमात्माकी शरण लेने पर क्या होता है सो बता रहे हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥२२॥

अन्वय—अनन्याः मां चिन्तयन्तः (और कहीं चित्त न लगा कर मेरी चिन्ता करते हुए) ये जनाः पर्य्युपासते (जो लोग मेरी उपासना करते हैं) नित्याभियुक्तानां तेषां (मुझमें सदा रत उनका) अहं योगक्षेमं वहामि (मैं योगक्षेम चलाता हूं)।

सरलार्थ—मेरे जो भक्तगण और कहीं चित्त न डाल कर सदा मेरी ही साधनामें युक्त रहते हैं, नित्य आत्मरत उनका योग-क्षेम मैं ही चलाता हूं।

चन्द्रिका—सकाम कर्मकाण्डियोंकी गति बता कर अब निष्काम

भगवद्भक्तोंकी उत्तमगति बता रहे हैं । जो भक्तगण सब कुछ छोड़ कर, अपने शरीरयात्रानिर्वाहका भी ख्याल न रख कर रात दिन परमात्माके प्रेममें ही मग्न रहते हैं, उनकी जीविका और सभी प्रकार शरीरयात्रा भगवान् ही चलाते हैं । उनके लिये 'योग' अर्थात् आवश्यक अप्राप्त वस्तुओंको जुटा देना और 'क्षेम' अर्थात् जुटी हुई वस्तुओंको सम्हालना ये सभी भगवान् करते रहते हैं । क्योंकि आत्माके ध्यानमें मग्न भक्तको इन बातोंकी सुध ही नहीं रहती है। यों तो सभीका योगक्षेम भगवान् चलाते रहते हैं क्योंकि सबके नियन्ता अन्तर्यामीकी प्रेरणासे ही सब कुछ होता है, किन्तु दूसरेमें पुरुषार्थशक्ति उत्पन्न करके श्रीभगवान् उनका योगक्षेम चलाते हैं और भक्तका सभी पुरुषार्थ भगवदुपासनामें ही लव-लीन हो जानेसे उनके लिये सभी कुछ स्वयं भगवान्को ही करना पड़ता है, यही अपने भक्तोंके प्रति श्रीभगवान्की अनुपम कृपा तथा भगवद्भक्ति-का अत्युत्तम लाभ है ॥२२॥

परमात्माकी विभूतिको भूलकर कोरी देवपूजासे क्या होता है सो बता रहे हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) श्रद्धया अन्विताः (श्रद्धासे युक्त होकर) ये भक्ताः (जो भक्तगण) अन्यदेवताः अपि यजन्ते (अन्य देवताओंकी भी पूजा करते हैं) ते अपि (वे भी)

अविधिपूर्वकं (अज्ञानपूर्वक) मां एव यजन्ति (मेरी ही पूजा करते हैं)। अहं हि (क्योंकि मैं) सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुः एव च (देवतारूपसे सकल यज्ञोंका भोक्ता तथा 'अधियज्ञ' रूपसे अधिष्ठाता हूँ), ते तु (किन्तु वे) मां तत्त्वेन न अभिजानन्ति (मुझे इस यथार्थ भावसे नहीं पहचानते) अतः च्यवन्ति (इस कारण मोक्षमार्गसे गिर जाते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! समस्त देवता मेरी विभूति हैं ऐसा न समझ कर भी जो भक्तगण श्रद्धाके साथ अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं वे भी अज्ञानपूर्वक मेरी ही पूजा करते हैं। मैं ही देवतारूपसे सब यज्ञोंका भोक्ता तथा अधियज्ञरूपसे अधिष्ठाता हूँ, किन्तु देवोपासकोंमें ऐसा ज्ञान न होनेके कारण वे पुनरावृत्तिको प्राप्त करते हैं।

चन्द्रिका—ऋग्वेदमें लिखा है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' पण्डितगण एक ही परमात्माको अग्नि, यम, वायु आदि देवता कहते हैं। महाभारतमें लिखा है—

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते॥

देवता, पितर, गुरु, अतिथि, गौ, ब्राह्मण, पृथिवी, माता—इनकी पूजासे भगवान् विष्णुकी पूजा होती है। इसमें भेद इतना ही है कि भगवद्बुद्धिसे ऐसी पूजा करने पर वह पूजा विधि अर्थात् ज्ञानपूर्वक पूजा कहलाती है और उसके द्वारा पुनरावृत्ति नहीं होती है। किन्तु भगवानका

"विश्वतोमुख" भाव न समझ कर अज्ञानपूर्वक केवल देवादि बुद्धिसे अनुष्ठित ऐसी पूजा उपासकको मोक्षकी ओर नहीं ले जा सकती है, वे मोक्षमार्गसे च्युत हो जाते हैं और केवल इहलोक परलोकमें सुखसमृद्धि लाभ तथा देवलोकादि प्राप्त करते हैं। यही अविधिपूर्वक पूजाका फल है॥ २३–२४॥

अब इन सब पूजाओंके तथा ब्रह्मोपासनाके पृथक् पृथक् फल बता रहे हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥२५॥

अन्वय—देवव्रताः (देवताओंके उपासकगण) देवान् यान्ति (देवताओंको पाते हैं) पितृव्रताः (पितरोंके उपासकगण) पितॄन् यान्ति (पितरोंको पाते हैं) भूतेज्याः (भूतोंके उपासकगण) भूतानि यान्ति (भूतोंको पाते हैं) मद्याजिनः अपि (मेरे उपासकगण भी) मां यान्ति (मुझे पाते हैं)।

सरलार्थ—देवोपासकगण देवताओंको, पितरोपासकगण पितरोंको, प्रेतोपासकगण प्रेतोंको और ब्रह्मोपासकगण ब्रह्मको पाते हैं।

चन्द्रिका—महाभारत में लिखा है—

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम!॥

जिसको जिस भावमें निश्चय रहता है, वह उसी भावानुसार ही अन्तिम गतिको पाता है। श्रुतिमें भी लिखा है—'तं यथा यथोपासते

तदेव भवति' उपासनाके अनुरूप ही उपासकको फल मिलता है। यह फल तीन प्रकारसे मिलता है यथा—उपास्यके लोकको प्राप्त करना, उनके समीप जाकर रहना और तीसरा उनके रूपको प्राप्त कर लेना। श्रीभगवान्‌ने 'यान्ति' शब्दके द्वारा गुण भेदसे यही रहस्य बताया है। तामसिक प्रेतोपासकगण प्रेतलोकको जाते हैं या प्रेतत्व लाभ करते हैं, राजसिक पितरोपासकगण पितृलोकको जाते हैं या पितृत्व लाभ करते हैं, सात्विक देवोपासकगण देवलोकको जाते हैं या देवत्व लाभ करते हैं और गुणातीत भगवद्भक्तगण ब्रह्मत्वको या ब्रह्मलोकको पाते हैं। प्रथम तीनोंकी पुनरावृत्ति होती है, किन्तु भगवान्‌के भक्त भगवान्‌में ही जा मिलते हैं। उन्हें जनन मरण चक्रमें पुनः घूमना नहीं पड़ता है। अतः उपासनाका व्यापार एक ही होने पर भी केवल भावके भेदसे मूढ़ जीव संसारचक्रमें घटियन्त्रकी तरह घूमते रहते हैं, इससे अधिक दुःखका विषय और क्या हो सकता है, यही श्रीभगवान्‌के कथनका आशय है ॥ २५ ॥

परमात्माकी उपासना केवल अनन्तफलप्रद ही नहीं है अधिकन्तु अनायाससाध्य भी है इसका तत्त्व बता रहे हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

अन्वय—यः मे (जो मुझे) भक्त्या (भक्तिके साथ) पत्रं पुष्पं फलं तोयं (पत्र पुष्प फल जल आदि अनायासप्राप्त जो कुछ सामान्य भी वस्तु) प्रयच्छति (अर्पण करता है) अहं (मैं) प्रयतात्मनः (संयतात्मा शुद्धचित्त भक्तका) भक्त्युपहृतं तत् (भक्तिके द्वारा समर्पित उस वस्तुको) अश्नामि (ग्रहण करता हूं)।

सरलार्थ—पत्र पुष्प फल जलादि सामान्य वस्तु भी यदि कोई भक्तिके साथ मुझे समर्पण करे तो मैं शुद्धचित्त भक्तका यह भक्तिका उपहार सानन्द ग्रहण करता हूँ।

चन्द्रिका—परमात्माकी उपासना जैसी अनन्तफलदायिनी है वैसी ही सहजसाध्य भी है यही भाव इस श्लोकके द्वारा व्यक्त हुआ है। देवताओंकी सकाम पूजाओंमें नानाप्रकारकी सामग्री जुटानेकी आवश्यकता होती है, किसी वस्तुमें कुछ कमी रह जाने पर यज्ञादिमें सिद्धि नहीं मिलती है, किन्तु परमात्मा 'भावग्राही' हैं, माधव केवल 'भक्तिप्रिय' हैं, इनके लिये सामानोंके ढेर कर देनेकी आवश्यकता नहीं होती है, केवल प्रेमके साथ एक आध फूल तुलसीदल या विल्वपत्रसे ही भगवान् परितृप्त हो जाते हैं। उनके लिये दरिद्र भक्त विदुरकी 'अन्नकणा' भक्तिहीन दाम्भिक राजा दुर्योधनकी कोटि कोटि सुवर्णमुद्राकी अपेक्षा अधिक प्रिय होता है। वे भक्तिसुधा ही पीते हैं, भक्तिसुधा ही चाहते हैं। किन्तु इस पर भी विषयमदोन्मत्त जीव उनकी उपासनारूपी सौभाग्यसे वञ्चित रहते हैं यही संसारमें महान् दुःखका विषय है ॥ २६ ॥

रहस्य बता कर भक्तका कर्त्तव्यका उपदेश कर रहे हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

अन्वय—हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) यत् करोषि (तुम जो कुछ करते हो), यत् अश्नासि (जो कुछ खाते हो) यत् जुहोषि

(जो कुछ हवन करते हो), यत् ददासि (जो कुछ दान करते हो) यत् तपस्यसि (जो कुछ तप करते हो) तत् मदर्पणं कुरुष्व (वह मुझे अर्पण कर दो) । एवं (ऐसा कर देने पर) शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः (कर्मोंके शुभ अशुभ फलरूपी बन्धनोंसे) मोक्ष्यसे (तुम मुक्त हो जाओगे), संन्यासयोगयुक्तात्मा (सब कर्मोंको भगवान्‌में समर्पणरूप योगमें युक्तचित्तहोकर) विमुक्तः (कर्मबन्धनसे मुक्त तुम) मां उपैष्यसि (मुझे प्राप्त करोगे) ।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो और तप करते हो वह सब मुझे समर्पण करते रहो । ऐसा होने पर कर्मोंके शुभाशुभ फलोंके बन्धनमें तुम नहीं पड़ोगे और मुझमें सब कुछ समर्पणरूपी योगमें युक्त रह कर कर्मबन्धनसे मुक्त हो मुझे प्राप्त करोगे ।

चन्द्रिका—भगवान् जब थोड़े ही में तृप्त हो जाते हैं और सभी भावोंमें उन्हींकी भावना रखने पर वे ही मिलते हैं, तो कर्त्तव्य यही होना चाहिये कि सब कुछ करते हुए भी सभी कुछ उन्हींमें समर्पण किया जाय । ऐसा होने पर शुभ हो या अशुभ कोई भी कर्मफल कर्त्ताको नहीं स्पर्श करेगा और वह कर्मबन्धनसे मुक्त होकर परमात्माको सभी भावोंमें स्मरण करता हुआ अन्तमें परमात्माको ही लाभ कर लेगा । अतः अर्जुनको भी स्वधर्मानुसार कर्त्तव्य पालन करना चाहिये और शुभाशुभ कर्म भगवान्‌को ही समर्पण कर देना चाहिये यही श्रीभगवान्‌का उनके प्रति उपदेश है ।।२७-२८।।

उपासनाके प्राणरूपी भक्तिकी और भी महिमा बता रहे हैं-

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥
अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

अन्वय—अहं सर्वभूतेषु समः (मैं सबके प्रति एकसा हूँ), मे न द्वेष्यः न प्रियः अस्ति (कोई मेरा अप्रिय या प्रिय नहीं है) ये तु मां भक्त्या भजन्ति (किन्तु भक्तिके साथ जो लोग मेरी भजना करते हैं) ते मयि अहं अपि च तेषु (वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं)। सुदुराचारः अपि चेत् (यदि कोई अत्यन्त पापाचारी भी) अनन्यभाक् मां भजते (अनन्यभक्ति होकर मेरी भजना करे) सः साधुः एव मन्तव्यः (उसको साधु ही समझना चाहिये) हि (क्योंकि) सः सम्यग् व्यवसितः (उसने सत्यनिश्चय कर लिया है)। क्षिप्रं धर्मात्मा भवति (वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है) शश्वत् शान्तिं निगच्छति (नित्यशान्तिको प्राप्त करता है), हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) प्रतिजानीहि (सबको प्रतिज्ञापूर्वक कह सकते हो) मे भक्तः न प्रणश्यति (मेरा भक्त कभी विनष्ट या दुर्दशाग्रस्त नहीं होगा)।

सरलार्थ—मैं सबके लिये एकसा हूँ, मेरा कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है, किन्तु जो भक्तिके साथ मेरी भजना करते हैं वे मुझमें और मैं उनमें हूँ। अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभक्तिके

साथ मेरी भजना करे तो उसे भी साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि उसने अपना सत्यनिश्चय कर लिया है। ऐसा पुरुष शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती शान्तिका अधिकारी हो जाता है, हे अर्जुन! तुम निश्चितरूपसे कह सकते हो कि मेरा भक्त कभी नाशको प्राप्त नहीं होगा।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें भगवदुपासनाकी परम महिमा बताई गई है। परमात्मा प्रकृतिसे परे होनेके कारण प्रकृतिके रागद्वेषरूप द्वन्द्व-भावसे भी परे हैं। इसलियें न उनका कोई प्रिय है और न अप्रिय है। वे केवल भक्तकी प्रार्थनाशक्तिके द्वारा आकृष्ट होने पर तब उनके बनते हैं। अग्नि सबके लिये समान होने पर भी केवल निकटस्थ वस्तुको ही उत्तप्त कर सकती है। उनके कृपापवनके सदा बहते रहने पर भी संसारसिन्धुमें डाली हुई जीवतरणी पक्षविस्तार करने पर ही उस पवनका सहारा पा सकती है। यही जीव और परमात्माका सम्बन्ध है। इसलिये अति दुराचारी पुरुष भी यदि एकान्तरति होकर परमात्माकी उपासना करेगा तो शीघ्र ही उसका दुराचार छूट जायगा और वह धर्मात्मा बन कर नित्यशान्तिका उपभोक्ता बनेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अविनाशी आत्माकी शरण लेनेपर कदापि विनाश या दुर्दशा नहीं हो सकती यही सत्य सिद्धान्त है और इसीकी घोषणा श्रीभगवान् अर्जुनके द्वारा जगत्को देते हैं। 'प्रतिजानीहि' शब्दका यही तात्पर्य है ॥२९-३१॥

परमात्माकी समता तथा उपासनाकी अशेषकल्याणकारिताकी पराकाष्ठा बता रहे हैं—

मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) ये अपि पापयोनयः स्युः (चाण्डालादि पाप योनियोंमें भी जिनकी उत्पत्ति हुई है वे) स्त्रियः वैश्याः तथा शूद्राः (और स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्रगण) ते अपि (वे भी) हि (निश्चय ही) मां व्यपाश्रित्य (मेरी एकान्त-शरण लेकर) परां गतिं यान्ति (मोक्षरूपी उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं) । पुण्याः ब्राह्मणाः (पुण्ययोनि ब्राह्मणगण) तथा भक्ताः राजर्षयः (और भक्त राजर्षिगण उत्तम गति पावेंगे) किं पुनः (इसमें कहना ही क्या है). अनित्यं असुखं (नाशशील सुख-रहित) इमं लोकं प्राप्य (इस मर्त्यलोकको पाकर) मां भजस्व (मेरी भजना करो) ।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! मेरी एकान्तशरण लेकर चाण्डा-लादि पापयोनिके जीव और स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्रगण भी परमगतिको पा जाते हैं । अतः पुण्ययोनि ब्राह्मण तथा भक्त राजर्षियोंकी परमगतिके विषयमें कहना ही क्या है ? क्षणभङ्गुर सच्चे सुखसे शून्य इस मृत्युलोकमें दुर्लभ मनुष्यजन्मको पाकर मेरी भजना करो ।

चन्द्रिका—उपासना तथा भगवत्कृपाकी महिमा बतानेके प्रसङ्गमें ऊपरके श्लोकोंमें यही कहा गया था कि दुराचार आदि आगन्तुक दोषोंसे

युक्त पुरुष भी भगवत्शरण लेकर शीघ्र ही उद्धारको पा सकता है। अब इन श्लोकोंमें यह बताया जाता है कि पापयोनित्व आदि स्वाभाविक दोषोंसे युक्त जीव भी उपासना तथा भगवद्भक्तिके प्रभावसे संसारसिन्धुको तर सकते हैं। प्रतिलोमसंकर चाण्डालादि पापयोनि अवश्य हैं। किन्तु श्रीभगवान्‌की कृपा तथा भक्तिकी महिमा ऐसी अलौकिक तथा अपार है कि ऐसे पापयोनिके जीव भी उनका नाम लेकर तर जाते हैं। "भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्" मेरी भक्ति चाण्डालको भी मोक्ष देती है यह भागवतका वचन है। स्त्री, वैश्य और शूद्रकी योनि साधारणतः कुछ निम्न कोटिकी होनेके कारण 'पापयोनि' के चाण्डालादिके साथ इनका भी वर्णन आया है। तमोमयी मायाका अंश स्त्रियोंमें अधिक होनेसे मोहादिवृत्तियां साधारणतः उनमें अधिक रहती हैं, इसलिये उनकी योनि निम्नकोटिकी है। वैश्योंमें कृषि आदि स्थूल कार्य तथा तमोमिश्रित रजोगुण होनेसे उनकी भी योनि कुछ निम्नकोटिकी है। और शूद्रोंमें तमोगुण विशेष रहनेसे ये भी निम्नयोनिके होते हैं। अवश्य इस वर्णनके द्वारा उच्चकोटिके असाधारण संस्कारवाले शूद्रादि नहीं समझने चाहिये। क्योंकि असाधारण ब्रह्मवादिनी स्त्रियां गार्गी, मैत्रेयी आदि, असाधारण शूद्र सूत, विदुरादि, असाधारण वैश्य सप्तशतीमें वर्णित 'समाधि' आदि इस कोटिमें कदापि नहीं आ सकते और उनको अवश्य ही अनायास परमगति प्राप्त हो जाती है, जिसका प्रमाण सर्वशास्त्रमें प्रसिद्ध है। यहां पर सामान्यकोटिके शूद्रादिका वर्णन किया गया है और भगवान् की पक्षपात-रहित उदार जाति-वर्ण-विभेदहीन कृपाकी महिमा तथा भक्तिकी अनुपम महिमाका वर्णन किया गया है। यों तो कलियुगी अधम ब्राह्मणोंको भी निष्पक्ष ज्ञानी महर्षियोंने नहीं छोड़ा है यथा भागवत पुराणमें—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ॥
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

स्त्री, शूद्र और अधम ब्राह्मणोंको वेद पढ़ना या सुनना नहीं चाहिये, इसीलिये महामुनि व्यासदेवने उनके कल्याणके लिये पञ्चमवेदरूपी महाभारतकी रचना कर दी । किन्तु भक्ति तथा भगवान्‌की उपासनामें सभीका अधिकार है और पापयोनि चाण्डालतक भक्तिबलसे तर जाते हैं । अतः पुण्ययोनि ब्राह्मण और सूक्ष्मदृष्टिवाले उत्तम क्षत्रियगण उपासनाके द्वारा उत्तम गतिको प्राप्त करेंगे इसमें कहना ही क्या है । अतः उत्तम क्षत्रिय अर्जुनको भी चाहिये कि अनित्य दुर्लभ मनुष्यजन्मको पाकर भगवान्‌की भजना करें । संसार अनित्य है इसलिये कालविलम्ब न करके और संसार सत्यसुखहीन है इस लिये सुखकी परवाह न करके सुखदुःखसे परे विराजमान परमात्मपदकी ओर अपने वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्योंको करते हुये उपासना तथा भक्तिकी सहायतासे सभीको अग्रसर होना चाहिये यही अर्जुनको निमित्त बनाकर जगज्जनोंके प्रति श्रीभगवान्‌का राजविद्याका उपदेश है ॥३२-३३॥

अब उपासनाकी विधि बता कर उपसंहार करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।

अन्वय—मन्मनाः मद्भक्तः मद्याजी भव (तुम मुझमें अपना मन रक्खो, मेरा सेवक बनो और मेरा पूजन करते रहो) मां नमः कुरु (मुझे नमस्कार करो), एवं (इस प्रकारसे) मत्परायणः (मत्परायण होकर) आत्मानं युक्त्वा (मनको मुझमें समाहित करके) मां एव एष्यसि (मुझे ही प्राप्त करोगे)।

सरलार्थ—तुम मुझमें मनको लगाओ, मेरा भक्त बनो, पूजन तथा नमस्कार करो। इस तरहसे मत्परायण होकर मुझमें समाहितचित्त रहनेसे मुझे ही पाओगे इसमें सन्देह नहीं है।

चन्द्रिका—जब ज्ञानोपासनामयो राजविद्याके द्वारा श्रीभगवान्में युक्त रह कर वर्णाश्रमानुकूल कर्त्तव्यको करता हुआ जीव परमात्माके चरणकमलोंमें अनायास ही पहुंच सकता है तो अर्जुन तथा जगज्जनोंको चाहिये कि समस्त कर्म श्रीभगवान्में समर्पण करके मनको भी उन्हींमें लगा रक्खे और उन्हींका अनन्यभक्त बन कर उन्हींमें एकान्तरत हो जाय यही राजविद्याका गूढ़ रहस्य तथा मोक्षधामके लिये राजमार्ग है और यही अध्यायके उपसंहारमें श्रीभगवान्का मधुर उपदेश है ॥३४॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'राजविद्या राजगुह्य योग' नामक नवां अध्याय समाप्त हुआ।

नवम अध्याय समाप्त।

दशमोऽध्यायः ।

सप्तम तथा अष्टम अध्यायोंमें श्रीभगवान्‌ने अपनी जो विभूतियां बताई हैं और नवम अध्यायमें साधनाकी सुविधाके लिये राजविद्या वर्णन प्रसङ्गमें अपने सर्वात्मक भावकी विभूतियोंका जो तत्त्व प्रकट किया है, प्रकृत अध्यायमें विशेषरूपसे उन्हींका वर्णन किया जायगा, जिससे सर्वत्र श्रीभगवान्‌की विभूतियोंकी धारणा करके उनके द्वारा सर्वभूतमय तथा सर्वभावमय परमात्माकी उपासना पूर्णरूपसे बन सके और भक्तिमान् उपासक सर्वत्र उन्हें अनुभव करके कृतकृत्य हो जाय। अब अर्जुनको तत्त्वज्ञानामृतपानमें परमप्रीत तथा परम उत्सुक जान कर श्रीभगवान् प्रकृत विषयकी अवतारणा कर रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो ! शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

अन्वय—हे महाबाहो ! (हे अर्जुन !) भूय एव (फिर भी) मे परमं वचः शृणु (मेरे तत्त्वज्ञान प्रकाशक उत्तम वाक्यको सुनो) यत् (जो कि) अहं (मैं) प्रीयमाणाय ते (मेरे कथनसे तृप्ति लाभ करनेवाले तुम्हें) हितकाम्यया वक्ष्यामि (तुम्हारी हितेच्छासे कहूँगा)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन ! मेरे तत्त्वज्ञान प्रकाशक उत्तम वाक्यको पुनः श्रवण करो, क्योंकि मैं देखता हूँ

मेरी बातोंसे तुम्हें विशेष तृप्ति हो रही है और उनसे तुम्हें विशेष कल्याण भी प्राप्त होगा।

चन्द्रिका—अर्जुन 'महाबाहु' है क्योंकि स्वधर्मपालन तथा महत् सेवाके लिये उनकी भुजा सदा प्रस्तुत रहती है। इसीलिये अर्जुन तत्त्ववाक्य सुननेका अधिकारी भी है। उन्हें पहिले अध्यायोंमें कहे हुए तत्त्ववाक्योंको पुनः कहनेके तीन कारण हैं यथा—अर्जुन उन वाक्यों को सुन कर अमृत-पानके समान तृप्ति लाभ कर रहा है, वे सब वाक्य दुर्ज्ञेय होनेसे बार बार कहने पर तब ठीक ठीक हृदयङ्गम हो सकते हैं और तीसरा उन वाक्योंसे अर्जुनको विशेष कल्याणकी भी प्राप्ति होगी। यही श्रीभगवान्‌के पुनः विभूतियोग बतानेका कारण हुआ ॥१॥

तत्त्व बतानेका कारण तथा सुननेका फल कह रहे हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥२॥
यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

अन्वय—न सुरगणाः न महर्षयः (न देवतागण और न महर्षिगण) मे प्रभवं विदुः (मेरी उत्पत्ति या असीम शक्तिके रहस्यको जानते हैं), हि (क्योंकि) अहं (मैं) देवानां महर्षीणां च सर्वशः आदिः (देवताओं तथा महर्षियोंका सब प्रकारसे आदि-कारण हूँ)। यः मां (जो मुझे) अजं अनादिं लोकमहेश्वरं च (जन्मरहित, अनादि तथा समस्त लोकोंका महेश्वर करके) वेत्ति (जानता है) सः मर्त्येषु असंमूढः (मनुष्योंमें वही मोहवर्जित

होकर) सर्वपापैः प्रमुच्यते (ज्ञान अज्ञानकृत सकल पापोंसे मुक्त हो जाता है)।

सरलार्थ—मेरे उत्पत्तिरहस्य या असीम शक्तिरहस्यको देवता या महर्षि कोई भी नहीं जानते हैं। क्योंकि मैं देवता और महर्षि सभीका सब तरहसे आदिकारण हूँ, मेरा लौकिक जीवोंकी तरह जन्म नहीं है, आदि नहीं है और मैं सबका महेश्वर हूँ इस रहस्यको जो जानता है, मनुष्योंमें वही मोहवर्जित होकर ज्ञानाज्ञानकृत सकल पापोंसे मुक्त हो जाता है।

चन्द्रिका—पुनः तत्त्व बतानेका यही कारण हुआ कि बताने वाले महर्षिगण या देवतागण सभी इन्हींसे तथा उनके पीछे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये उनका पूर्ण तत्त्व कोई नहीं जानते हैं। अजन्मा होने पर भी वे कैसे अवतारादि रूपमें प्रकट हो जाते हैं, अनादि कारणरूप उनसे कार्यब्रह्मका विकाश कैसे होता है, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमय विराटके सञ्चालक प्रभु महेश्वर वे कैसे हैं ये सभी अति रहस्यमय विषय हैं जिनके जान लेने पर ज्ञान अज्ञानकृत सकल पापोंसे मुक्त होकर जीव अमृतत्वलाभ कर सकता है, यही श्रीभगवान्‌के उपदेशका निष्कर्ष है ॥२–३॥

अब अपनी महेश्वररूपी विभूतिका वर्णन कर रहे हैं—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयश्चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपोदानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

अन्वय--बुद्धिः (अन्तःकरणकी निश्चयात्मिका शक्ति) ज्ञानं (आत्मानात्मविषयक बोध) असंमोहः (कर्त्तव्यविषयमें न घबड़ा कर विवेकके साथ प्रवृत्ति) क्षमा (दोष देखने पर भी सहिष्णुता) सत्यं (यथार्थ भाषण) दमः (बाहिरी इन्द्रियोंका संयम) शमः (अन्तःकरणका संयम) सुखं दुःखं (सुख और दुःख) भवः अभावः (उत्पत्ति और नाश) भयं च अभयं एव च (भय और अभय) अहिंसा (किसी प्राणिको पीड़ा न देना) समता (अन्तःकरणकी रागद्वेषरहित अवस्था) तुष्टिः (अनायासप्राप्त वस्तुमें सन्तोष) तपः दानं (तपस्या और दान) यशः अयशः (धर्मनिमित्त कीर्त्ति और अधर्मनिमित्त अकीर्त्ति) भूतानां पृथग्विधाः भावाः (जीवोंके ये सब अलग अलग भाव अर्थात् अवस्था समूह) मत्तः एव भवन्ति (मुझसे ही उत्पन्न होते हैं)। सप्त महर्षयः (भृगु आदि सात महर्षि) पूर्वे चत्वारः (इनसे भी पहिलेके सनकादि चार) तथा मनवः (और चौदह मनु) मद्भावाः (मेरे भावमें भावित होनेके कारण मेरी ज्ञानादि शक्तियोंसे युक्त) मानसाः जाताः (मेरी संकल्पशक्तिसे उत्पन्न) लोके (संसारमें) इमाः (ये सब ब्राह्मणादि स्थावर जङ्गमादि) येषां प्रजाः (जिनकी प्रजा हैं)।

सरलार्थ--बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय, अहिंसा, समचित्तता,

सन्तोष, तपस्या, दान, कीर्त्ति, अकीर्ति, जीवकी ये सब तरह तरहकी अवस्थाएं मेरी ही विभूतियां और मुझसे ही उत्पन्न होती हैं। मेरे भावमें भावित होनेके कारण मदीय ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न भृगु आदि सप्त महर्षिगण, उनसे भी पूर्ववर्ती सनकादि चार परमहंस और चतुर्दशमनु ये सभी मेरी मानस सन्तान हैं जिनकी प्रजा ये सब स्थावर जङ्गम जीव हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें परमात्माकी लोकमहेश्वर विभूति बताई गई है। संसारकी सभी शक्तियां उन्हींकी शक्ति होनेसे बुद्धि ज्ञान आदि सभी शक्तियां तथा प्राणियोंके अच्छे बुरे सभी भाव उन्हींसे उत्पन्न होते हैं। ये ही उनके लोक महेश्वर भाव हैं। केवल इतना ही नहीं संसारके आदि सृष्टिकर्ता महर्षिगण तथा मनुगणभी इन्हींकी लोकमहेश्वर विभूति-योंसे प्रकट हुए हैं। शास्त्रमें लिखा है—

भृगुं मरीचिमत्रिञ्च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
वशिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजन्मनसा सुतान्॥

भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ इन आदि सप्त महर्षियोंको परमात्माने मनके द्वारा ही प्रथम उत्पन्न किया था। 'मनसा साधु पदयति, मानसाः प्रजा असृजन्त' इत्यादि प्रमाण वेदमें भी मिलते हैं। इनसे भी पहिले सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन ये चार महर्षि मनके प्रभावसे उत्पन्न किये गये थे। किन्तु ये सब परमहंस होनेके कारण इनके द्वारा सृष्टिकार्य नहीं हो सका, इस कारण भृगु आदि सप्त महर्षि उत्पन्न किये गये। और इनके बाद चौदह मनु भी प्रकट किये गये। इन सभीके द्वारा स्थावर जङ्गम समस्त प्रजा उत्पन्न हुई है।

सनकादिकी ज्ञानमयी सन्तान और महर्षियोंकी मनोमयी सन्तान समस्त प्रजा है यही समझना चाहिये। 'मद्भावाः' शब्दका यही तात्पर्य है कि परमात्माके मनसे उत्पन्न होनेके कारण वे सब परमात्माके भावमें भावित थे और इसी कारण उनकी शक्ति, ऐश्वर्य, विभूतियोंके द्वारा पूर्ण थे। यही कारण है कि इन महर्षियों तथा मनुओंके द्वारा यथा पूर्व सृष्टि ठीक ठीक बन सकी थी। परमात्माकी सृष्टिशक्तिमयी हिरण्यगर्भ-विभूतिसे इन मानसपुत्रोंकी उत्पत्ति हुई है यही आर्यशास्त्रका सत्य सिद्धान्त है॥४-५-६॥

विभूतिज्ञानका फल बता रहे हैं—

एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥७॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

अन्वय—यः (जो) मम एतां विभूतिं योगं च (मेरी इस विभूतिको तथा इसके प्रकट करनेकी सामर्थ्यरूपी योगशक्तिको) तत्त्वतः वेत्ति (यथार्थरूपसे जान लेता है) सः (वह) अविकम्पेन योगेन युज्यते (निश्चल आत्मयोगमें युक्त हो जाता है)

अत्र न संशयः (इसमें सन्देह नहीं है)। अहं सर्वस्य प्रभवः (मैं विश्वसंसारका उत्पत्तिकारण हूँ) मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते (कारणरूपी मुझसे ही समस्त कार्यब्रह्म प्रवर्त्तित होता है) इति मत्वा (ऐसा जान कर) बुधाः (विवेकिगण) भावसमन्विताः (मेरे प्रति हृदयके प्रीतिभावद्वारा युक्त हो) मां भजन्ते (मेरी भजना करते हैं)। मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः (मुझमें मनप्राणको बांधकर) मां परस्परं बोधयन्तः (युक्ति प्रमाणादि द्वारा मेरे विषयमें परस्पर समझा कर) कथयन्तः च (मेरे विषयमें परस्पर आलाप कर) नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च (सदा प्रसन्न रहते हैं और आत्मरमण करते हैं)। सततयुक्तानां प्रीतिपूर्वकं भजतां तेषां (मुझमें सदायुक्त प्रेमपूर्वक उपासना करनेवाले उनको) तं बुद्धियोगं ददामि (वह तत्त्वज्ञानयोग मैं प्रकट करा दूंगा) येन ते मां उपयान्ति (जिससे वे मुझे पा सकें)। तेषां अनुकम्पार्थं एव (उनके प्रति कृपा करनेके लिये ही) अहं आत्मभावस्थः (मैं उनकी बुद्धिमें प्रतिष्ठित होकर) भास्वता ज्ञानदीपेन (अति उज्ज्वल ज्ञानरूपी प्रदीपके द्वारा) अज्ञानजं तमः नाशयामि (उनके अज्ञानान्धकारका नाश करता हूँ)।

सरलार्थ—जिन विभूतियोंका वर्णन किया गया इन सबको तथा इनके प्रकट करनेकी मेरी योगसामर्थ्यको जो यथार्थरूपसे जानता है, वह निश्चल आत्मयोगमें युक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं है। मैं समस्त विश्वका उत्पत्तिकारण हूँ और मुझसे ही सब कुछ प्रवृत्त होता है ऐसा जान कर विवेकी पुरुषगण

परमप्रेमके साथ मेरी भजना करते हैं। ये मनप्राण मुझमें बांध लेते हैं, मेरे विषयमें ही परस्पर बोध कराते हैं और मेरी गुण-कथा ही कहते कहते सदा प्रसन्न तथा आत्मरमणमें रत रहते हैं। ऐसे सदा आत्मयोगमें युक्त सप्रेम मेरी उपासना करनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानयोग प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त करते हैं। ऐसे ही भक्तोंके प्रति कृपा करनेके लिये मैं उनकी बुद्धि पर अधिष्ठान करके दीप्तिमान ज्ञानज्योतिके द्वारा उनका अज्ञानान्धकार नाश करता हूँ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें श्रीभगवान्के विभूतिदर्शनका फल बताया गया है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, दैवजगत्, लौकिक संसार सर्वत्र व्याप्त उनकी विभूतियोंका ज्ञान होनेसे साधक उन्हींके भावमें भावित तथा उन्हींके समाधियोगमें युक्त हो जाता है। इस प्रकार 'अविकम्प योग' का उदय होने पर उपासकके चित्तमें विषयगन्ध कुछ भी नहीं रह जाती है, वह भगवद्भावके द्वारा चित्तको लबालब भर कर उन्हींमें रमण करता रहता है। और ऐसे भक्तके प्रति कृपा करके श्रीभगवान् अज्ञाननाश-कारी तत्त्वज्ञानका प्रकाश उसके अन्तःकरणमें कर देते हैं जिससे भक्तको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। यही इन श्लोकोंका निष्कर्ष है ॥७-११॥

अब संक्षेपसे वर्णित विभूतिको विस्तारके साथ सुननेके लिये अर्जुन प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ! ।
न हि ते भगवन् ! व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ! ।
भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते ! ॥१५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्यतिष्ठसि ॥१६॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ! ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

अन्वय—भवान् (तुम) परं ब्रह्म (परमात्मा) परं धाम (परम आश्रय स्थान) परमं पवित्रं (परम पवित्र हो) । सर्वे ऋषयः (समस्त ऋषि) देवर्षिः नारदः (देवर्षि नारद) तथा असितः देवलः व्यासः (और असित, देवल तथा वेदव्यास महर्षि) त्वां (तुम्हें) दिव्यं शाश्वतं पुरुषं (दीप्तिमान् नित्यपुरुष) आदिदेवं अजं विभुं आहुः (जन्मरहित सर्वव्यापी आदिपुरुष कहते हैं) स्वयं च एव मे ब्रवीषि (तुम स्वयं भी मुझे यही कहते हो)। हे केशव ! (हे कृष्ण !) मां यत् वदसि (मुझे जो कुछ कहते हो) एतत् सर्वं ऋतं मन्ये (सब मैं सत्य मानता हूँ), हे भगवन् ! (हे कृष्ण !) ते व्यक्तिं (तुम्हारे आविर्भाव के तत्त्वको) न हि देवाः न दानवाः

विदुः (न देव और न दानव कोई भी जानते हैं)। हे पुरुषोत्तम! (हे सर्वोत्तम परम पुरुष!) हे भूतभावन! भूतेश! देवदेव! जगत्पते! (हे भूतस्रष्टा, भूतनियन्ता, देवताओंके भी देवता तथा विश्वपालक भगवन्!) त्वं स्वयं एव आत्मना आत्मानं वेत्थ (तुम स्वयं अपनेसे ही अपनेको जानते हो)। याभिः विभूतिभिः (जिन विभूतियोंके द्वारा) त्वं इमान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि (तुम समस्त विश्वको व्याप्त कर रहते हो) दिव्याः हि आत्म-विभूतयः अशेषेण वक्तुं अर्हसि (उन दिव्य विभूतियोंको कृपा कर मुझे विस्तारसे बताओ)। हे योगिन्! (हे योगैश्वर्यशालिन् भगवन्!) सदा परिचिन्तयन् (सदा तुम्हारी चिन्ता करके) कथं अहं त्वां विद्याम् (कैसे मैं तुम्हें जान सकूंगा?), हे भगवन्! (हे भगवन्!) मया केषु केषु भावेषु च (मेरे द्वारा किन किन भावोंमें) चिन्त्यः असि (तुम चिन्ता करने योग्य हो)? हे जना-र्दन! (हे कृष्ण!) आत्मनः योगं विभूतिं च (अपने योगैश्वर्य तथा विभूतिको) विस्तरेण भूयः कथय (विस्तारके साथ पुनः कहो) हि (क्योंकि) अमृतं शृण्वतः मे (तुम्हारे मुखनिःसृत अमृतरूपी वाक्योंको सुन कर मेरी) तृप्तिः न अस्ति (तृप्ति नहीं होती है)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा-तुम परम ब्रह्म, परम आश्रयस्थान और परम पवित्र हो। क्योंकि भृगु आदि महर्षि, देवर्षि नारद तथा असित, देवल और व्यासदेव तुम्हें दिव्य, आदिदेव, अज, विभु, शाश्वत पुरुष कहते हैं। और तुम स्वयं भी ऐसा ही कहते

हो। हे केशव! तुम्हारी सब बातें मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! देव दानव कोई भी तुम्हारे आविर्भावरहस्यको नहीं जान पाते हैं। हे पुरुषोत्तम, भूतभावन, भूतेश, देवदेव, जगत्पते! तुम स्वयं हो अपनेसे अपनेको जानते हो। इसलिये तुम ही कृपा करके मुझे अपनी उन दिव्यविभूतियोंको बताओ जिनके द्वारा अनन्त विश्वको व्याप्त कर तुम रहते हो। हे योगिन्! हे भगवन्! यह भी बताओ कि सदा तुम्हारी चिन्ता करके किस तरह मैं तुम्हें पा सकता हूँ तथा किन किन भावोंमें तुम्हारी चिन्ता मुझे करनी चाहिये। हे जनार्दन! विस्तारके साथ अपनी विभूति तथा योगैश्वर्यके विषयमें पुनः मुझे बताओ, क्योंकि तुम्हारी अमृतमयी वाणीसे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है।

चन्द्रिका——परमात्माकी विभूतियोंके विषयमें संक्षेपसे सुन कर अत्यन्त उत्कण्ठा तथा सुननेकी लालसा होनेके कारण अर्जुनने कई एक सम्बोधन द्वारा श्रीभगवान्से इन श्लोकोंमें प्रार्थना की है। श्रीभगवान् सबके आदि कारण हैं, इस लिये उनकी पूरी महिमाको देव, दानव, ऋषि, महर्षि कोई भी नहीं जान सकते, वे स्वयं ही अपनी महिमासे अपनेको जानते हैं। वे भूतभावन, भूतेश, देवदेव तथा जगत्पति हैं, इस कारण 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। इनकी सारी विभूतियां तथा किन किन भावोंमें किस तरहसे चिन्ता करने पर इनकी अनुभूति हो सकती है, यही सब श्रीकृष्णकी अमृतमयी वाणी द्वारा अर्जुन जानना चाहते हैं॥१२-१८॥

अब अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार विभूति बताना प्रारम्भ करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ ! नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

अन्वय—हन्त कुरुश्रेष्ठ ! (अच्छा, हे अर्जुन !) दिव्या हि आत्मविभूतयः ते प्राधान्यतः कथयिष्यामि (अपनी विभूतियोंमें-से प्रधान प्रधान दिव्य विभुतियां तुम्हें बताऊंगा) मे विस्तरस्य अन्तः नास्ति (क्योंकि मेरी विस्तृत विभूतियोंका अन्त नहीं है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन ! अच्छा अब तुम्हारी प्रार्थनाके अनुसार मैं अपनी मुख्य २ दिव्य विभुतियोंका वर्णन करता हूँ, क्योंकि मेरी विस्तृत विभूतियोंका अन्त नहीं है।

चन्द्रिका—'हन्त' शब्द स्वीकृति सूचक सम्बोधन है । जिसमें भगवत्शक्तिका विशेष विकाश है उसीको यहां पर 'विभूति' कहा गया है । यह सभी शक्ति परमात्माकी है अतः यह विभूतियां दिव्य कहलाती हैं । परमात्मा अनन्तशक्तिमान् हैं, इस कारण उनकी विभूतियां भी अनन्त हैं । इस कारण अर्जुनको मुख्य मुख्य विभूतियां ही बताई जाती हैं ॥१९॥

अब अध्याय समाप्ति पर्यन्त अपनी विभूतियां ही कहते जायेंगे—

अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ ! बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

अन्वय—हे गुडाकेश ! (हे अर्जुन !) सर्वभूताशयस्थितः आत्मा अहं (सकल जीवोंके हृदयमें स्थित प्रत्यगात्मा मैं हूँ) भूतानां आदिः च मध्यं च अन्तः च अहं एव (जीवोंकी उत्पत्ति स्थिति नाश निदान मैं ही हूँ) । अहं आदित्यानां विष्णुः (मैं द्वादश आदित्योंमें विष्णु नामक आदित्य) ज्योतिषां अंशुमान् रविः (प्रकाशकोंमें तीव्ररश्मियुक्त सूर्य) मरुतां मरीचिः (पवनों-में मरीचि नामक पवन) नक्षत्राणां अहं शशी अस्मि (और नक्षत्रोंमें मैं चन्द्र हूँ) । वेदानां सामवेदः अस्मि (चार वेदोंमें मैं सामवेद हूँ) देवानां वासवः अस्मि (देवताओंमें मैं इन्द्र हूँ) इन्द्रियाणां मनः च अस्मि (ग्यारह इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ) भूतानां चेतना अस्मि (प्राणियोंमें जो चेतनशक्ति है सो मैं हूँ) । अहं रुद्राणां शङ्करः च अस्मि (ग्यारह रुद्रोंमें मैं शङ्कर हूँ) यक्ष-रक्षसां वित्तेशः (यक्षराक्षसोंमें मैं कुबेर हूँ) वसूनां पावकः च अस्मि (अष्टवसुओंमें मैं अग्नि हूँ) शिखरिणां मेरुः (पर्वतोंमें

में मेरु पर्वत हूँ)। हे पार्थ! (हे अर्जुन!) मां पुरोधसां च मुख्यं बृहस्पतिं विद्धि (पुरोहितोंमें मुझे मुख्य देवपुरोहित बृहस्पति जानो) अहं सेनानीनां स्कन्दः (मैं सेनापतियोंमें देवसेनापति कार्तिकेय हूँ) सरसां सागरः अस्मि (जलाशयोंमें समुद्र हूँ)। अहं महर्षीणां भृगुः (मैं महर्षियोंमें अति तेजस्वी भृगु) गिरां एकं अक्षरं अस्मि (पदोंमें एक पद ओंकार हूँ) यज्ञानां जपयज्ञः (यज्ञोंमें जप यज्ञ) स्थावराणां हिमालयः अस्मि (स्थिर पदार्थोंमें हिमालय हूँ)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! सकल जीवोंके अन्तःकरणमें स्थित प्रत्यगात्मा मैं हूँ और निखिल प्राणियोंका सृष्टिस्थितिप्रलय कारण मैं ही हूँ। मैं आदित्योंमें विष्णु, ज्योतिष्कोंमें सूर्य, मरुद्-गणमें मरीचि, नक्षत्रोंमें चन्द्र, वेदोंमें सामवेद, देवताओंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन, प्राणियोंमें चेतनशक्ति, रुद्रोंमें शङ्कर, यक्षरक्षोंमें कुवेर, वसुओंमें अग्नि, पर्वतोंमें मेरुपर्वत, पुरोहितोंमें मुख्य देव-पुरोहित बृहस्पति, सेनापतियोंमें देवसेनापति कार्त्तिकेय, जला-शयोंमें समुद्र, महर्षियोंमें भृगु, शब्दोंमें ओंकार, यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर पदार्थोंमें हिमालय हूँ।

चन्द्रिका—अर्जुन 'गुडाकेश' अर्थात् आलस्य निद्रादिके वशमें नहीं है, इस लिये परमात्माकी सूक्ष्म स्थूल आदि सकल विभूतियोंके ही चिन्तन मनन करनेका अधिकारी है। इसी कारण प्रथमतः श्रीभगवान्ने 'प्रत्यगात्मा' रूपी अपनी सूक्ष्म विभूतिका वर्णन किया और तत्पश्चात् अन्यान्य दिव्य विभूतियोंका वर्णन प्रारम्भ कर दिया। पहिले ही कहा गया है कि सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक भगवान्की विशेष शक्ति जिस

केन्द्र द्वारा प्रकट होता है उसको ही 'विभूति' कहते हैं । इसी सिद्धान्तके अनुसार सूर्य चन्द्र आदि विभूतियोंका विज्ञान समझने योग्य है । विभूति उपासनामयी होती है, गान, जप इत्यादि उपासनाके मुख्य अङ्ग हैं, इस लिये गानात्मक सामवेदको वेदोंमें विभूति और हिंसादिदोषशून्य जपयज्ञको यज्ञोंमें विभूति कही गई है । स्थूल सूक्ष्म अनेक लोकोंके मध्यमें देवलोक तक मरुपर्वत विस्तृत है, इस कारण उच्चशिखरधारी पर्वतोंमें मेरु ही विभूति है । ओंकार ही आदि शब्द है और इसी आदि नादसे सकल शब्दोंकी उत्पत्ति हुई है, इस कारण शब्दोंमें प्रणव ही विभूति कहने योग्य है । इसी प्रकारसे अन्यान्य विभूतियोंके भी रहस्य समझने चाहिये । इन सभी विभूतियोंका चिन्तन मनन भगवद्भावसे करने पर उपासक योगी अवश्य ही भगवान्‌की ओर अग्रसर हो सकता है ॥ २०–२५॥

पुनरपि विभूतियोंका वर्णन कर रहे हैं—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन ! ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अन्वय—सर्ववृक्षाणां अश्वत्थः (मैं सकल वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष) देवर्षीणां च नारदः (देवर्षियोंमें नारद) गन्धर्वाणां चित्ररथः (गन्धर्वोंमें चित्ररथ नामक गन्धर्व) सिद्धानां कपिलः मुनिः (सिद्ध महात्माओंमें कपिल मुनि हूँ) । अश्वानां अमृतोद्भवं उच्चैःश्रवसं (घोड़ोंमें अमृतके लिये मथित समुद्रसे निकला हुआ उच्चैःश्रवा अश्व) गजेन्द्राणां ऐरावतं (हस्तियोंमें ऐरावत) नराणां नराधिपं च (और मनुष्योंमें राजा) मां विद्धि (मुझे जानो) । आयुधानां अहं वज्रं (मैं अस्त्रोंमें वज्र) धेनूनां कामधुक् अस्मि (गौओंमें वशिष्ठकी कामधेनु हूँ) प्रजनः कन्दर्पः च अस्मि (उत्पत्ति करनेवाला काम हूँ), सर्पाणां वासुकिः अस्मि (सर्पोंमें वासुकि हूं) । अहं नागानां अनन्तः अस्मि (नाग नामक सर्पके जातिभेदोंमें शेषनाग हूं) यादसां वरुणः (जलचरोंमें उनका राजा वरुण हूं) अहं पितॄणां अर्यमा च अस्मि (पितरोंमें पितृराज अर्यमा मैं हूं) संयमतां यमः (धर्माधर्मके अनुसार फलदेनेवालोंमें मैं यम हूं) । अहं दैत्यानां च प्रह्लादः अस्मि (मैं दितिके वंशजोंमें परमभक्त प्रह्लाद हूं) कलयतां कालः (गिननेवाले पदार्थोंमें काल हूं) अहं मृगाणां च मृगेन्द्रः (पशुओंमें पशुराज सिंह मैं हूं) पक्षिणां च वैनतेयः (और पक्षियोंमें पक्षिराज गरुड़ मैं हूं) ।

अहं पवतां पवनः अस्मि (मैं वेगवान् वस्तुओंमें वायु हूं) शस्त्रभृतां रामः (शस्त्रधारियोंमें मैं परमवीर राम हूं) झषाणां मकरः च अस्मि (मछलियोंमें मैं मकर हूं) स्रोतसां जाह्नवी अस्मि (वेगवती नदियोंमें पवित्रतोया गङ्गा मैं हूँ)। हे अर्जुन! (हे अर्जुन!) सर्गाणां आदिः अन्तः च मध्यं च अहं एव (सृष्टिका आदि अन्त मध्य अर्थात् उत्पत्तिस्थितिप्रलय मैं ही हूं) विद्यानां अध्यात्मविद्या (विद्याओंमें मुक्तिदायिनी आत्मविद्या मैं हूं) प्रवदतां अहं वादः (वादजल्पवितण्डाकारियोंमें मैं वाद हूं)।

सरलार्थ—मैं सकलवृक्षोंमें अश्वत्थ, देवता होकर मन्त्रदर्शन द्वारा ऋषित्व लाभ करनेवाले देवर्षियोंमें नारद, दिव्यगायक गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धपुरुषोंमें कपिल मुनि हूं। अश्वोंमें मुझे अमृतार्थ समुद्रमन्थन द्वारा निर्गत उच्चैःश्रवा अश्व, गजेन्द्रोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें नरपति जानो। मैं अस्त्रोंमें वज्र, गौओंमें कामधेनु, उत्पत्तिकारी काम और सर्पोंमें वासुकि हूं। मैं नागनामक सर्पकी जातिमें शेषनाग, जलचरोंमें उनका राजा वरुण, पितरोंमें उनका राजा अर्यमा और धर्माधर्मके नियन्ताओंमें यमराज हूं। मैं दैत्योंमें परम सात्त्विक प्रह्लाद, गणनाकारियोंमें काल, पशुओंमें पशुराज सिंह और पक्षियोंमें पक्षिराज गरुड़ हूं। मैं वेगवान् वस्तुओंमें वायु, शस्त्रधारियोंमें परमवीर रामचन्द्र, मत्स्योंमें मकर और वेगवती नदियोंमें परमपवित्र गङ्गा हूँ। हे अर्जुन! निखिल सृष्टियोंका आदि मध्य अन्त मैं ही हूं, विद्याओंमें मोक्षदायिनी ब्रह्मविद्या मैं हूं, और वादजल्पवितण्डावालोंमें वाद मैं ही हूँ।

चन्द्रिका—इन वर्णनोंमें भी वही भाव है जैसा कि पहिले बताया गया है । वृक्षोंमें ब्राह्मण जातीय वृक्ष पीपल है, उसके सूक्ष्माग्र पत्रोंके द्वारा रातदिन विद्युत्शक्तिका आकर्षण होता है, इस कारण पीपल वृक्षको सींचने से, प्रातःकाल उसके तले बैठनेसे तथा उसके स्पर्श और आवर्त्तनसे विशेष शक्तिकी प्राप्ति होती है । उसकी कोमल कलियोंमें सर्पविषनाशकी भी शक्ति है । इत्यादि अनेक शक्तियोंका आधार होनेसे वृक्षोंमें अश्वत्थ वृक्ष भगवद्‌विभूति है । योगदर्शनमें "जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः" अर्थात् जन्म ही से औषधिके द्वारा, मन्त्र, तपस्या तथा समाधिके द्वारा सिद्धि मिलती है यह सूत्र है । उनमेंसे कपिलमुनि जन्मसिद्ध होनेके कारण विभूति हैं । श्रीभगवान् 'काम' होने पर भी केवल प्रजासृष्टिके लिये प्रयुक्त काम हैं, विषयसेवाके लिये प्रयुक्त काम नहीं हैं । यही 'प्रजनश्चास्मि' शब्दका तात्पर्य है । 'सर्प' साधारण शब्द है और 'नाग' उसका जाति विशेष है । न्यायशास्त्रमें 'वाद—जल्प—वितण्डा' ये तीन प्रकारके तर्क बताये गये हैं । केवल सिद्धान्तनिर्णयके लिये जो तर्क है उसको 'वाद' कहते हैं । परपक्षदलन करके स्वपक्षस्थापनका नाम 'जल्प' है । और स्वपक्षस्थापनकी भी परवाह न करके केवल परपक्षदलनार्थ तर्कको 'वितण्डा' कहते हैं । इनमेंसे वादमें सिद्धान्तनिर्णयलक्ष्य रहनेके कारण वह भगवान्‌की विभूति है । ऐसा ही अन्यत्र भी भाव समझ लेना उचित है ॥२६-३२॥

पुनरपि विभूतियां बता रहे हैं—

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधाधृतिः क्षमा ॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशनाः कविः ॥३७॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन!।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

अन्वय—अक्षराणां अकारः अस्मि (अक्षरोंमें मैं प्रथमवर्ण अकार हूं) सामासिकस्य च द्वन्द्वः (समासोंमें मैं द्वन्द्वसमास हूं) अहं एव अक्षयः कालः (नाशरहित काल मैं ही हूं) अहं विश्वतोमुखः धाता (मैं कर्मफलदाता सर्वतोमुख ईश्वर हूं)। अहं सर्वहरः मृत्युः भविष्यतां च उद्भवः च (मैं प्राणहरणकारी मृत्यु और आगे होनेवालोंका अभ्युदयरूप हूं) नारीणां कीर्त्तिः श्रीः वाक् स्मृतिः मेधा धृतिः क्षमा च (स्त्रियोंमें कीर्ति श्री वाणी स्मृति मेधा धृति तथा क्षमारूपिणी दिव्य स्त्रियां मैं हूं)। अहं साम्नां बृहत् साम (मैं साम मन्त्रोंमें मोक्षदाता बृहत्साम नामक मन्त्र हूं) छन्दसां गायत्री (छन्द विशिष्ट मन्त्रोंमें मैं गायत्री मन्त्र हूं)

अहं मासानां मार्गशीर्षः (बारह महीनोंमें मैं अगहन महीना हूं) ऋतूनां कुसुमाकरः (ऋतुओंमें मैं वसन्त ऋतु हूं)। अहं छलयतां द्यूतं तेजस्विनां तेजः अस्मि (छलियोंमें मैं द्यूत और तेजस्वियों-में तेज हूं) अहं जयः अस्मि व्यवसायः अस्मि सत्त्ववतां सत्त्वम् (मैं जयीकी जय, निश्चयीका निश्चय और सात्त्विकका सत्त्व गुण हूं)। वृष्णीनां वासुदेवः अस्मि (यादवोंमें वसुदेवनन्दन तुम्हारा सखा मैं ही हूं) पाण्डवानां धनञ्जयः (पाण्डवोंमें मेरे सखा अर्जुन तुम ही हो) अहं मुनीनां व्यासः अपि (मनन करने वालोंमें वेदके तत्त्वों पर मनन करनेवाले वेदव्यास भी मैं हूं) कवीनां उशनाः कविः (कवियोंमें देवकवि शुक्राचार्य मैं हूं)। अहं दमयतां दण्डः अस्मि (मैं दमन करनेवालोंमें दण्ड हूं) जिगीषतां नीतिः अस्मि (जयेच्छा रखनेवालोंकी साम दाम आदि नीति हूँ) गुह्यानां मौनं एव ज्ञानवतां ज्ञानं च अस्मि (गोपनीयोंमें मौन और ज्ञानियोंमें ज्ञान हूँ)। हे अर्जुन ! यत् च अपि सर्वभूतानां बीजं तत् अहं (हे अर्जुन ! समस्त जीवोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धिका मूलभूत जो कुछ है सो मैं ही हूँ) मया विना यत् स्यात् तत् चराचर भूतं न अस्ति (मुझे छोड़ कर हो सके ऐसा चराचर कोई वस्तु नहीं है)।

सरलार्थ—मैं अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्वसमास हूं, नाशरहित काल तथा कर्मफलदाता सर्वतोमुख विधाता मैं ही हूं। मैं नाशमें नाशकारी मृत्यु और वृद्धिमें अभ्युदयरूप हूँ, स्त्रियोंमें उनकी विभूतिरूपिणी कीर्ति श्री वाणी स्मृति मेधा धृति और क्षमा मेरी ही दिव्यशक्तियां हैं। मैं साममें बृहत्साम,

छन्दोंमें गायत्री, मासोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त हूँ। मैं छलियोंमें द्यूत, तेजस्वियोंमें तेज, जयीमें जय, निश्चयीमें निश्चय और सात्त्विकमें सत्त्वगुण हूँ। मैं यादवोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें अर्जुन मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य हूँ। दमनकारियोंका दण्ड, जयेच्छुओंकी नीति, गोपनीयोंमें मौन और ज्ञानियोंका ज्ञान मैं हूं। हे अर्जुन! सकल जीवोंका जो कुछ बीज है सो मैं ही हूं, ऐसा कोई चराचर पदार्थ नहीं है जो मेरे विना हो सकता है।

चंद्रिका—पहिलेकी तरह इन वर्णनोंमें भी विभूति ही दिखाई गई है। वेदमें लिखा है—'अकारो वै सर्वा वाक्' अर्थात् सकल वर्णोंका मूल अकार ही है, यही अकार कण्ठ तालु आदिके द्वारा व्यक्त होकर अनेकवर्ण बन जाता है, इसी कारण वर्णोंकी विभूति अकार है। समासमें दोनों पदोंका मेल होता है, किन्तु वास्तवमें मेल वही है जिसमें दोनोंकी प्रधानता भी रहे और मेल भी हो जाय, अन्यथा एककी अप्रधानता रहने पर या एकके दूसरेमें लय हो जाने पर सच्चा मेल नहीं कहलाता है। अव्ययीभाव समासमें परपदार्थकी अप्रधानता, तत्पुरुष समासमें पूर्वपदार्थकी अप्रधानता और बहुव्रीहि समासमें दोनों पदार्थोंकी अप्रधानता रहती है। केवल द्वन्द्व समासमें ही दोनोंकी प्रधानता रहती है, इस लिये द्वन्द्वसमास समासोंमें विभूति रूप है। कालके अन्तर्गत वर्षमास आदिके परिणामशील होनेपर भी प्रवाहरूपसे समष्टि काल अक्षय है, इस लिये वह भगवान्‌की विभूति है। ईश्वरका मुख सर्वत्र व्याप्त है इस लिये वे सबके कर्मोंको देखते हैं और कर्मानुसार फल भी देते हैं, यही उनकी धातारूपी विभूति है। कुललक्ष्मी धार्मिक सती स्त्रियोंमें कीर्ति, धृति आदि धर्मविभूतियां हैं, इस

लिये पौराणिक वर्णनोंमें इन्हें धर्मपत्नी प्रजापति दक्षकी कन्याएं दिव्य स्त्रियां कही गई हैं। साममन्त्रोंमें 'त्वां इन्द्रो हवामहे' इत्यादि बृहत्साम कहलाते हैं। इनके द्वारा सर्वेश्वररूपसे इन्द्रकी स्तुति होनेके कारण ये मोक्षके देनेवाले हैं। यही इनका विभूतित्व है। गायत्री मन्त्रकी शक्तिसे द्विजको द्विजत्वलाभ होता है, गायत्री वेदजननी तथा वेदोंका सार मन्त्र है, इसमें ज्योतिर्मय, जगत्कर्त्ता, बुद्धिके प्रेरक परमात्माका ध्यान बताया गया है, अतः यह अवश्य ही विभूति है। अनेक व्याधिभयसे युक्त चातुर्मास्यके बाद रोगशून्य, स्वास्थ्ययुक्त, धनधान्यपूर्ण, शीत या ग्रीष्मके कष्टसे शून्य, मेघशून्य, चन्द्रकलाकी शोभासे युक्त अग्रहायण महीना बड़ा ही उत्तम होता है। इस लिये यह विभूति है। छली या वञ्चकका काम दूसरेको ठग कर उसका सर्वस्वहरण करना है। द्यूत या अक्षक्रीड़ा (जूयेका खेल) द्वारा सर्वस्वनाश होता है। जैसा कि युधिष्ठिरका हुआ था, इस लिये छलीकी यह विभूति है। जो आत्मशक्ति जीवको नीचे गिरनेसे बचाती है और क्रमशः आत्माकी ओर ले जाती है उसको 'तेज' कहते हैं। अतः तेजस्वीमें तेजकी विभूति भगवान्‌की है। श्रीकृष्ण पूर्णावतार होने पर भी यादवकुलके वर्णनमें विभूतिरूपसे बताये गये हैं और ऐसे ही पाण्डवोंमें विभूति अर्जुन है। बिना युद्ध नीतिके विशेष प्रयोग किये जयलाभ नहीं हो सकता है, इस लिये नीति ही जय चाहनेवालेकी विभूति है। चुप साधनेकी अपेक्षा और अधिक गोपनीय भाव क्या हो सकता है, इस लिये मौन ही इसकी विभूति है। 'बीज' से उत्पत्ति और उसके बलसे वृद्धि भी होती है। श्रीभगवान्‌की व्यापक सत्ताके बिना न सृष्टिकी उत्पत्ति ही हो सकती है और न वृद्धि ही हो सकती है। इस कारण सकल सृष्टिके बीज भगवान् ही कहे जाते हैं। इस प्रकारसे भगवद्विभूतिके रहस्य समझने योग्य हैं ॥३३-३९॥

प्रधान प्रधान विभूतियोंका वर्णन करके अब इस प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ! ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥
यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ! ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ।

अन्वय—हे परन्तप ! (हे अर्जुन !) मम दिव्यानां विभूतीनां अन्तः न अस्ति (मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है), एषः तु विभूतेः विस्तरः (विभूतिका यह विस्तार) मया उद्देशतः प्रोक्तः (मैंने संक्षेपसे केवल दिग्दर्शनके लिये बतलाया है)। विभूतिमत् (किसी विभूति या चमत्कारसे युक्त) श्रीमत् (सम्पदा-से युक्त) ऊर्जितं एव वा (अथवा प्रभाव या बलसे युक्त) यत् यत् सत्त्वं (जो जो वस्तु है) त्वं (तुम) तत् तत् (उन सबको) मम तेजोंऽशसम्भवं एव अवगच्छ (मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न समझो)। अथवा हे अर्जुन ! (अथवा हे अर्जुन !) एतेन बहुना ज्ञातेन किं (तुम्हें अलग अलग इतनी विभूतियोंको जान कर क्या करना है ?) अहं (मैं) इदं कृत्स्नं जगत् (समस्त विश्वको) एकांशेन विष्टभ्य स्थितः (एक अंशके द्वारा व्याप्त करके अवस्थित हूँ)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। मैंने केवल दिग्दर्शनके लिये संक्षेपसे मुख्य मुख्य विभूतियां तुम्हें कही हैं। संसारमें जहां तुम्हें कुछ चमत्कारसे युक्त, ऐश्वर्य-से युक्त या प्रभावसे युक्त वस्तु दीख पड़े, समझो वह मेरे ही तेजके अंशसे प्रकट हुई है। अथवा हे अर्जुन ! पृथक् पृथक् इतनी विभूतियोंको जान कर क्या करोगे, तुम्हें सार तत्त्व एक ही शब्दमें कह दूं मैंने अपने एक ही पादसे निखिल विश्वको व्याप्त कर रक्खा है।

चन्द्रिका—उपसंहारमें श्रीभगवान्ने अर्जुनको यही बता दिया कि चमत्कार या विशेष शक्तिसे युक्त सभी उनकी विभूति है और अपने चार पादोंमेंसे एकही पादके द्वारा उन्होंने समस्त विश्वको व्याप्त तथा धारण कर रक्खा है। श्रुति भी कहती है—'सोऽयमात्मा चतुष्पात्, पादोऽस्य विश्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि'। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय परमात्माके ये चार पाद या भाव हैं, उनमेंसे 'जाग्रत' पादके द्वारा समस्त विश्व व्याप्त है। इसी पादमें विश्वचराचरका लीला विलास है। अतः केवल विभूति ही क्यों किसी भी वस्तु में ब्रह्मभावना कर आराधना करने-से अवश्य ही ब्रह्म उपलब्ध होते हैं यही सारतत्त्व है ॥ ४०–४२ ॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'विभूति योग' नामक दसवां अध्याय समाप्त हुआ।

दशम अध्याय समाप्त।

एकादशोऽध्यायः ।

दशम अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको अपनी प्रधान प्रधान विभूतियां कही थीं और अन्तमें यह भी कह दिया था कि उनकी विभूतियोंके द्वारा ही समस्त विश्व व्याप्त है। इस पर भक्त अर्जुनके हृदयमें श्रीभगवान्‌के उस विभूतियुक्त ईश्वरीयरूप देखनेकी लालसा उत्पन्न हो गई और उन्होंने पूर्व उपदेशोंका अभिनन्दन करके श्रीभगवान्‌के विराट रूप देखनेकी इच्छा तथा प्रार्थना प्रकट की। श्रीभगवान्‌ने भी अर्जुनको दिव्यदृष्टि देकर अपना विराट रूप दिखाया है, जिससे अर्जुनकी समस्त शंका निरस्त होकर उनमें वर्णाश्रमानुकूल कर्त्तव्यबुद्धिका उदय हुआ है। यही इस अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है। गुरुजन तथा आत्मीय कुटुम्बोंको देख कर अर्जुनके हृदयमें यही अहंकारयुक्त मोह उत्पन्न हो गया था कि पूज्य गुरुजनोंको वे अपने हाथसे कैसे मारेंगे। इस पर प्रथमतः श्रीभगवान्‌ने उन्हें यही उपदेश दिया था कि "न आत्मा किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मर ही सकता है, जन्ममृत्यु आदि परिणाम शरीरका है, आत्माका नहीं इसलिये अर्जुनका इस प्रकार मोह तथा अहंकार करना कि वे ही उन्हें मारेंगे, ठीक नहीं है।" अब इस एकादश अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने विराटरूप दिखा कर स्पष्ट प्रमाणित कर दिया कि 'भीष्मद्रोण दुर्योधन' आदि कालवश तथा कर्मवश स्वयं ही मरे पड़े हैं, कालरूपी भगवान्‌ने पहिलेसेही उनका नाश कर रक्खा है। अर्जुनको इस धर्मयुद्धमें केवल 'निमित्त-

मात्र' ही बनना है। इस प्रकार प्रत्यक्ष देख लेने पर अर्जुनकी समस्त शंकाएं आमूल नष्ट हो गईं, उनका मोह तथा अहंकार 'बालूके बांध' की तरह एकदम बह गया और अर्जुन अपने श्रेष्ठ कर्त्तव्यको हृदयङ्गम करके धर्मयुद्धके लिये कटिबद्ध हो गये यही इस उत्तम अध्यायका उत्तम फल है। अब श्रीभगवान्के मधुर सारगर्भित उपदेशोंकी स्तुति करते हुए अर्जुन उनसे अपनी पवित्र कामना बता रहे हैं—

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष! माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥
एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर!।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम! ॥३॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो!।
योगेश्वर! ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

अन्वय—मदनुग्रहाय (मेरे ऊपर कृपाकरनेके लिये) परमं गुह्यं (अति गोपनीय) अध्यात्मसंज्ञितं यत् वचः (आत्माके विषयमें जो कुछ बात) त्वया उक्तं (तुमने मुझसे कहा है) तेन मम अयं मोहः विगतः (उससे मेरा यह मोह जाता रहा)। हे कमलपत्राक्ष! (हे कमलदलसुन्दरनेत्र कृष्ण!) त्वत्तः (तुमसे) भूतानां हि भवाप्ययौ (जीवोंकी उत्पत्ति तथा प्रलयका तत्त्व)

मया विस्तरशः श्रुतौ (मैंने विस्तारसे सुना है) अव्ययं माहात्म्यं अपि च (तुम्हारी अक्षय महिमाको भी सुना है)। हे परमेश्वर! (हे भगवन्!) यथा त्वं आत्मानं आत्थ (जैसा तुमने अपने विषयमें कहा है) एतत् एवं (वह ऐसा ही है) हे पुरुषोत्तम! (हे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण!) ते ऐश्वरं रूपं द्रष्टुं इच्छामि (तुम्हारे विभूतियुक्त दिव्यरूपका दर्शन करना चाहता हूँ)। हे प्रभो! (हे स्वामिन्!) यदि तत् (यदि वह रूप) मया द्रष्टुं शक्यं (मैं देख सकता हूँ) इति मन्यसे (ऐसा तुम समझते हो) ततः हे योगेश्वर! (तब हे योगेश्वर!) त्वं मे अव्ययं आत्मानं दर्शय (तुम मुझे अपना अव्यय स्वरूप दिखा दो)।

सरलार्थ—अर्जुनने श्रीकृष्णभगवान्से कहा—मेरे ऊपर कृपा करनेके लिये आत्माके विषयमें तुमने जो कुछ अति गोपनीय बातें कही हैं उनसे मेरा मोह दूर हो गया। हे कमलनेत्र! जीवों-की उत्पत्ति तथा प्रलयके विषयमें मैंने तुमसे बहुत कुछ सुना है और तुम्हारी अक्षय महिमाके विषयमें भी सुना है। हे भगवन्! तुमने जो कुछ कहा है सब सत्य है, उसमें मुझे कुछ भी संशय या अविश्वास नहीं है। तथापि हे पुरुषोत्तम! मेरे चित्तमें यह कौतूहल उत्पन्न हुआ है कि मैं तुम्हारे उस दिव्य विभूतियुक्त रूपको देखूं। अतः हे योगेश्वर प्रभो! यदि तुम मुझे उस रूपके देखने लायक समझते हो तो मुझे वह अव्यय स्वरूप दिखा दो।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें आत्मानात्मविषयक श्रीभगवान्के पूर्व उपदेशोंकी स्तुति तथा विराटरूप देखनेके लिये अर्जुनकी ओरसे लालसा

प्रकट की गई है । आत्मा, प्रकृति, विभूति आदिके विषयमें अति गुह्य उपदेशोंको 'अध्यात्म' कहा गया है । 'कमलपत्राक्ष' यह सम्बोधन परम-प्रेमका सूचक है । अर्जुनको श्रीभगवान्‌की बातों पर कोई संशय नहीं था, केवल विराटरूप देखनेका कौतूहल था, इस लिये उन्होंने ऐसी इच्छा प्रकट की : 'पुरुषोत्तम' 'परमेश्वर' इन सम्बोधनोंके द्वारा श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनका ईश्वरभाव तथा अविश्वास होनेकी असम्भावना प्रकट होती है । अर्जुनको दिव्यदृष्टि देकर अपनी सब विभूति दिखा देना अलौकिक योग-शक्तिके विना नहीं हो सकता है । इस लिये अर्जुनने श्रीकृष्णको यहां पर 'योगेश्वर' अर्थात् अलौकिक-योगके ईश्वर करके सम्बोधन किया है ॥१-४॥

प्रार्थनाके अनुसार श्रीभगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ! ॥६॥
इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) मे दिव्यानि नानाविधानि (मेरे दिव्य अनेक प्रकारके) नानावर्णाकृतीनि च (तथा अनेक वर्ण और आकारके) शतशः अथ सहस्रशः रूपाणि पश्य (सैकड़ों

या हजारों रूपोंको देखो)। हे भारत! (हे अर्जुन!) आदित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ तथा मरुतः पश्य (बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, दो अश्विनीकुमार और उञ्चास मरुद्गण-इन देवताओंको देखो), बहूनि अदृष्टपूर्वाणि आश्चर्याणि पश्य (ये अनेक आश्चर्य देखो जो कि पहिले कभी नहीं देखे हो)। हे गुड़ाकेश! (हे अर्जुन!) इह मम देहे (मेरे इस शरीरमें) एकस्थं कृत्स्नं सचराचरं जगत् (एकत्रित समस्त चराचर जगत्को) अन्यत् च यद् द्रष्टुं इच्छसि (तथा और भी जो कुछ देखना चाहते हो) अद्य पश्य (आज देख लो)। अनेन स्वचक्षुषा एव तु मां द्रष्टुं न शक्यसे (किन्तु तुम अपने चर्मचक्षुके द्वारा मेरे इस रूपको देख नहीं सकते हो) ते दिव्यं चक्षुः ददामि (तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूं) मे ऐश्वरं योगं पश्य (मेरी अलौकिक योगसामर्थ्यको देखो)।

सरलार्थ--श्रीभगवान्ने कहा-हे अर्जुन! मेरे अनेक प्रकार, अनेक वर्ण तथा आकारके सैकड़ों और हजारों रूपोंको देखो। द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, एकादश रुद्र, दो अश्विनीकुमार और ऊनपञ्चाशत् मरुत्गणको देखो और अनेक आश्चर्यरूपोंको देखो जो कि तुम कभी पहिले नहीं देखे हो। हे गुड़ाकेश अर्जुन! मेरे शरीरमें एकत्र स्थित चराचर समस्त जगत्को तथा और जो कुछ देखना चाहते हो आज देख लो। किन्तु इन चर्मचक्षुओंसे तुम मुझे देख नहीं सकते हो, इस लिये तुम्हें मैं दिव्यदृष्टि देता हूं, मेरी अलौकिक योगसामर्थ्यको देखो।

चन्द्रिका—भक्त अर्जुनकी प्रार्थनाको श्रीभगवान्ने स्वीकार किया और उनके विराट रूप देखने के लिये अर्जुनको दिव्यदृष्टि दे दी। जिस अलौकिक दृष्टिके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार हो सकता है उसे दिव्यदृष्टि कहते हैं। देवताओंका रूप, श्रीभगवान्का अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-मय विराटरूप लौकिक चक्षुके द्वारा देखा नहीं जा सकता है। श्रीभगवान्‌का जो ईश्वरीय योग अर्थात् अघटन घटन सामर्थ्य है, जिसके द्वारा वे मायाकी सहायतासे अपने अद्वैत स्वरूपके ऊपर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी विलासकला दिखाते रहते हैं, यह भी विना दिव्यदृष्टिके देखा नहीं जा सकता है, इस लिये उन्होंने अर्जुनको दिव्यदृष्टि देकर अपने नाना वर्ण तथा नाना आकारसे सुशोभित अनन्तदेवतामय विराटरूप देखनेको कहा। वसु, रुद्र आदि प्रधान तेंतीस देवता लोकपाल कहलाते हैं। मरुद्गण भी देवता हैं। वे सभी अतीन्द्रिय होनेसे दिव्यदृष्टिगम्य होते हैं ॥५–८॥

इसके बाद क्या हुआ सो सञ्जय धृतराष्ट्रसे कह रहे हैं—

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्! महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अन्वय—हे राजन् ! (हे धृतराष्ट्र !) महायोगेश्वरः हरिः (परम योगेश्वर कृष्णने) एवं उक्त्वा (ऐसा कह कर) ततः (तदनंतर) पार्थाय परमं ऐश्वरं रूपं दर्शयामास (अर्जुनको अपना महान् विश्वरूप दिखा दिया)। अनेकवक्त्रनयनं (उसके अनेक मुख और नेत्र थे) अनेकाद्भुतदर्शनं (उसमें अनेक अद्भुत दृश्य देख पड़ते थे) अनेकदिव्याभरणं (उस पर अनेक दिव्य अलंकार थे) दिव्यानेकोद्यतायुधं (उसमें अनेक प्रकारके दिव्यास्त्र सज्जित थे), दिव्यमाल्याम्बरधरं (वह दिव्य माल्य और वस्त्र धारण किये हुए था) दिव्यगन्धानुलेपनं (उसके शरीरमें दिव्यगन्धका लेपन था) सर्वाश्चर्यमयं देवं अनन्तं विश्वतोमुखम् (ऐसे सकल आश्चर्योंसे पूर्ण दीप्तिमान् अन्तहीन सर्वतोमुख विश्वरूपको श्रीभगवान्ने दिखा दिया)। दिवि (आकाशमें) यदि सूर्यसहस्रस्य भाः (यदि सहस्र सूर्योंकी प्रभा) युगपत् उत्थिता भवेत् (एक साथ प्रकाशित होजाय) सा तस्य महात्मनः भासः सदृशी स्यात् (तो वह प्रभा उस विश्वरूपकी ज्योतिके सदृश कदाचित् हो सकती है)। तदा पाण्डवः (तब अर्जुनने) तत्र देवदेवस्य शरीरे (देवादिदेवके उस विराट देहमें) अनेकधा प्रविभक्तं कृत्स्नं जगत् (अनेक भागमें विभक्त समस्त विश्वको) एकस्थं अपश्यत् (एकत्र

स्थित देखा)। ततः सः धनञ्जयः (तब अर्जुन) विस्मयाविष्टः हृष्टरोमा (आश्चर्यमग्न तथा रोमाञ्चन युक्त शरीर होकर) देवं शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलिः अभाषत (विश्वरूपको मस्तक नवा कर प्रणाम करके हाथ जोड़ कहने लगे)।

सरलार्थ—सञ्जयने कहा—हे राजन्! ऐसा कह कर परम योगेश्वर हरिने अर्जुनको अपना महान् विराटरूप दिखाया। जिसमें अनेक मुख और नेत्र थे, तथा अनेक अद्भुत दृश्य देख पड़ते थे, जिस पर अनेक दिव्यालंकार, दिव्यास्त्र, दिव्य माल्य, दिव्य वस्त्र तथा दिव्य गन्धद्रव्य सुसज्जित थे और जो सकल आश्चर्योंसे पूर्ण दीप्तिमान्, अनन्त तथा सर्वत्रमुखविशिष्ट था। उस दिव्यरूपकी दीप्ति इतनी थी कि यदि हजार सूर्य एकदम आकाशमें उदित हो जांय तौभी उसके सदृश प्रभा विरल ही हो सकती है। तब अर्जुनने उस विराटपुरुषके देहमें अनेक प्रकारके विश्वको एकत्र ही देख लिया और आश्चर्यमें मग्न तथा पुलकित शरीर होकर शिरसे प्रणाम और हाथ जोड़ कर देवदेवसे कहना प्रारम्भ किया।

चन्द्रिका——इन श्लोकोंमें अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार श्रीहरिने जो विश्वरूप दिखाया था उसीके विषयमें वर्णन किया गया है। 'विश्वरूप-दर्शन' का यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि उन्होंने कोई बहुत लम्बा चौड़ा रूप धारण करके उसे दिखा दिया। परमात्माका अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय विराट देह है ही जिसमें तथा जिसके अन्तर्गत प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, वसु, इन्द्र, आदित्य आदि देवतागण रहते ही

हैं । किन्तु ये सब दैवजगत्‌के होनेसे स्थूलनेत्रके द्वारा दृष्टिगोचर नहीं हो सकते । इस लिये प्रथमतः दिव्यदृष्टि देकर श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको देव-असुर-गन्धर्वादिमय अपना विराट्‌देह दिखा दिया और उसीमें उनकी जो संहारमयी रुद्रशक्ति या कालशक्तिकी लीला है, जिस लीलाके वशवर्ती होकर समस्त जगत्‌के जीव रातदिन प्रलयके कराल कवलमें कवलित हो रहे हैं, उसी शक्तिको मूर्तिमती बना कर अपनी योगशक्तिके द्वारा दिखा दिया, जिससे अर्जुनको वस्तुस्थितिका पता लग जाय और "मैं कैसे मारूंगा" इत्यादि रूप अहंकार उसका टूट जाय । सहस्रसूर्यकी प्रभाको विश्वरूपकी प्रभाके सदृश बता कर विश्वरूपज्योतिको और भी उत्कृष्टतर बताया गया है । यही विश्वरूपदर्शनका तत्त्व है ॥९-१४॥

विश्वरूप देख कर अर्जुनकी उक्ति है—

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे-
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणश्च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

अन्वय—हे देव ! (हे विश्वरूप परमात्मन् !) तव देहे (तुम्हारे विराटशरीरमें) सर्वान् देवान् (समस्त देवताओंको) तथा भूतविशेषसङ्घान् (तथा नाना प्रकारके स्थावर जङ्गम भूत-समूहको) कमलासनस्थं ईशं ब्रह्माणं (पृथिवीरूपी कमलके मध्य-वर्ती मेरु कर्णिकासनमें स्थित प्रजापति ब्रह्माको) सर्वान् ऋषीन् च (और वशिष्ठादि समस्त ऋषियोंको) दिव्यान् उरगान् च (तथा वासुकि आदि दिव्य सर्पोंको) पश्यामि (मैं देख रहा हूँ)। हे विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! (हे जगदीश्वर विराटपुरुष !) अनेक-बाहूदरवक्त्रनेत्रं (सहस्र सहस्र हस्त, उदर, मुख तथा नेत्रोंसे युक्त) अनन्तरूपं त्वां सर्वतः पश्यामि (अनन्तरूपी तुम्हें मैं सर्वत्र देख रहा हूँ) तव पुनः न अन्त न मध्यं न आदिं पश्यामि (किन्तु तुम्हारा आदि अन्त मध्य मुझे कुछ भी नहीं दिखाई देता है)।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च (मुकुट, गदा तथा चक्र धारण किये हुए) सर्वतः दीप्तिमन्तं तेजोराशिं (सर्वत्र प्रकाशमान् तेजः पुञ्ज) दुर्निरीक्ष्यं (प्रखर ज्योतिके कारण कठिनतासे देखने योग्य) दीप्तानलार्कद्युतिं (दमकते हुए अनल तथा सूर्यकी तरह तेजसे युक्त) अप्रमेयं त्वां समन्तात् पश्यामि (अपरम्पार स्वरूप तुम्हें मैं सर्वत्र देख रहा हूँ)। त्वं अक्षरं परमं (तुम अविनाशी परब्रह्म हो) वेदितव्यं (तुम मुमुक्षुके द्वारा जानने योग्य हो) त्वं अस्य विश्वस्य परं निधानं (तुम इस विश्वका परम आश्रयस्थान हो) त्वं अव्ययः (तुम विनाशरहित नित्यवस्तु हो) शाश्वतधर्मगोप्ता (सनातनधर्मके रक्षक हो) त्वं सनातनः पुरुषः मे मतः (और चिरन्तन पुरुष हो यही मेरा अनुभव है)। अनादिमध्यान्तं (उत्पत्तिस्थितिप्रलयसे रहित) अनन्तवीर्यं (अनन्तप्रभावसे युक्त) अनन्तबाहुं (अनन्तभुजाधारी) शशिसूर्यनेत्रं (चन्द्रसूर्यरूपी नेत्र वाले) दीप्तहुताशवक्त्रं (ज्वलन्त अग्नि जैसे मुखवाले) स्वतेजसा इदं विश्वं तपन्तं त्वां पश्यामि (मानो अपने तेजके द्वारा समस्त विश्वको तपा रहे हो ऐसा मैं तुम्हें देख रहा हूँ)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे देव ! मैं तुम्हारे विराट शरीरमें समस्त देवता तथा स्थावरजङ्गम नानाप्रकारके जीवोंको, कमलासन पर स्थित प्रजापति ब्रह्माको, समस्त ऋषि तथा दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ। अनेक बाहु, उदर, मुख तथा नेत्र-धारी अनन्तरूपी तुम्हींको मैं चारों ओर देखता हूँ, किन्तु हे विश्वेश्वर विश्वरूप ! तुम्हारा न अन्त, न मध्य और न आदि मुझे दीख पड़ता है। मुकुट, गदा तथा चक्र धारण करनेवाले,

चारों ओर प्रभा फैलाये हुए तेजःपुञ्ज, दमकते हुए अग्नि और सूर्यके तुल्य देदीप्यमान्, आंखोंसे देखनेमें भी अशक्य, अपरंपार तुम्हीं मुझे सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहे हो। तुम अक्षर परब्रह्म हो, मुमुक्षुके द्वारा जानने योग्य विश्वके अन्तिम आश्रय हो, तुम अव्यय तथा सनातनधर्मके रक्षक और सनातनपुरुष हो यही मेरा अनुभव है । आदि-मध्य-अन्त-हीन, अनन्तप्रभाव, अनन्त-बाहु, चन्द्रसूर्यरूपी नेत्रधारी तथा प्रचण्ड अग्निसदृश मुखवाले तुम मानो अपने तेजसे समस्त विश्वको तपा रहे हो ऐसा ही मुझे दृष्टिगोचर हो रहा है ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें विराटमूर्त्तिका वर्णन किया गया है। परमात्मा अनन्त हैं इस लिये उनका विराटदेह भी अनन्त तथा उत्पत्ति-स्थितिनाशहीन है । मेरु पर्वत स्थूलसूक्ष्मलोकमय भूर्लोकके मध्यमें है, इस लिये पृथिवीरूपी कमलकी कर्णिका मेरु कहलाता है जिस आसन पर ब्रह्मा बैठते हैं । सृष्टिकर्त्ता होनेसे सृष्टिशक्तिको चारों ओर फैलानेके लिये मध्य केन्द्रमें उनका बैठना ही विज्ञानसिद्ध है। 'यह ऐसा है' इस प्रकार जिसके लिये कहा जा सकता है वह 'प्रमेय' है । परमात्माके लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता है, इस कारण परमात्मा अप्रमेय हैं । ऐसे ही अन्यान्य वर्णनोंको भी समझ लेना चाहिये ॥१५-१९॥

पुनरपि विराटपुरुषका स्वरूप वर्णन कर रहे हैं—

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥
रूपं महत्ते वहुवक्त्रनेत्रं
महावाहो ! वहुवाहूरुपादम् ।
वहूदरं वहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ! । २४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश ! जगन्निवास ! ॥२५॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥२७॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥२८॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ! ॥३०॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर ! प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

अन्वय—हे महात्मन् ! (हे महान् विराटपुरुष !) द्यावापृथिव्योः इदं अन्तरं एकेन हि त्वया व्याप्तं (आकाश और पृथिवीके बीचका यह अन्तरिक्ष अकेले तुम्हींने व्याप्त कर रक्खा है) सर्वाः दिशः च (तथा सभी दिशाओंको भी व्याप्त कर रक्खा है) तव अद्भुतं इदं उग्रं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं (तुम्हारे इस अद्भुत उग्ररूपको देख कर तीनों लोकके जीव भयभीत हो रहे हैं ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है)। अमीसुरसंघाः हि त्वां विशन्ति (मैं देख रहा हूं कि देवतागण तुम्हारी शरणमें जा रहे हैं) केचित् भीताः प्राञ्जलयः गृणन्ति (कोई कोई भयसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना कर रहे हैं) महर्षिसिद्धसंघाः स्वस्ति इति उक्त्वा पुष्कलाभिः स्तुतिभिः त्वां वीक्षन्ते (महर्षि तथा सिद्ध पुरुषगण स्वस्ति स्वस्ति कह कर विस्तृत स्तुति पाठ करते हुए तुम्हें देख रहे हैं) रुद्रादित्याः वसवः ये च साध्याः (रुद्र, आदित्य, वसु और साध्य नामक देवतागण) विश्वे अश्विनौ मरुतः च उष्मपाः च (विश्वेदेवा, दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्गण और पितृगण) गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः (गन्धर्व यक्ष असुर और सिद्धगण) सर्वे विस्मिताः च एव त्वां वीक्षन्ते (सबके सब आश्चर्य होकर तुम्हें देख रहे हैं)। हे महाबाहो ! (हे महाबाहो !) बहुवक्त्रनेत्रं (अनेक मुख तथा नेत्रसे युक्त) बहुबाहूरुपादं (अनेक भुजा, जङ्घा तथा पैरोंसे युक्त) बहूदरं (अनेक उदरोंसे युक्त) बहुदंष्ट्राकरालं (अनेक दांतोंके कारण भीषण) ते महत् रूपं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः, अहं तथा (तुम्हारे विशाल विकराल रूपको देख कर सब लोग भयसे व्याकुल हो गये हैं और मैं भी

भयभीत हो गया हूँ) । हे विष्णो ! (हे भगवन् !) नभःस्पृशं (गगनस्पर्शी) दीप्तं (प्रकाशमान्) अनेकवर्णं (अनेक रंगोंसे युक्त) व्यात्ताननं (फैलाये हुए मुख) दीप्त विशालनेत्रं (प्रज्वलित विशाल नेत्र) त्वां हि दृष्ट्वा (तुम्हें देख कर) प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं शमं च न विन्दामि (भयभीतचित्त मेरा धीरज जाता रहा और शान्ति भी जाती रही) । दंष्ट्राकरालानि कालानलसन्निभानि च ते मुखानि दृष्ट्वा एव (भीषण दांतोंके कारण विकराल तथा प्रलयकालीन अग्निके तुल्य भयंकर तुम्हारे मुखको देख कर) दिशः न जाने, शर्म च न लभे (मुझे दिशाएं नहीं सूझतीं और समाधान भी नहीं होता) हे देवेश ! जगन्निवास ! प्रसीद (हे देवादिदेव जगन्निवास ! प्रसन्न हो जाओ) अवनिपालसंघैः सह अमी च धृतराष्ट्रस्य सर्वे एव पुत्राः (समस्त राजाओंके साथ ये सब धृतराष्ट्रके पुत्रगण) तथा भीष्मः द्रोणः असौ सूतपुत्रः अस्मदीयैः अपि योधमुख्यैः सह (और भीष्मद्रोणकर्ण हमारे पक्षके भी मुख्य मुख्य योद्धाओंके साथ) त्वरमाणाः ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति (धड़ाधड़ तुम्हारे करालदन्तवाले विकराल भयानक मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं) केचित् चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः दशनान्तरेषु विलग्नाः दृश्यन्ते (और कोई कोई ऐसे दीख रहे हैं कि उनकी खोपड़ियां चूर चूर हैं और तुम्हारे दांतोंके बीचमें सटे हुए हैं) । यथा नदीनां बहवः अम्बुवेगाः समुद्रं एव अभिमुखाः द्रवन्ति (जिस प्रकार नदियोंके अनेक जलप्रवाह समुद्राभिमुख होकर समुद्रमें ही प्रवेश करते हैं) तथा अमी नरलोकवीरा अभितः ज्वलन्ति तव वक्त्राणि

विशन्ति (उसी प्रकार भीष्मद्रोणादि मनुष्यलोकके ये वीरगण सर्वतः प्रज्वलित तुम्हारे मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं)। यथा पतङ्गाः समृद्धवेगाः नाशाय प्रदीप्तं ज्वलनं विशन्ति (जलती आगमें मरनेके लिये बड़े वेगसे जिस प्रकार पतङ्ग कूदते हैं) तथा एव लोकाः समृद्धवेगाः तव अपि वक्त्राणि नाशाय विशन्ति (उसी प्रकार ये लोग भी मरनेके लिये अतिवेगसे तुम्हारे ही मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं)। हे विष्णो ! (हे व्यापक विराटपुरुष !) ज्वलद्भिः वदनैः समग्रान् लोकान् समन्तात् ग्रसमानः लेलिह्यसे (प्रज्वलित मुखोंसे समस्त लोगोंको चारों ओरसे ग्रास करके तुम जीभ चाट रहे हो) तव उग्राः भासः तेजोभिः समग्रं जगत् आपूर्य प्रतपन्ति (तुम्हारी उग्र प्रभाएं तेजसे समस्त विश्वको व्याप्त कर चमक रही हैं)। उग्ररूपः भवान् कः मे आख्याहि (उग्ररूपी तुम कौन हो मुझे बतलाओ) ते नमः अस्तु, हे देववर! प्रसीद (हे देवादिदेव ! तुम्हें नमस्कार करता हूँ, प्रसन्न हो जाओ) आद्यं भवन्तं विज्ञातुं इच्छामि (आदिपुरुष तुम्हें मैं जानना चाहता हूँ) हि तव प्रवृत्तिं न प्रजानामि (क्योंकि तुम्हारी चेष्टाओंको मैं नहीं जानता हूँ)।

सरलार्थ—हे महात्मन्! आकाश तथा पृथ्वीके बीचके सभी स्थान तथा दस दिशाओंको एकाकी तुम्हींने व्याप्त कर रक्खा है, तुम्हारे इस अद्भुत उग्ररूपको देख कर त्रिलोकके जीव भयभीत हो रहे हैं। यह देखो, देवतागण तुम्हारी शरणमें जा रहे हैं कोई कोई भयसे हाथ जोड़ प्रार्थना कर रहे हैं, महर्षिगण तथा सिद्धगण 'स्वस्ति' कह कर प्रचुर स्तुतिके साथ तुम्हारा दर्शन

कर रहे हैं। रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण सभी विस्मित होकर तुम्हारी ओर देख रहे हैं। हे महाबाहो ! अनेक मुख-नेत्र-भुजा-जङ्घा-पांव-उदरसे युक्त दन्तविकराल तुम्हारे विशालरूपको देखकर समस्त लोग तथा मैं भी भयभीत हो गया हूँ। हे विष्णो ! गगनस्पर्शी, प्रकाशमान्, विविधवर्ण, विवृतमुख, प्रज्वलितविशालनेत्र तुम्हें देख कर मेरी धृति तथा शान्ति सभी जाती रही। दन्तकराल, कालानलतुल्य तुम्हारे मुखोंको देख कर मुझे दिशाएं नहीं सूझतीं और समाधान भी नहीं होता, हे जगन्निवास ! देवादिदेव ! प्रसन्न हो जाओ। मैं देख रहा हूँ, राजाओंके साथ धृतराष्ट्रपुत्रगण, भीष्म द्रोण कर्ण तथा हमारे भी मुख्य मुख्य योद्धागण द्रुतवेगसे तुम्हारे विकरालमुखमें प्रवेश कर रहे हैं और कोई कोई चूर्ण मस्तकके साथ तुम्हारे दांतोंके बीचमें अटक रहे हैं। जिस प्रकार नदियोंके समस्त प्रवाह समुद्रकी ओर ही जा मिलते हैं, उसी प्रकार समस्त वीरगण प्रज्वलित तुम्हारे ही मुखमें प्रवेश कर रहे हैं। जिस प्रकार पतङ्गसमूह मरनेके लिये प्रदीप्त अग्निमें अतिवेगसे जा गिरते हैं, उसी प्रकार ये सब लोग भी नाशके लिये अति वेगसे तुम्हारे ही मुखमें प्रवेश कर रहे हैं। विष्णो ! प्रज्वलित मुखोंके द्वारा चारों ओरसे सबको ग्रास करके तुम जीभ चाट रहे हो, तुम्हारी उग्रप्रभा अपने तेजसे समस्त विश्वको आपूरित कर चमक रही है। उग्ररूप तुम कौन हो मुझे बताओ, हे देववर ! तुम्हें नमस्कार करता हूँ, प्रसन्न हो जाओ। आदि-

पुरुष तुम्हें मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि तुम्हारी चेष्टाओंका मुझे पता नहीं लग रहा है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें विराट्पुरुषके सर्वग्रासी कालरूपका वर्णन किया गया है। इसी रूपके देखनेसे ही अर्जुनको पता लग गया कि पाण्डवोंका विजय निश्चित है और भीष्म द्रोणादि सभीको कालके अनुसार ही मृत्युके ग्रासमें जाना है अतः वे किसीको मारेंगे, उनका ऐसा अहंकार करना वृथा है। महाभारतके उद्योगपर्वमें लिखा भी है—'कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन' सन्धिके लिये समस्त प्रस्तावके व्यर्थ हो जाने पर भीष्मदेवने भगवान् श्रीकृष्णसे यही कहा था कि ये सब क्षत्रिय कालपक्व हो गये हैं, इन्हें मरना ही है। यही दृश्य कालरूप धर कर भगवान्ने अर्जुनको दिखा दिया है। रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य इत्यादि सब वैदिक देवतागण हैं। 'विश्वेदेवा' देवताओंमें वैश्य जातिके होते हैं। इनकी नित्यतृप्तिसे गृहस्थके घरमें धनधान्य पूर्ण रहते हैं। इसी कारण बलिके साथ वैश्वदेव पूजा भी गृहस्थोंके नित्यकर्मके अन्तर्गत है। 'उष्णभागा हि पितरः' इस श्रुतिप्रमाणके अनुसार पितृगण श्राद्धमें उष्ण अन्न ग्रहण करते हैं। इस लिये पितृगण 'उष्णपा' कहलाते हैं। ऐसे ही अन्यान्य वर्णनोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये ॥२०–३१॥

अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार श्रीभगवान् अपना कालस्वरूप बता रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्! ॥३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युद्धयस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

अन्वय—लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः कालः अस्मि (मैं लोकक्षयकारी उत्कट काल हूं) लोकान् समाहर्त्तुं इह प्रवृत्तः (लोगोंके नाशके लिये यहां पर प्रवृत्त हूं) त्वां ऋते अपि (तुम्हारे कुछ न करने पर भी) प्रत्यनीकेषु ये योधाः अवस्थिताः (विपक्षियोंमें जो योद्धागण अवस्थित हैं) सर्वे न भविष्यन्ति (इनमेंसे कोई भी जीवित नहीं रहेंगे)। तस्मात् त्वं उत्तिष्ठ (इस लिये तुम उठो, युद्धके लिये प्रस्तुत हो जाओ) यशः लभस्व (विजयका यश प्राप्त करो) शत्रून् जित्वा समृद्धं राज्यं भुङ्क्ष्व (शत्रुजय करके निष्कण्टक राज्य भोग करो) मया एव एते पूर्वं एव निहताः (मैंने ही इन्हें पहिले ही मार रक्खा है) हे सव्यसाचिन्! (हे अर्जुन!) निमित्तमात्रं भव (तुम केवल निमित्त हो जाओ)। द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथा अन्यान् योधवीरान् अपि

मया हतान् त्वं जहि (द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्यान्य वीर योद्धाओंको मैंने पहिले ही मार रक्खा है, तुम केवल निमित्तरूपसे इन्हें मारो) मा व्यथिष्ठाः (शोक न करो) युध्यस्व (युद्ध करो) सपत्नान् रणे जेतासि (शत्रुओंको युद्धमें जीत लोगे)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—मैं लोकक्षयकारी उत्कट काल हूं और लोकनाशके लिये प्रवृत्त हुआ हूं, तुम्हारे कुछ न करने पर भी प्रतिपक्षके ये सभी योद्धागण नाशको प्राप्त होंगे। इस लिये तुम उठो, यश लाभ करो, शत्रुओंको जीत कर अकण्टक राज्यभोग करो, मैंने ही इन सबको पहिले ही मार रक्खा है। हे अर्जुन ! तुम केवल विजयलाभमें निमित्त बन जाओ। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्यान्य वीरोंको मैंने ही मार रक्खा है, तुम केवल निमित्त रूपसे इन्हें मार दो, घबड़ाओ नहीं, युद्ध करो, विपक्षियों पर अवश्य ही विजय लाभ करोगे।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें श्रीभगवान्ने अपना स्वरूप बताते हुए स्पष्ट ही कर दिया है कि ये सब क्षत्रिय कालपक्व हो गये हैं। कालने ही इन्हें अपने कर्मानुसार मार दिया है, अर्जुन केवल निमित्तमात्र हैं, इस लिये अर्जुनका अहंकार, मोह, शोक या गुरु-बन्धु-वधजन्य पापाशंका मिथ्या है। उन्हें कुछ करना नहीं पड़ता, अधिकन्तु धर्मयुद्धमें विजयी होनेको यश मिलता और निष्कण्टक राज्यभोग मिलता है, अतः श्रीभगवान्की आज्ञाके अनुसार अपना क्षात्रधर्म पालनही अर्जुनको उचित है ॥३२-३४॥

सञ्जय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्य भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अन्वय—केशवस्य एतत् वचनं श्रुत्वा (भगवान्‌की इस बातको सुन कर) वेपमानः किरीटी (अपूर्व दर्शन तथा श्रवणसे कम्पमान अर्जुन) कृताञ्जलिः (हाथ जोड़ कर) कृष्णं नमस्कृत्य (श्रीकृष्णको नमस्कार करके) भीतभीतः प्रणम्य (अत्यन्त भीत चित्तसे अवनत होकर) भूयः एव सगद्गदं आह (पुनरपि गद्गद वचनसे बोले)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌की इस बातको सुन कर अर्जुनका शरीर कांप उठा और कृताञ्जलि हो श्रीभगवान्‌को नमस्कार करके अत्यन्त भीत तथा अवनत होकर पुनरपि गद्गदकण्ठसे अर्जुन बोलने लगे।

चन्द्रिका—श्रीभगवान्‌का परमाश्चर्यमय कालरूप दर्शन तथा युद्धकी भावीके सूचक अपूर्व वचनोंको सुनकर अर्जुन कांप उठे। भय, विस्मय तथा भक्तिसे विह्वल हो जानेके कारण उनका कण्ठावरोध होने लगा। और इसी भावमें गद्गद होकर उन्होंने श्रीभगवान्‌की स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु सञ्जयके द्वारा कथित सत्य घटनाओंसे धृतराष्ट्रको अपने पक्षके पराजयके विषयमें पूर्णनिश्चयता हो जाने पर भी उन्होंने अब भी सन्धिका प्रस्ताव नहीं किया, इसमें भावी ही बलवान् है यही सत्यसिद्धान्त प्रकट होता है ॥३५॥

अर्जुन श्रीभगवान्की स्तुति कर रहे हैं—

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश ! तव प्रकीर्त्या
　　जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
　　सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् !
　　गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास !
　　त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
　　स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यश्च परं च धाम
　　त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
　　प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
　　पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
　　नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
　　सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

अन्वय—हे हृषीकेश ! (हे भगवन् !) तव प्रकीर्त्या (तुम्हारे महिमाकीर्तन द्वारा) जगत् प्रहृष्यति (जगद्वासिगण अति प्रसन्न होते हैं) अनुरज्यते च (तुम्हारे प्रति अनुरक्त भी होते हैं) रक्षांसि भीतानि (राक्षसगण भयभीत होकर) दिशः द्रवन्ति (दश दिशाओंमें भाग जाते हैं) सर्वे सिद्धसंघाः नमस्यन्ति च (और कपिलादि सिद्धमुनिगण तुम्हें प्रणाम करते हैं) स्थाने (यह उचित ही है)। हे महात्मन् ! अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! (हे परमोदार अन्तहीन सकलदेवताओंके नियन्ता सर्वाश्रय परमात्मन् !) ब्रह्मणः अपि गरीयसे आदिकर्त्रे च ते (ब्रह्मासे भी बड़े तथा ब्रह्माके भी जनक तुमको) कस्मात् न नमेरन् (सब लोग क्यों नहीं नमस्कार करेंगे) सत् असत् (व्यक्त अव्यक्त) परं यत् अक्षरं (व्यक्त अव्यक्तसे परे जो अक्षर ब्रह्म है) तत् त्वम् (वह तुम ही हो)। हे अनन्त रूप ! (हे असीम स्वरूप परमात्मन् !) त्वं आदिदेवः (सबके स्रष्टा होनेसे तुम सबके आदि हो) पुराणः पुरुषः (तुम चिरन्तन पुरुष हो) अस्य विश्वस्य त्वं परं निधानं (इस विश्वके तुम अन्तिम लयस्थान हो) वेत्ता वेद्यं परं धाम च असि (तुम जगत्के ज्ञाता, जगज्जनोंके द्वारा जानने योग्य तथा परम पदरूप हो) त्वया विश्वं ततम् (समस्त विश्वको तुम्हींने व्याप्त कर रक्खा है) त्वं वायुः यमः अग्निः वरुणः शशांकः प्रजापतिः प्रपितामहः च (तुम पवनदेवता यमदेवता अग्निदेवता वरुणदेवता चन्द्रदेवता ब्रह्मा और उनके भी पिता हो) ते सहस्रकृत्वः नमः अस्तु (तुम्हें सहस्रवार नमस्कार हो) पुनः च नमः (पुनरपि तुम्हें नमस्कार हो) भूयः अपि ते नमः नमः (बारम्बार तुम्हें

नमस्कार) हे सर्व ! (हे सर्वात्मन् विश्वरूप !) ते पुरस्तात् अथ पृष्ठतः नमः (तुम्हें सामनेसे तथा पीछेसे नमस्कार है) ते सर्वतः एव नमः अस्तु (सभी ओरसे तुम्हें नमस्कार है) हे अनन्तवीर्य ! (हे असीम पराक्रम परमात्मन् !) अमितविक्रमः त्वं सर्वं समाप्नोषि (अपने असीम पराक्रमसे तुमने सब कुछ व्याप्त कर रक्खा है) ततः सर्वः असि (इस लिये तुम सर्वस्वरूप कहलाते हो)।

सरलार्थ--अर्जुनने कहा—हे भगवन् ! यह उचित ही है कि तुम्हारे महिमाकीर्त्तन द्वारा जगद्वासी जीवगण प्रसन्न तथा तुममें अनुरक्त होते हैं, पापी राक्षसगण भयभीत होकर दस दिशाओंमें भाग जाते हैं और कपिलादि सिद्ध मुनिगण तुम्हें प्रणाम करते हैं। हे परमोदार, अन्तहीन, सकल देवताओंके नियन्ता, सर्वाश्रय परमात्मन् ! तुम ब्रह्मासे भी बड़े तथा उनके भी जनक हो, और व्यक्त, अव्यक्त तथा उससे भी परे अक्षर ब्रह्मरूप हो, इन नौ कारणोंसे लोग तुम्हें नमस्कार करते हैं, इसमें विचित्रता क्या है ? हे अनन्तरूप ! तुम आदिदेव, सनातन पुरुष, निखिल विश्वके लयस्थान जगत्के ज्ञाता, जगत्के ज्ञेय तथा परम वैष्णव पद हो, तुम्हींने समस्त विश्वको व्याप्त कर रक्खा है। इन सात कारणोंसे भी तुम सबके प्रणामके पात्र हो। तुम पवनदेवता, यमदेवता, अग्निदेवता, वरुणदेवता, चन्द्रदेवता, ब्रह्मा और उनके भी पिता ब्रह्मरूप हो, तुम्हें सहस्रवार नमस्कार है, पुनरपि नमस्कार है और बारम्बार नमस्कार है। हे विश्वरूप ! तुम्हें सामनेसे नमस्कार, पीछेसे

नमस्कार और सभी ओरसे नमस्कार है । हे अनन्तवीर्य ! तुम अपनी असीम शक्तिसे सब कुछ व्याप्त किये हुए हो, इस लिये सर्वस्वरूप कहलाते हो ।

चन्द्रिका—श्रीभगवान्‌की महिमा प्रत्यक्षदर्शनसे अर्जुनको जितनी मालूम होती जाती है, उतनी ही उनकी भक्ति श्रद्धा गङ्गाकी अविच्छिन्न धाराकी तरह प्रबल होती जाती है, जिसके प्रकट करनेके लिये यह सब अर्जुनकी स्तुति तथा पुनः पुनः गद्‌गदभावसे प्रणाम है ॥३६–४०॥

और भी स्तुति तथा प्रार्थना करते हैं —

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
　　हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
　　मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
　　विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत ! तत्समक्षं
　　तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य
　　त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
　　लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ! ॥४३॥
तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
　　प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव ! सोढुम् ॥४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव ! रूपं
प्रसीद देवेश ! जगन्निवास ! ॥४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो ! भव विश्वमूर्त्ते ॥४६॥

अन्वय—तव महिमानं इदं अजानता मया (तुम्हारे इस विश्वरूपको तथा महिमाको न जान कर मैंने) प्रमादात् प्रणयेन वा अपि (प्रमादसे अथवा प्रेमभावके कारण) सखा इति मत्वा (तुम्हें सखा समझ कर) हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सख ! इति प्रसभं यत् उक्तं (कृष्ण, यादव, सख आदि जो कुछ सम्बोधन मैंने हलकेपनके साथ किया है), हे अच्युत ! (हे भगवन् !) विहारशय्यासनभोजनेषु (आहार विहार सोने बैठनेमें) एकः अथवा तत् समक्षं (अकेला या अन्य मित्रोंके सामने) अवहासार्थं (हँसी दिल्लगीमें) यत् असत्कृतः असि (तुम्हारा जो निरादर मैंने किया है) अहं अप्रमेयं त्वां तत् क्षामये (अचिन्त्यप्रभाव तुमसे उसके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूँ) । हे अप्रतिमप्रभाव ! (हे अतुलप्रभाव परमात्मन् !) त्वं अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता

असि (तुम इस स्थावरजंगम विश्वके जनयिता हो) पूज्यः च गुरुः गरीयान् (और पूजनीय, गुरु तथा गुरुके भी गुरु हो), लोकत्रये अपि (तीनों लोकोंमें भी) त्वत्समः न अस्ति (तुम्हारे सदृश कोई नहीं है) अभ्यधिकः अन्यः कुतः (तुमसे बढ़ कर कोई कैसे हो सकेगा) ? हे देव ! (हे परमात्मन् !) तस्मात् अहं कायं प्रणिधाय प्रणम्य (इस लिये मैं शरीरसे विशेष अवनत होकर प्रणामपूर्वक) ईड्यं ईशं त्वां प्रसीदये (स्तुतिके योग्य सर्वनियन्ता तुम्हें प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ) पुत्रस्य पिता इव, सख्युः सखा इव, प्रियाय प्रियः सोढुं अर्हसि (जिस प्रकार पिता पुत्रका अपराध, सखा सखाका अपराध और प्रिय प्रियका अपराध क्षमा करते हैं ऐसे ही मेरे अपराधको भी क्षमा करो)। अदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा हृषितः अस्मि (तुम्हारे कभी न देखे रूपको देख कर मुझे हर्ष हुआ है) भयेन च मे मनः प्रव्यथितं (और भयसे मेरा मन व्याकुल भी हो गया है) हे देव ! (हे भगवन् !) तत् एव रूपं मे दर्शय (मुझे अपना मनोरम वही रूप दिखाओ) हे देवेश ! जगन्निवास ! प्रसीद (हे जगन्निवास देवाधिदेव ! प्रसन्न हो जाओ)। अहं तथा एव त्वां किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं द्रष्टुं इच्छामि (मैं पहिले जैसे ही किरीट गदाधारी हाथमें चक्र लिये हुए तुम्हें देखना चाहता हूँ) हे सहस्रबाहो ! विश्वमूर्त्ते ! (हे अनन्तबाहो विश्वरूप भगवन् !) तेन एव चतुर्भुजेन रूपेण भव (उसी शङ्ख चक्र गदा पद्मधारी चतुर्भुजरूपमें प्रकट हो जाओ)।

सरलार्थ—तुम्हारे विश्वरूप तथा महिमाको न जान कर सखा समझ मैंने प्रमादसे या मित्रभावसे कृष्ण, यादव, सख

आदि जो कुछ हलकेपनसे कहा है, और आहार विहार तथा सोने बैठनेमें एकाकी या अन्य मित्रोंके सामने उपहास रूपसे तुम्हारा जो कुछ निरादर किया है, हे अच्युत ! तुम अपने अचिन्तनीय प्रभावसे उन अपराधोंकी क्षमा प्रदान करो । हे अतुलप्रभाव परमात्मन् ! तुम इस चराचर विश्वके जनयिता, पूज्य, गुरु तथा गुरुसे भी अधिक हो, तीनों लोकमें तुम्हारे बराबर कोई नहीं है; फिर तुमसे बढ़ कर कौन होगा ? इसलिये हे देव ! मैं साष्टाङ्ग प्रणाम करता हुआ पूज्यनियन्ता तुम्हें प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ । जिस प्रकार पिता पुत्रका, सखा सखाका और प्रिय प्रियका दोष क्षमा करते हैं, ऐसे ही मेरे भी अपराधको क्षमा करो । तुम्हारे अपूर्वरूपको देख कर मुझे हर्ष हुआ है और उसकी भयङ्करतासे मुझे डर भी लगा है, अतः हे देवाधिदेव परमात्मन् ! तुम प्रसन्न हो जाओ और अपने उस मनोहर रूपको मुझे दिखादो । तुम्हारे उस किरीट गदाधारी, हाथमें चक्रयुक्त रूपको मैं देखना चाहता हूँ इस लिये हे अनन्तबाहो विश्वरूप ! तुम उसी शङ्ख चक्र गदा पद्म-धारी चतुर्भुजरूपमें प्रकट हो जाओ ।

चन्द्रिका—विश्वरूपको देख कर श्रीकृष्णकी महनीयता तथा अपनी अकिञ्चित्कर सत्ता अर्जुनको मालूम हो गयी है, इस लिये पूर्व-सख्यताकी बराबरीके बर्तावके लिये अर्जुनको बड़ा सङ्कोच तथा लज्जा आ रही है । यही श्रीभगवान्से क्षमा मांगनेका कारण है । 'उसी चतुर्भुजरूपमें दर्शन दो' इस प्रकार कहनेके द्वारा यही प्रकट होता है कि श्रीभगवान्का चतुर्भुजरूप अर्जुनको दीखता था, अन्यथा वसुदेवपुत्ररूपसे श्रीकृष्ण तो

द्विभुजरूपमें ही प्रकट थे । यही सब भक्त अर्जुनकी मधुरतागम्भीरतामयी भावभरी अत्युत्तम स्तुति है ॥४१-४६॥

अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार श्रीभगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ! ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

अन्वय—हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) प्रसन्नेन मया आत्मयोगात् (मैंने प्रसन्न होकर अपनी योगसामर्थ्यसे) तव इदं तेजोमयं अनन्तं आद्यं मे परं विश्वरूपं दर्शितं (तुम्हें यह तेजःपूर्ण अन्तहीन आदिरूप श्रेष्ठ विश्वरूप दिखा दिया) यत् त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् (जिसको तुम्हारे सिवाय और किसीने पहिले देखा नहीं था) । हे कुरुप्रवीर ! (हे कुरुवीरश्रेष्ठ अर्जुन !)

न वेदयज्ञाध्ययनैः (न वेद्के द्वारा, यज्ञके द्वारा या अध्ययनके द्वारा) न दानैः न क्रियाभिः न च उग्रैः तपोभिः (न दानके द्वारा, अग्निहोत्रादि क्रियाओंके द्वारा या उग्र तपस्याके द्वारा) एवंरूपः अहं (विश्वरूपी मैं) त्वदन्येन नृलोके द्रष्टुं शक्यः (तुम्हारे सिवाय इस मनुष्यलोकमें और किसीके द्वारा देखने योग्य हूं)। ईदृक् घोरं मम इदं रूपं दृष्ट्वा (मेरी ऐसी भीषण मूर्तिको देख) ते व्यथा मा विमूढ़भावः च मा (तुम्हें व्यथा या विमूढ़ता नहीं होनी चाहिये)। व्यपेतभीः प्रीतमनाः (भयरहित तथा प्रसन्नचित्त होकर) त्वं पुनः इदं तत् एव रूपं प्रपश्य (तुम पुनः मेरे उसी चतुर्भुज वासुदेवरूपको देखो)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा-हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी योगसामर्थ्यसे तुम्हें जो तेजोमय अनन्त आद्य विश्वरूप दिखाया है, इसको तुम्हारे सिवाय और किसीने पहिले नहीं देखा है। हे कुरुवीरश्रेष्ठ! वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, क्रिया या उग्रतप किसीके द्वारा भी मनुष्यलोकमें तुम्हारे सिवाय और कोई मेरे इस रूपको नहीं देख सकता है। मेरे इस भीषण-रूपको देख कर तुम्हें व्यथा या विमूढ़ता नहीं होनी चाहिये। तुम भयरहित तथा प्रसन्नचित्त होकर अब पुनः मेरे उस चतुर्भुजरूपको देखो।

चन्द्रिका—श्रीभगवान्की साकार मूर्तिका दर्शन यज्ञदानादिके द्वारा नहीं होता है, केवल भक्ति, प्रेम तथा उपासनाकी पराकाष्ठा और तीव्र दर्शनलालसाके उत्पन्न होने पर तब होता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥

जिस प्रकार ऐसा पक्षिशावक जिसका कि पङ्ख अभी तक निकला नहीं अपनी माताके दर्शनके लिये लालायित रहता है, जिस प्रकार भूखा गोवत्स गोमाताके दूध पीनेके लिये लालायित रहता है और जिस प्रकार विरहिणी पतिव्रता सती प्रियपतिके दर्शनार्थ लालायित रहती है, इसी प्रकार भक्तका मन जब श्रीभगवान्के दर्शनार्थ विरहिणी व्रजनारियोंकी तरह व्याकुल हो उठता है तभी श्रीभगवान् सुमधुर साकार मूर्त्तिमें दर्शन दिया करते हैं । किन्तु दिव्यदृष्टिके द्वारा देखने योग्य उनकी विराट साकार मूर्त्तिका दर्शन भक्तिप्रेमके साथ विशेष प्राक्तन सम्बन्धका समन्वय रहने पर तब हो सकता है । अर्जुनके साथ श्रीभगवान्का ऐसा ही खास प्राक्तन सम्बन्ध था इसी कारण अर्जुनको श्रीभगवान्का प्रसन्नतालाभ तथा विश्व-रूपका दर्शनलाभ हुआ था, यही श्रीभगवान्के इन तीन श्लोकोंके द्वारा तत्त्वकथनका तात्पर्य है ॥ ४७-४९ ॥

इसके बाद क्या हुआ सो सञ्जय धृतराष्ट्रको बता रहे हैं—

सञ्जय उवाच--

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अन्वय—वासुदेवः अर्जुनं इति उक्त्वा (श्रीभगवान्ने अर्जुन को यह कह कर) तथा स्वकं रूपं भूयः दर्शयामास (ऐसा ही

अपना चतुर्भुजरूप पुनः दिखा दिया) महात्मा सौम्यवपुः भूत्वा (परमकरुणामय भगवान्‌ने सौम्यरूप धारण करके) भीतं एनं पुनः आश्वासयामास च (भीत अर्जुनको पुनः आश्वासन प्रदान किया)।

सरलार्थ—सञ्जयने कहा—इस प्रकार पूर्वोक्तरूपसे अर्जुनको कह कर श्रीभगवान्‌ने अपना पूर्वरूप दिखा दिया और करुणामयने सौम्यरूप धारण करके भीत अर्जुनको आश्वासन प्रदान किया ॥५०॥

सौम्यरूप देख कर अर्जुनकी उक्ति है—

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अन्वय—हे जनार्दन! (हे भगवन्!) तव इदं सौम्यं मानुषं रूपं दृष्ट्वा (तुम्हारे इस सौम्य मनुष्य जैसे रूपको देखकर) इदानीं सचेताः संवृत्तः अस्मि (अब मैं प्रसन्नचित्त हो गया हूँ) प्रकृतिं गतः (और प्रकृतिस्थ भी हो गया हूँ)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे भगवन्! तुम्हारे इस सौम्य मानुषी रूपको देख कर अब मैं प्रसन्न तथा प्रकृतिस्थ हो गया हूँ ॥५१॥

प्रसन्नचित्त अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्‌की उक्ति है—

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ! ॥५४॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोऽध्यायः।

अन्वय—मम इदं सुदुर्दर्शं यत् रूपं दृष्टवान् असि (अति कठिनतासे दृष्टिगोचर होने योग्य मेरा यह जो रूप तुमने देखा) देवाः अपि अस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः (देवतागण भी इस रूपको सदा देखना चाहते हैं)। यथा मां दृष्टवान् असि (जैसा तुमने मुझे देखा है) एवंविधः अहं (ऐसा मैं) न वेदैः न तपसा न दानेन न च इज्यया द्रष्टुं शक्यः (वेद, तपस्या, दान और यज्ञ किसीके द्वारा भी नहीं देखा जा सकता हूँ)। हे परन्तप अर्जुन ! (हे अज्ञानरूपी शत्रुको दमन करनेवाले अर्जुन !) अनन्यया भक्त्या तु (किन्तु अनन्यभक्तिके द्वारा) एवम्विधः अहं तत्त्वेन ज्ञातुं द्रष्टुं च प्रवेष्टुं च शक्यः (भक्त मेरे इस विश्वरूप-

को यथार्थतः जान सकता है, देख सकता है और इसके साथ तद्रूपताको पा सकता है)। हे पाण्डव! (हे अर्जुन!) यः मत्कर्मकृत् (जो मेरे ही लिये कर्म करता है) मत्परमः (मैं ही जिसके लिये परम प्राप्तव्य वस्तु हूँ) मद्भक्तः सङ्गवर्जितः (जो मेरा भक्त तथा विषयरागरहित है) सर्वभूतेषु निर्वैरः (सर्वत्र भगवान्की सत्ता समझ कर किसीके प्रति जो शत्रुभावयुक्त नहीं है) सः मां एति (वही मुझे प्राप्त करता है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—अति कठिनतासे देखने योग्य मेरा यह जो विश्वरूप तुम्हें देखनेमें आया, देवतागण भी सदा इसके देखनेके लिये आकांक्षा रखते हैं। वेद, तपस्या, दान या यज्ञ किसी उपायसे भी यह रूप, जैसा कि तुमने देखा है, देखा नहीं जा सकता है। हे परन्तप अर्जुन! केवल अनन्यभक्तिके द्वारा ही भक्तगण मुझे तत्त्वतः ऐसा जान सकते हैं, देख सकते हैं और मेरे साथ तद्रूपताको पा सकते हैं। हे पाण्डव! मदर्थ कर्म करनेवाले, मुझे ही परम प्राप्तव्य वस्तु माननेवाले, मुझमें भक्ति रखनेवाले, विषयासक्तिरहित, सभीके प्रति वैरभावशून्य भक्त ही मुझे लाभ करते हैं।

चन्द्रिका—सकाम यज्ञ तथा तपस्यादिद्वारा देवयोनिप्राप्ति होती है, श्रीभगवान्का विश्वरूप दर्शन उपासनाकाण्डसाध्य है इस लिये कर्मकाण्डके बलसे देवयोनिप्राप्त देवतागण भी विश्वरूप देखनेके लिये तरसते रहते हैं। उपासनामें उपास्य उपासक रूपी द्वैतभावके रहते हुए श्रीभगवान्की केवल स्थूल मूर्तिके ही दर्शन होते हैं तदनन्तर उपासनाके

परिपाकमें उपास्य उपासककी एकता द्वारा द्वैतभावका विलय होने पर भक्त भगवान्‌के साथ तादात्म्यभाव या तद्रूपता भावको प्राप्त कर लेता है। इसी अद्वैतावस्थामें श्रीभगवान्‌का तत्त्वज्ञान भी पराभक्तियुक्त सिद्ध-भक्तको हो जाता है। यही श्लोकोक्त 'ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं' पदोंका तात्पर्य है। अन्तिम श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने कर्म और उपासनाका सुन्दर समुच्चय दिखाया है। श्रीभगवान्‌के प्रति परमानुरागसे युक्त होकर उन्हींके लिये निष्काम कर्मयोगका अनुष्ठान करना और घट घटमें उनकी सुमधुर सत्ताकी धारणा करके भागवतोक्त—

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥

इस उपदेशके अनुसार किसी जीवके प्रति वैरभाव न करके सभीके प्रति प्रेमपरायण होना और सभीकी सेवा करते रहना—यही कर्म और उपासनाका समुच्चय है। इसी समुच्चयमें ही कर्मयोग तथा उपासना-योगकी निर्विघ्न सिद्धि है और आनन्दमय परमात्माकी परमा प्राप्ति है॥५२—५५॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'विश्वरूपदर्शन' नामक ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

एकादश अध्याय समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः ।

अन्यान्य अध्यायोंमें अनेक स्थल पर निर्गुण, निराकार, अक्षर ब्रह्मकी उपासना बताने पर भी, पूर्वाध्यायमें साकार विश्वरूपकी उपासना महिमाको श्रीभगवान्के मधुरमुखोच्चारित होते हुए देख कर भक्त अर्जुनको शंका हुई है कि साकार निराकार इन दोनों उपासनाओंमें कौन प्रशस्ततर है । पूर्वाध्यायके अन्तिम श्लोकमें वर्णित 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इत्यादि श्लोकके द्वारा भी यह पता नहीं चलता है कि उसमें 'मत्' शब्दसे साकार विवक्षित है अथवा निराकार । अतः शंकासमाधान रूपसे साकार निराकार उपासनाओंका विवेचन तथा अर्जुनको निमित्त बना कर जगज्जीवोंके लिये सभी उपासनाके अर्थ अधिकार निर्णय—इन दोनों उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये इस अध्यायका आविर्भाव हुआ है । इसमें श्रीभगवान्ने प्रथमतः साकार निराकार उपासनाके उपाय तथा रहस्य बताये हैं और तदनन्तर प्रसङ्गोपात्त भगवत्परायण होकर आध्यात्मिक उन्नतिलाभके लिये अनेक साधनाएं बताई हैं । उपासनाकाण्डके अन्तिम अध्याय होनेके कारण इसमें भक्ति तथा उपासनाकी माधुरी अमृतगङ्गाकी अविरलधारारूपसे बहाई गई है, जिसके पवित्र प्रवाहमें अवगाहन स्नान करके मनुष्य मात्र ही निःश्रेयस लाभ कर सकता है । अब प्रथमतः अर्जुनकी शंका रूपसे साकार निराकार पर रहस्यपूर्ण विवेचन प्रारम्भ होता है—

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अन्वय—एवं सततयुक्ताः (इस प्रकारसे सदा युक्त होकर) ये भक्ताः त्वां पर्य्युपासते (जो भक्तगण तुम्हारी साकार विश्वरूपादि मूर्त्तिकी उपासना करते हैं) ये च अपि अव्यक्तं अक्षरं (और जो भक्त इन्द्रियां तथा मनबुद्धिसे अगोचर अक्षरपुरुष निर्गुणब्रह्मकी उपासना करते हैं) तेषां के योगवित्तमाः (इन दोनोंमेंसे श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन है ? .

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—जैसा कि पूर्वाध्यायमें तुमने कहा है समस्त कर्मादि तुममें अर्पण करके अनुरागके साथ जो भक्तगण तुम्हारी विश्वरूपादि साकारमूर्त्तिकी उपासना करते हैं, और जो भक्त तुम्हारे मन वाणीसे अगोचर निर्गुण अक्षर भावकी उपासना करते हैं, इन दोनोंमेंसे श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन है ?

चन्द्रिका—इस अध्यायकी प्रतिपाद्य वस्तु साकार निराकार उपासनाका रहस्य प्रकट करनेके लिये अर्जुनको निमित्त बना कर इस प्रकार शंकाका उदय हुआ है, ताकि अधिकारका निर्णय श्रीभगवान्के उपदेश द्वारा ठीक ठीक हो जाय और सकल प्रकारके अधिकारी अपनी अपनी प्रकृति प्रवृत्तिके तारतम्यानुसार सगुण या निर्गुण उपासना करके सिद्धि लाभ कर सकें । इसमें छोटे या बड़े योगीका विचार नहीं है, केवल अधिकार तथा अधिकारीका प्रकृतिविचारसे निर्णयमात्र है यही तत्त्व जानना चाहिये ॥ १ ॥

अब प्रश्नके अनुरूप उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच--

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

अन्वय—मयि मनः आवेश्य (मुझमें मनको लगा कर) नित्ययुक्ताः (सदा योगयुक्त हो) परया श्रद्धया उपेताः (परम श्रद्धाके साथ) ये मां उपासते (जो मेरे सगुणरूपकी उपासना करते हैं) ते युक्तमाः मे मताः (उन्हें मैं श्रेष्ठ योगी समझता हूं)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा--मुझमें मनको लगा कर युक्तचित्त हो परम श्रद्धाके साथ जो मेरे सगुण साकाररूपकी उपासना करते हैं, उन्हें मैं श्रेष्ठयोगी समझता हूं।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें अर्जुनका अधिकार विचार करके श्रीभगवान्ने सगुणोपासना पर विशेष जोर दिया है। और भक्तिके साथ साकारोपासना करते रहने पर अनायास ही परमात्माकी कृपाद्वारा भक्त संसारसिन्धुको पार कर सकता है यही भाव बताया है। यद्यपि इस प्रकार उपासनामें उपास्य उपासकरूपी द्वैतभावका अस्तित्व रहनेसे केवल इसीके द्वारा आत्यन्तिकमुक्ति नहीं हो सकती है, तथापि द्वैतभावके द्वारा सगुणब्रह्मका पता लग जाने पर और उसकी आनन्दसत्तामें प्रतिष्ठा हो जाने पर अद्वैतभावकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। इसके सिवाय भक्तिपथ सरलपथ है, इसमें ज्ञानपथकी कठिनता तथा दुर्गमता नहीं है। इन्हीं कारणोंसे अर्जुन तथा साधारण जगज्जनोंका अधिकार विचार करके श्रीभगवान्ने सगुणोपासक योगीको ही श्रेष्ठयोगी कहा है ॥ २ ॥

अब द्वितीय अधिकार पर विवेचन करते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

अन्वय—इन्द्रियग्रामं संयम्य (समस्त इन्द्रियोंको अच्छी तरह संयत करके) सर्वत्र समबुद्धयः (विषयवासनाशून्य होनेके कारण सर्वत्र रागद्वेषहीन द्वन्द्वभावहीन समत्वबुद्धियुक्त) ये तु (जो साधकगण) अनिर्देश्यं (शब्दादिके द्वारा निर्देश करनेके अयोग्य) अव्यक्तं (रूपादिहीन, इन्द्रियोंके अगोचर) अचिन्त्यं (मनके भी अगोचर) सर्वत्रगं कूटस्थं अचलं ध्रुवं अक्षरं पर्य्युपासते (आकाशवत् सर्वव्यापी, मायापर निर्लिप्त अधिष्ठाता, चाञ्चल्य-रहित, परिणामरहित, अक्षर निर्गुणब्रह्मकी उपासना करते हैं) सर्वभूतहिते रताः (सकल जीवोंमें अद्वैतआत्माकी धारणासे जीवसेवाद्वारा ब्रह्मपूजापरायण) ते मां एव प्राप्नुवन्ति (वैसे साधक मुझे ही प्राप्त करते हैं) । तेषां अव्यक्तासक्तचेतसां अधिकतरः क्लेशः (उन सब निराकार निर्गुणब्रह्मपरायण साधकोंको सगुणोपासकोंकी अपेक्षा अधिक क्लेश होता है) हि (क्योंकि) देहवद्भिः अव्यक्ता गतिः दुःखं अवाप्यते (देहाभिमानयुक्त साधक देहसे रहित निर्गुणब्रह्मके पदको दुःखसे ही लाभ करते हैं) ।

सरलार्थ—शमदमादि साधन द्वारा इन्द्रियोंको सुसंयत करके रागद्वेषहीन द्वन्द्वहीन समत्वबुद्धिके साथ मेरे शब्दसे अगोचर, चिन्तासे अगोचर, निराकार, सर्वव्यापी, प्रपञ्चसे निर्लिप्त, चाञ्चल्यहीन, परिणामहीन, अक्षर, निर्गुणब्रह्मभावकी उपासना जो साधकगण करते हैं, एकात्मबुद्धिसे सकलजीव-कल्याणमें रत ऐसे साधक मुझे ही पाते हैं। केवल निर्गुणो-पासनामें रत साधकोंको सगुणोपासकोंकी अपेक्षा अधिक क्लेश होता है। क्योंकि देहाभिमानके रहते हुए नीरूप गुणातीत ब्रह्म-गति दुःखसे ही मिलती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें निराकार निर्गुणोपासनाका अधिकार विचार तथा सगुणोपासनासे उसकी कठिनता बताई गई है। जब तक अपने देहके प्रति अभिमान रहे तब तक देहेन्द्रियादिसे परे निर्गुण निराकार निर्विशेष ब्रह्ममें प्रतिष्ठालाभ करना अति कठिन है, यही सगुणोपासनासे इसकी कठिनता तथा अधिक क्लेशसम्भावनाका लक्षण है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्धान्त करना चाहिये कि निर्गुणोपासनाके द्वारा सिद्धि मिलती ही नहीं। सिद्धि अवश्य मिलती है जैसा कि 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' इन शब्दोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने उपदेश दिया है। केवल सिद्धि मिलनेमें दो बातोंकी आवश्यकता होती है, प्रथम शमदमादि साधनों द्वारा इन्द्रियों-का संयम तथा परमवैराग्य और दूसरा उपासनाके साथ ज्ञान और कर्मका समुच्चय। द्वन्द्वरहित रागद्वेषरहित समत्वबुद्धिकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है और सर्वभूत हितमें रति कर्मयोगका ही व्यापार है, अतः 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्' इत्यादि पूर्वोक्त श्लोककी तरह इन श्लोकोंमें भी श्रीभगवान्-

ने परमात्माकी निर्विघ्नप्राप्तिके लिये कर्म-उपासना-ज्ञानकी सामञ्जस्यमयी साधना बताई है, यही तत्त्व समझना चाहिये। इसका पूरा दिग्दर्शन भूमिकामें कराया गया है, इस कारण यहां पर अधिक वर्णनका प्रयोजन नहीं है। मन्त्रयोगशास्त्रमें सगुणोपासनाके विषयमें बहुत कुछ वर्णन मिलता है। इसमें श्रीभगवान्‌के दिव्यनामरूपी मन्त्रका जप और भावानुसार किसी आकारकी उपासना, ध्यान, पूजा, आदि बहुत कुछ किये जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें ईश्वरकी प्रतिमा आठ प्रकारकी कही गई है यथा—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाऽष्टविधा स्मृता॥

प्रतिमा—प्रस्तरकी, काष्ठकी, लोहेकी, लिपकर, लिखकर, रेतीकी, मानसी और मणियोंकी इस तरह आठ प्रकारकी होती है। इसके आकार भी भावानुसार होते हैं। यथा भगवान् विष्णु धर्मार्थकाममोक्षरूपी चतुर्वर्ग देने वाले हैं, इस कारण शंख चक्र गदा पद्मसे युक्त उनके चार हाथ हैं। श्रीभगवान्‌की शक्ति दस दिशाओंमें व्याप्त है, इस कारण महाशक्ति जगदम्बा दसभुजा हैं। सत्त्वगुणमयी जगदम्बा रजोगुणरूपी सिंहको वाहन बना कर तमोगुणरूपी महिषासुरका नाश करती है। गणपति सुबुद्धिके देवता हैं इस कारण कुतर्करूपी चूहेको उन्होंने नीचे दबा रक्खा है। ब्रह्माजी सृष्टिकर्त्ता होनेके कारण रजोगुणके देवता हैं, इस लिये उनका रङ्ग लाल है, क्योंकि रजोगुण रक्तवर्ण होता है। इत्यादि इत्यादि भावानुसार मूर्त्तियां होती हैं। इस प्रकारसे मूर्त्तियां बनवा कर प्रतिमामें प्राणप्रतिष्ठाद्वारा श्रीभगवान्‌का शक्तिसंचार कराना होता है यथा मन्त्रयोगशास्त्रमें—

आभिरूप्याच्च विम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य च विश्वासाद्देवतासन्निधिर्भवेत् ॥

भावानुसार यदि प्रतिमा ठीक हो, शास्त्रीय विधिके अनुसार पूजा हो और पूजक तथा दर्शकोंमें प्रेम, भक्ति, विश्वास हो तो प्रतिमामें भगवत्कलाका विकाश हो जाता है। अथर्ववेदमें—"एहि अश्मानमातिष्ठ अश्मा भवतु ते तनुः" इस प्रकार मन्त्रके द्वारा पाषाणमयी मूर्त्तिमें श्रीभगवान्‌की दिव्यशक्तिके आकर्षणकी विधि भी बताई गई है। इस तरहसे प्राणप्रतिष्ठा विधिद्वारा शक्तिका आकर्षण होने पर प्रतिमामें कैसे कैसे चमत्कार देखनेमें आते हैं उसका वर्णन सामवेदके ब्राह्मणमें मिलता है यथा—"देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्ति उन्मीलन्ति निमीलन्ति" अर्थात् देवप्रतिमा कांपती है, देशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदिके समय रोती है, फूट जाती है, पसीजती है, किसी महापुरुषके जन्म लेते समय नाचती है, हंसती है, नेत्र खोलती तथा बन्द करती है। इन वर्णनोंसे यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि आर्य-जाति "मूर्त्तिकी पूजा" अर्थात् प्रस्तरादिकी पूजा नहीं करती है, किन्तु "मूर्त्तिमें पूजा" अर्थात् मूर्त्तिमें श्रीभगवान्‌की दिव्यशक्तिको बुला कर उसीकी पूजा करती है। अतः सनातनधर्मियोंको जो लोग 'पौत्तलिक' या पत्थर पूजनेवाले कहते हैं वे सर्वथा भ्रान्त हैं। सगुणोपासनामें विष्णु-शिव-शक्ति-सूर्य-गणेश इन पञ्चमूर्त्तियोंको ईश्वरभावनासे पूजनेकी विधि है। एक ही ईश्वरकी पांच मूर्त्ति बतानेका प्रयोजन यह है कि पञ्चतत्त्वोंसे जीवप्रकृति बनती है। उनमेंसे जिस व्यक्तिमें जो तत्त्व प्रधान है वह उसी तत्त्वके साथ अधिदैव सम्बन्धयुक्त प्रतिमाकी पूजा यदि करे तो प्रकृति अनुकूल होनेके कारण शीघ्र सिद्धि मिल जाती है, यही सगुणोपासनामें

पञ्चमूर्त्तिपूजनका रहस्यमय हेतु है। यथा कापिलतन्त्रमें—

नभसोऽधिपतिर्विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥

आकाशतत्त्वके अधिपति विष्णु, अग्नितत्त्वकी जगदम्बा, वायुतत्त्वके सूर्य, पृथिवीतत्त्वके शिव और जलतत्त्वके गणेश अधिपति हैं। इसी रीतिसे स्वरोदय आदि शास्त्रकी सहायतासे तत्त्व देख कर इष्ट देवता निर्णयकी विधि मन्त्रयोगशास्त्रमें वर्णित है। निर्गुणोपासनामें परमात्माकी निराकार सच्चिदानन्द सत्ताकी उपासना राजयोगोक्त भावोंके आश्रयसे होती है। इसके सब सिद्धान्त गुरुमुखसे जानने चाहिये ॥३–५॥

दोनों उपासनाओंकी सुविधा असुविधा बता कर अब सहजसाध्य सगुणोपासनाकी महिमा तथा उस विषयमें अर्जुनका कर्त्तव्य बता रहे हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

अन्वय—ये तु (किन्तु जो उपासकगण) सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः (सब कर्मोंको मुझमें समर्पण करके मत्परायण होकर) अनन्येन एव योगेन मां ध्यायन्तः उपासते (अनन्य उपासनायोगके द्वारा मेरे ध्यानमें रत रह कर भजना

करते हैं) हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) अहं मयि आवेशितचेतसां तेषां मृत्युसंसारसागरात् न चिरात् समुद्धर्त्ता भवामि (मुझमें आविष्टचित्त उन उपासकोंको मृत्युयुक्त संसाररूपीसागरसे मैं शीघ्र ही तार देता हूं)। मयि एव मनः आधत्स्व (इस लिये मुझमें मनको स्थिर करो) मयि बुद्धिं निवेशय (निश्चयात्मिका बुद्धिको भी मुझमें लगाओ) अतः ऊर्द्ध्वं (देहावसानके अनन्तर) मयि एव निवसिष्यसि (मुझमें ही निवास करोगे) संशयः न (इसमें सन्देह नहीं है)।

सरलार्थ—निर्गुणोपासनामें अधिक क्लेश है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु हमारे सगुणभावोंके जो उपासकगण मुझमें सब कर्म समर्पण कर मत्परायण हो अनन्ययोगसे मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे अर्जुन ! मुझमें आविष्टचित्त उन साधकोंको मृत्युयुक्त संसाररूपीसागरसे मैं शीघ्र ही पार कर देता हूं। अतः अपने मन तथा बुद्धिको तुम मुझमें ही स्थिर करो, क्योंकि ऐसा करने पर देहपातके अनन्तर निःसन्देह तुम मद्रूपताको पाकर मुझमें ही निवास करोगे।

चन्द्रिका—क्लेशाधिक्यका अभाव तथा सहजमार्ग होनेके कारण सगुणोपासनामार्ग निर्गुणोपासनासे सुगम है इस विज्ञानका रहस्य श्रीभगवान्ने सगुणोपासकको 'युक्ततम' कह कर पहिले ही प्रकट कर दिया है। अब यदि यह शङ्का हो कि सगुणोपासना द्वैतभावकी उपासना है, अतः इसके द्वारा निर्वाणमोक्षलाभ असम्भव है तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं कि उनके सगुणभावमें भी अनन्यपरायण होकर रत

रहनेसे और सकल कर्मोंको उन्हींमें समर्पण कर उन्हींके हो जानेसे सगुणोपासक भी उनकी कृपासे निःश्रेयसपदको पा सकता है। अतः सगुण निर्गुण किसी भी उपासनामें प्रेमभक्तिपूर्ण एकान्तरति ही अपवर्गदायिनी है, यही निश्चय हुआ। श्रुतिमें भी लिखा है—'स एतस्मात् जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' अर्थात् सगुणोपासक उपासनाके परिपाकमें अनायास ही हिरण्यगर्भसे परे परम ब्रह्मपदको पा लेते हैं। इस लिये स्वधर्मपालन करते हुए मनबुद्धि सभी कुछ श्रीभगवान्‌में समर्पित रखना ही अर्जुनको तथा जगज्जनोंको उचित है यही श्रीभगवान्‌ने तत्त्व बताया ॥६-८॥

परमात्मामें रतिकी आवश्यकता बता कर अब उसके लिये क्रमशः सुलभ उपाय निर्देश कर रहे हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अन्वय—हे धनञ्जय! (हे अर्जुन!) अथ (यदि) मयि चित्तं स्थिरं समाधातुं न शक्नोषि (मुझमें अन्तःकरणको ठीक ठीक ठहरा न सको) ततः (तो) अभ्यासयोगेन (पुनः पुनः मुझमें एकाग्र होनेकी चेष्टारूपी अभ्यासयोगके द्वारा) मां आप्तुं इच्छ

(मुझे पानेकी इच्छा करो)। अभ्यासे अपि असमर्थः असि (यदि अभ्यासमें भी समर्थ न हो तो) मत्कर्मपरमः भव (मेरी प्रीतिके अर्थ कर्ममें नियुक्त रहो) मदर्थं कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिं अवाप्स्यसि (मेरे अर्थ कर्म करते रहने पर भी सिद्धि लाभ करोगे)। अथ मद्योगं आश्रितः एतत् अपि कर्तुं अशक्तः असि (यदि मुझमें युक्त होकर इतना भी करनेमें असमर्थ हो) ततः यतात्मवान् (तो संयतचित्त होकर) सर्वकर्मफलत्यागं कुरु (समस्त कर्मोंका फल त्याग कर दो)। अभ्यासात् ज्ञानं हि श्रेयः (सहज साध्य होनेके कारण अभ्याससे ज्ञान प्रशस्त है) ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते (और भी सहज होनेके कारण ज्ञानसे ध्यान उत्तम है), ध्यानात् कर्मफलत्यागः (ध्यानसे कर्म का फलत्याग सीधा होनेसे और भी उत्तम है) त्यागात् अनन्तरं शान्तिः (कर्मफलके त्याग हो जाने पर परमा शान्ति मिलती है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! मुझमें मन बुद्धिको एकाग्र करनेमें यदि तुम असमर्थ हो तो अभ्यासके द्वारा मुझे पानेकी इच्छा करो। यदि अभ्यासमें भी असमर्थ हो तो मेरे लिये कर्म करते रहो, क्योंकि ऐसा करते रहने पर भी तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। और यदि इसकी भी शक्ति तुममें न हो तो संयतचित्त होकर कर्मोंका फलत्याग कर दो। क्रमशः सीधे होनेके कारण अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे कर्मोंका फलत्याग श्रेष्ठ है। त्यागके अनन्तर ही जीवको आत्यन्तिकी शान्ति मिलती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें अधिकार विचारसे परमात्मामें रत होनेके

क्रमशः सुलभ उपाय बताये गये हैं। प्रथमतः अभ्यास अर्थात् पुनः पुनः प्रयत्न द्वारा परमात्मामें समाहित होनेके लिये साधकको पुरुषार्थ करना चाहिये। किन्तु यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो परमात्माके प्रीत्यर्थं कर्मयोगका अनुष्ठान करते रहना और भी सहज मार्ग होगा। और यदि यह भी सम्भव न हो तथा परमात्मामें युक्त हुए रहना भी असम्भव जान पड़े तो केवल कर्ममात्रका फलत्याग कर देना ही उन्नतिका कारण हो जायगा। अभ्यासमें कष्ट अधिक है क्योंकि इसमें स्वाभाविक चञ्चल मनको जबरदस्ती खींच खींच कर परमात्मामें लगाना पड़ता है, इसकी अपेक्षा परमात्माके विषयमें साधारण तटस्थज्ञानलाभ सीधा मार्ग है और तटस्थ-ज्ञान ही स्वरूपज्ञानलाभका सोपान है इस कारण अभ्याससे ज्ञानकी योग्यता सरल तथा उत्तम अवश्य ही है, ज्ञानसे ध्यान अवश्य ही सीधा तथा सहज पन्थ है क्योंकि इसमें बुद्धिचालनारूपी कठिन पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता है, केवल मधुरताप्रिय मनको मधुर भगवान्की मधुरमूर्त्तिमें लगानेसे ही सिद्धि मिल जाती है, और कर्मका फलत्याग सबसे सीधा मार्ग है क्योंकि इसमें मनबुद्धि किसी पर भी जोर देना या जबरदस्ती करना नहीं पड़ता है, कर्म करना या शरीरके द्वारा कर्म होना पूर्ण-स्वाभाविक है उसी स्वभावको थोड़ा पवित्र बना कर कर्मफलमें आसक्ति छोड़ देने पर ही इस पथमें सिद्धि मिल जाती है। अतः अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान और ध्यानसे कर्मफलत्याग अवश्य ही सहजसाध्य उपायके विचारसे क्रमशः श्रेष्ठ हैं इसमें सन्देह नहीं, यही सिद्धान्त प्रमाणित हो गया। परमात्मामें युक्त न होने पर भी केवल कर्मफलत्यागसे ही अपवर्गकी परमा शान्ति मिलती है। क्योंकि मायाका राज्य और ब्रह्मका राज्य ये ही दो राज्य होते हैं। कर्मफलमें आसक्ति जीवको मायाराज्यकी ओर

आकर्षित करके अशान्तिसमुद्रमें डाल देती है और कर्मफलका त्याग आसक्ति तथा वासनाका मूलोच्छेद करके साधकको अशान्तिसे परे शान्तिमय ब्रह्मराज्यमें स्वतः ही ले जाता है । अतः परमात्मामें युक्त होनेके लिये अन्य प्रकार पुरुषार्थ न करने पर भी केवल कर्मफलका त्याग ही आपसे आप साधकको परमात्मामें युक्त तथा शान्तिमय ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठित कर देता है । अतः सभी प्रकार उपायोंकी अपेक्षा कर्मफलत्याग ही सहज, सरल मार्ग तथा आत्यन्तिक शान्तिलाभका निदान सिद्ध हुआ । यही श्रीभगवान्के इन उपदेशोंका तात्पर्य है ॥ ९—१२ ॥

परमात्माके राज्यमें उन्नतिलाभके अनेक उपाय बता कर अब उन्नत भक्तोंके साथ अपनी परम आत्मीयता प्रकट कर रहे हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥

अन्वय—सर्वभूतानां अद्वेष्टा, मैत्रः करुणः च एव (जो किसी जीवके प्रति द्वेष नहीं करता है, और सबके प्रति मित्रता तथा दयाका वर्त्ताव करता है) निर्ममः निरहङ्कारः समदुःख-सुखः क्षमी (जो ममत्वभाव तथा अहङ्कारसे रहित, सुखदुःख-में समभावापन्न और क्षमाशील है) सततं सन्तुष्टः योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः (जो सदा सन्तोषी, समाहितचित्त, संयमी और दृढ़निश्चयी है) मयि अर्पितमनोबुद्धिः यः मद्भक्तः सः मे प्रियः (मुझमें मनबुद्धिको सौंपने वाला ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है)। यस्मात् लोकः न उद्विजते (जिससे लोगोंको क्लेश नहीं पहुँचता है) यः च लोकात् न उद्विजते (लोगोंसे भी जिसको क्लेश नहीं मिलता है) यः च हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः सः मे प्रियः (जो प्रियवस्तुके लाभमें उल्लास और अलाभमें दुःख, भय तथा उद्वेगसे मुक्त है ऐसा ही भक्त मुझे प्रिय है)। अनपेक्षः शुचिः दक्षः (जो किसी वस्तुमें स्पृहा नहीं रखता है, भीतर बाहर शुचितासे युक्त है, और सामने आये हुये कर्त्तव्यको जड़ता छोड़ कर करनेवाला है) उदासीनः गतव्यथः (जो किसी विषय-में पक्षपात नहीं रखता है और दुःखके कारण उपस्थित होने पर भी दुख नहीं मानता है) सर्वारम्भपरित्यागी यः मद्भक्तः सः मे प्रियः (स्वयं किसी व्यापारको किसी इच्छासे जो प्रारम्भ नहीं करता है किन्तु अनायास सामने आये कर्त्तव्यको ही दक्षताके साथ करता है ऐसा जो मेरा भक्त है वही मुझे प्रिय है)।

यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति (जो प्रियलाभमें हर्ष या अप्रियप्राप्तिमें द्वेष नहीं प्रकट करता है, और न प्रिय वियोगमें शोक या अप्राप्त प्रिय इष्टके लिये आकांक्षा ही प्रकट करता है) शुभाशुभपरित्यागी यः भक्तिमान् सः मे प्रियः (शुभ अशुभ दोनों ही को त्यागनेवाला द्वन्द्वसे मुक्त ऐसा जो भक्तिमान् पुरुष है वही मुझे प्रिय है) । शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः समः (शत्रुमित्र तथा मानअपमानमें समभावापन्न) शीतोष्णसुखदुःखेषु समः (शीत गर्मी, सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंमें समभावापन्न) सङ्गविवर्जितः तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी (निःसङ्ग, निन्दास्तुतिमें एकरस, मितभाषी) येन केनचित् सन्तुष्टः (अनायासप्राप्त वस्तुमें सन्तोष करनेवाला) अनिकेतः (किसी निर्दिष्ट आश्रय पर ममताशून्य) स्थिरमतिः (व्यवस्थितचित्त) भक्तिमान् नरः मे प्रियः (ऐसा भक्तिमान् महात्मा मुझे प्रिय है) ।

सरलार्थ—मेरा जो भक्त किसी जीवके प्रति द्वेष न करके सभीके प्रति मैत्री तथा दयाका बर्ताव करता है, जो ममताहीन, अहंकारहीन, सुखदुःखमें एकरस तथा क्षमावान् है, जो सदा सन्तोषी, समाहितचित्त, संयमी तथा दृढ़व्रत है, मुझमें मनबुद्धिको सौंपनेवाला ऐसा ही भक्त मेरा प्यारा है। जो न लोगोंको दुःख देता है और न उनसे दुःख पाता है, हर्ष अमर्ष भय उद्वेग इन सबसे जो मुक्त है वही भक्त मेरा प्यारा है। स्पृहाहीन, पवित्र, अनलस, दुःख आने पर भी धीर, आरम्भत्यागी भक्त ही मेरा प्यारा है। प्रियमें हर्ष तथा अप्रियमें द्वेषशून्य, वियोगमें शोक तथा अप्राप्तके लिये लालसाशून्य, शुभअशुभ-

रूपी द्वन्द्वसे शून्य भक्त ही मेरा प्यारा है। शत्रु मित्रमें, मान अपमानमें, शीत गर्मीमें, सुखदुःखमें तथा निन्दास्तुतिमें समरस, आसक्तिशून्य, मितभाषी, अनायासलब्ध पदार्थमें सन्तोषी, किसी निर्दिष्ट स्थान पर ममताशून्य, धीरमति भक्त ही मेरा प्यारा है।

चन्द्रिका—उपासना तथा भक्तिराज्यमें अग्रसर होते होते साधककी जो अत्युत्तमा स्थिति होती है उसीका निर्देश इन श्लोकों द्वारा किया गया है। यही स्थिति श्रीभगवान्‌को बहुत प्रिय है क्योंकि द्वितीयाध्यायमें कथित स्थितप्रज्ञकी स्थिति और यह स्थिति बराबर की है। भक्तिकी परावस्थामें ज्ञानके साथ भक्तिका भेदभाव नष्ट हो जाता है, इस लिये जिस प्रकार 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इस उपदेशके द्वारा श्रीभगवान्‌ने ज्ञानीको अपना प्यारा बताया था, ऐसा ही उच्चकोटिके भक्तको भी इन श्लोकोंके द्वारा अपना प्यारा बताया है। संसारमें आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय वस्तु है, इस लिये जब परज्ञान तथा पराभक्तियुक्त साधक 'आत्मैव मे मतम्' इस सिद्धान्तके अनुसार उनके आत्मारूप ही हैं, तो उनके विशेष प्रिय होनेमें सन्देह ही क्या हो सकता है ? यही इन श्लोकोंमें तत्त्व है ॥ १३–१९ ॥

अब अपने भक्तोंके साथ परमप्रियताका सम्बन्ध सूचित करते हुए प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं—

ये तु धर्म्याऽमृतमिदं यथोक्तं पर्य्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम
द्वादशोऽध्यायः ।

अन्वय—श्रद्दधानाः मत्परमाः ये तु भक्ताः (श्रद्धासे युक्त मत्परायण जो भक्तगण) यथोक्तं इदं धर्मामृतं पर्य्युपासते (इस प्रकार कहे हुए अमृततुल्य धर्मका आचरण करते हैं) ते मे अतीव प्रियाः (वे मेरे अत्यन्त प्रिय हैं)।

सरलार्थ—ऊपर बतलाये हुए इस अमृततुल्य धर्मका जो मत्परायण भक्त श्रद्धाके साथ आचरण करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

चन्द्रिका—द्वितीय षड्ध्यायोंमें उपासना तथा भक्तिके अनेक तत्त्व बता कर अब उसीकी महिमा कीर्त्तन करते हुए श्रीभगवान् प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' आदि वर्णनोंके द्वारा उच्चकोटिके उपासकोंके जो लक्षण कहे गये हैं, इन सब लक्षणोंके उदय होने पर ज्ञानी और भक्तमें कोई भी भेद नहीं रह जाता है। ऐसे भक्त ज्ञानीकी तरह परमात्माका अनुभव कर कृतकृत्य हो जाते हैं। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुतिवचनके अनुसार ऐसे भक्त और भगवान्में कोई भी भेद नहीं रहता है। अतः परमज्ञानी जिस प्रकार आत्मीयताके कारण परमात्माके अतीव प्रिय होते हैं, उसी प्रकार ऐसे पराभक्तिप्राप्त सिद्धयोगी भी परमात्माके अतीव प्रिय हो जाते हैं। उन्हें 'वासुदेवः सर्वम्' इस अन्तिम तत्त्वका साक्षात्कार होकर निःश्रेयसप्राप्ति हो जाती है। यही उपासनाका अन्तिम लक्ष्य तथा इन छः अध्यायोंका अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है॥२०॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'भक्तियोग' नामक बारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

द्वादश अध्याय समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः।

'तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्' इन वचनोंके द्वारा पूर्वाध्यायमें श्रीभगवान्‌ने अपने भक्तोंके उद्धारके लिये जो प्रतिज्ञा की है उसीके पूर्त्तिसूचक विषय अब इस अध्यायसे प्रारम्भ हो रहे हैं। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती है, यह वेदका सत्यसिद्धान्त है। यद्यपि कर्मयोग तथा उपासनायोग द्वारा भी साधक परब्रह्मपदमें प्रतिष्ठालाभ कर सकता है, तथापि यह सिद्धान्त अकाट्य है कि ये दोनों योग ही अन्तमें ज्ञानकी अन्तिम भूमि तक साधकको पहुंचा कर ज्ञानके द्वारा ही उन्हें निःश्रेयस पदवी पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। अतः परज्ञानमयी वेदान्त भूमि ही अन्तिम भूमि है इसमें सन्देह नहीं है। इसके सिवाय जैसा कि भूमिकामें तत्त्व निरूपण किया गया है कि बिना ज्ञानके न कर्मभूमि ही विकर्मादि दोषोंसे मुक्त हो सकती है और न उपासनाभूमि ही साम्प्रदायिक अज्ञानतादि दोषोंसे निर्लिप्त रह सकती है इस कारणसे भी कर्मयोग तथा उपासनायोगके साथ ज्ञानयोगका सदा सामञ्जस्य रहना नितान्त प्रयोजनीय है। अतः प्रथम षड्ध्यायोंमें कर्मयोग पर विशेष विवेचन और द्वितीय षड्ध्यायोंमें उपासनायोग पर विशेष विवेचन करके अन्तिम षड्ध्यायोंमें ज्ञान योग पर विशेष विवेचन करना स्वतः सिद्ध था। इसी कारण ज्ञानकाण्डप्रतिपादक यह षड्ध्याय प्रारम्भ हुआ है। इसमें पांच अध्यायों तक प्रकृतिपुरुष विचार, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार, त्रिगुण त्रिभाव विचार, ज्ञान ज्ञेयादि ज्ञानयोग

सम्बन्धीय अनेक विचारोंके अनन्तर अन्तिम अर्थात् अष्टादश अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने तीनों योगोंका सामञ्जस्य कर दिया है। अब इसी ज्ञानयोग प्रसङ्गमें प्रथमतः सप्तमाध्यायमें प्रस्तावित क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विज्ञानका विशद वर्णन कर रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) इदं शरीरं क्षेत्रं इति अभिधीयते (इस शरीरको क्षेत्र कहा गया है) एतत् यो वेत्ति (इसको जो जानता है) तद्विदः तं क्षेत्रज्ञः इति प्राहुः (क्षेत्र क्षेत्रज्ञके तत्त्व जाननेवाले पुरुषगण उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं)। हे भारत ! (हे अर्जुन !) सर्वक्षेत्रेषु अपि मां च क्षेत्रज्ञं विद्धि (सकल शरीरोंमें क्षेत्रज्ञ करके मुझे ही जानो) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः यत् ज्ञानं तत् ज्ञानं मम मतम् (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो भेदज्ञान है उसे मैं यथार्थ ज्ञान मानता हूँ)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन ! इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं और इसको जो जानता है, उसे तत्त्ववेत्तागण क्षेत्रज्ञ कहते हैं। हे अर्जुन ! सकल देहोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही जानो, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो भेदज्ञान है उसे ही मैं यथार्थ ज्ञान समझता हूँ।

चन्द्रिका——सप्तम अध्यायमें जिसको अपरा प्रकृति कहा गया था उसीको यहां पर क्षेत्र कहा गया है और उस अध्याय कथित 'जीवभूता पराप्रकृति' यहां पर 'क्षेत्रज्ञ' शब्दसे अभिहित की गयी है। समस्त शरीरोंमें परमात्माकी जो चेतनसत्ता है उसीको जीव या क्षेत्रज्ञ कहते हैं। यह चेतनसत्ता स्वरूपतः ब्रह्मसत्ता होने पर भी बन्धनदशामें इस पर भ्रमसे कर्तृत्व भोक्तृत्वका आरोपण किया जाता है। इस प्रकार आरोपण ही जीवका बन्धन है। विवेककी सहायतासे जब यह पता लग जाता है कि वह चेतनसत्ता या पुरुष या क्षेत्रज्ञ वास्तवमें बद्ध नहीं है, वह नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है, प्रकृतिके तीन गुणोंके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तभी जीवकी मुक्ति होती है। यही सांख्य दर्शनका सिद्धान्त है। अतः यह प्रमाणित हुआ कि समष्टिरूपसे सर्वत्र व्याप्त ईश्वर सत्ता ही प्रतिदेहमें क्षेत्रज्ञ या पुरुषरूपसे विराजमान है। बन्धन-दशामें अर्थात् जीवदशामें क्षेत्रके साथ उसका औपचारिक कर्तृत्व भोक्तृत्व सम्बन्ध माना जाता है। विवेक द्वारा इस उपचारके नाश होते ही पुरुष अपने ज्ञानमय निर्लिप्त स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है: जिस प्रकार खेतमें शस्यकी उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है, ऐसे ही शरीर भी सृष्टिविस्तार-का कारण है, इस लिये उसे क्षेत्र कहा गया है। इसी क्षेत्रको जान कर ही जीवकी मुक्ति होती है, इस कारण जानने वाला पुरुष 'क्षेत्रज्ञ' है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञका अभेदज्ञान बन्धनका और भेदज्ञान मुक्तिका हेतु है। अतः भेदज्ञान ही सच्चा ज्ञान है जैसा कि श्रीभगवान्‌ने बताया है ॥१—२॥

क्षेत्र क्षेत्रज्ञके विषयमें संक्षेपसे बता कर अब अधिक वर्णन-की सूचना करते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

अन्वय—तत् क्षेत्रं यत् च (वह शरीररूपी क्षेत्र जैसा जड़-रूप तथा दृश्य रूप है) यादृक् च (जैसा इच्छादि धर्मसे युक्त है) यद्विकारि (जिस प्रकार इन्द्रियादि विकारोंसे युक्त है) यतः च (जैसा प्रकृतिपुरुषके संयोगसे उत्पन्न होता है) यत् (स्थावर जङ्गमादि भेदोंसे युक्त है) सः च यः (वह क्षेत्रज्ञ जैसा चिदानन्द-स्वभाव है) यत्प्रभावः च (उसकी जैसी विभूति है) तत् समासेन मे शृणु (वे सब संक्षेपसे मुझसे सुनो) । ऋषिभिः बहुधा गीतं (वशिष्ठ कपिल आदि ऋषियोंने क्षेत्रक्षेत्रज्ञके विषयमें दर्शनशास्त्र योगशास्त्रादिमें बहुत कुछ कहा है) विविधैः छन्दोभिः पृथक् (ऋगादि अनेक प्रकार वेदमन्त्रोंके द्वारा भी पृथक् पृथक् रूपसे यह विषय बहुत कुछ कहा गया है) विनिश्चितैः हेतुमद्भिः (निश्चय दिखानेवाले तथा युक्तियुक्त) ब्रह्मसूत्रपदैः च (ब्रह्मप्रति-पादक उपनिषद्वाक्योंके द्वारा भी यह विषय कहा गया है) ।

सरलार्थ—यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, किन विकारोंसे युक्त है, किससे उत्पन्न है और किन प्रकारोंसे युक्त है तथा यह क्षेत्रज्ञ क्या है और इसका प्रभाव क्या है, ये सब मुझसे संक्षेप-से सुनो। यह विषय वशिष्ठ कपिलादि महर्षियोंने बहुत कुछ कहा है, कर्मकाण्डप्रतिपादक वेदमन्त्रोंके द्वारा भी भिन्न भिन्न

अनेक रूपोंसे यह विषय प्रतिपादित हुआ है और युक्तियुक्त तथा निश्चयात्मक उपनिषद् वाक्योंके द्वारा भी इस विषय पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है।

चन्द्रिका——श्रीभगवान् क्षेत्र क्षेत्रज्ञके विषयमें जो कुछ कहेंगे उसीकी सूचना तथा प्रमाणरूपसे ये दो श्लोक बताये गये हैं। पुरुषसे भिन्न तथा पुरुषकी बन्धनकारिणी प्रकृति ही वास्तवमें क्षेत्रपदवाच्य है। किन्तु शरीरके द्वारा ही यह बन्धन अधिक प्रगाढ़ होता है इस कारण श्लोकोंमें शरीरको ही क्षेत्र कहा गया है। यह क्षेत्र जड़ तथा दृश्य है, पुरुष इसका द्रष्टा है, इसका इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि धर्म है, यह इन्द्रियादि विकारोंसे युक्त है, प्रकृतिपुरुषके संयोगसे इसकी उत्पत्ति है और स्थावर जङ्गमादि अनेक भेद इसमें हैं यही क्षेत्रका लक्षण है। क्षेत्रज्ञ पुरुष इससे भिन्न तथा इसका द्रष्टा और भोक्ता है, वह सच्चिदानन्दस्वरूप तथा अलौकिक प्रभावैश्वर्यसम्पन्न है—यही सब क्षेत्रज्ञका लक्षण है। महर्षियोंने क्षेत्र क्षेत्रज्ञके विषयमें योगशास्त्र तथा दर्शनशास्त्रमें बहुत कुछ कहा है, कर्मकाण्ड प्रतिपादक वेदमन्त्रोंमें भी इस विषयमें अनेक वर्णन मिलते हैं। और ज्ञानकाण्ड प्रतिपादक उपनिषदोंमें भी यह विषय भरा पड़ा है। श्लोकमें 'ब्रह्मसूत्रपद' शब्दका अर्थ वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्र या वेदान्तका पद यह भी कहा जा सकता है। अथवा ब्रह्मकी सूचना या तटस्थज्ञान जिससे हो वह 'ब्रह्मसूत्र' और ब्रह्मका स्वरूपज्ञान जिससे हो वह 'ब्रह्मपद' इस प्रकार से 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि द्वैतवादप्रतिपादक उपनिषद् मन्त्र और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि अद्वैतवाद प्रतिपादक उपनिषद् मन्त्र भी 'ब्रह्मसूत्रपद' शब्दसे विवक्षित हो सकते हैं, यही इन सूचनाओंका तात्पर्य है ॥३–४॥

सूचनाके पश्चात् प्रथमतः क्षेत्रका लक्षण बताते हैं—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतं क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

अन्वय—महाभूतानि (पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत) अहंकारः (अहंतत्त्व) बुद्धिः (महत्तत्त्व) अव्यक्तं एव च (और मूलप्रकृति) दश इन्द्रियाणि (पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय) एकं च (और एकादश इन्द्रियरूपी मन) पञ्च इन्द्रियगोचराः च (और पांच तन्मात्रा) इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं (मनके ये सब धर्म) संघातः (शरीर) चेतना (प्राणशक्ति) धृतिः (बुद्धिगुणरूपी धैर्य्य) सविकारं एतत् समासेन क्षेत्रं उदाहृतम् (विकारसहित इसके समुदायको क्षेत्र कहते हैं) ।

सरलार्थ—पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत, अहंतत्त्व, महत्तत्त्व, मूलप्रकृति, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन, पञ्चतन्मात्रा, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, प्राणशक्ति और धैर्य्य इन ३१ तत्त्वोंके समुदायको सविकार क्षेत्र कहते हैं ।

चन्द्रिका—आत्माको छोड़ प्राकृतिक समस्त वस्तुओंको यहां पर क्षेत्र कहा गया है । इसमें सांख्यके २४ तत्त्व हैं और वैशेषिक दर्शनोक्त इच्छाद्वेषादि आत्माके धर्म भी हैं । दर्शन भूमि विचारसे इच्छादिको वैशेषिक दर्शनमें आत्मधर्म बताये जाने पर भी वास्तवमें ये सब मनके ही धर्म हैं और धृति बुद्धिका गुण है । अतः क्षेत्रके भीतर इनका समावेश

किया गया है। देह और इन्द्रियोंकी समष्टि होनेसे शरीरका नाम 'संघात' है। और उसको चलानेवाली प्राणशक्ति 'चेतना' है। यह चेतना 'क्षेत्रज्ञ' नहीं है किन्तु क्षेत्रज्ञके शरीरमें रहनेके कारण प्रकाशित चेतनतुल्य प्राणशक्ति है। इनमेंसे अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृतिको प्रकृति, महत्तत्व आदिको प्रकृति विकृति और इच्छादि तथा इन्द्रियादिको केवल विकृति अर्थात् विकार कहते हैं। यही स्थूल-सूक्ष्म-समुदायरूपी 'क्षेत्र' है ॥५-६॥

अब ज्ञेयरूपी क्षेत्रज्ञके वर्णनार्थ प्रथमतः ज्ञानसाधनसमूहका निर्देश कर रहे हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अन्वय—अमानित्वं (मानहीनता, आत्मश्लाघा न करना) अदम्भित्वं (दम्भहीनता) अहिंसा क्षान्तिः आर्जवम् (अहिंसा, क्षमा, सरलता) आचार्योपासनम् (गुरुसेवा) शौचम् (भीतर बाहर शुचिता) स्थैर्य्यं (धीरता) आत्मविनिग्रहः (मनः संयम)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं (इन्द्रियोंके विषयोंमें विराग) अनहंकारः एव च (और अहंकारशून्यता) जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं (जन्म-मरण-बुढ़ापा, रोग तथा त्रिविध दुःखोंमें दोष देखते रहना) पुत्रदारगृहादिषु असक्तिः अनभिष्वङ्गः (पुत्र-स्त्री गृहादिकोंमें अनासक्ति तथा लिपटे न रहना) इष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यं समचित्तत्वं च (इष्ट या अनिष्ट प्राप्तिमें चित्तका सदा एकभाव) मयि अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः च (और मुझमें अनन्यभावसे अटल भक्ति) विविक्तदेशसेवित्वं (एकान्त निवास) जनसंसदि अरतिः (साधारण जनोंके जमघटमें अरुचि) अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं (आत्मज्ञानको नित्यवस्तु मान कर उसमें परमनिष्ठा) तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं (तत्त्वज्ञानके प्रयोजनरूपी मोक्षविषयका आलोचन) एतत् ज्ञानं इति प्रोक्तं (ये सब ज्ञान कहे जाते हैं) अतः यत् अन्यथा अज्ञानम् (इससे भिन्न जो कुछ है सो अज्ञान है)।

सरलार्थ—आत्मश्लाघा तथा दम्भका अभाव, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुचिता, धीरता, मनोनिग्रह, विषय-वैराग्य, निरहंकार, जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि तथा त्रिविध दुःखोंमें दोषदृष्टि, स्त्री पुत्रादिकोंमें अनासक्ति तथा अधिक अहम्भावका अभाव, इष्टानिष्ट दोनों दशाओंमें हीं चित्तकी एकरसता, मुझमें अनन्ययोगसे अचला भक्ति, एकान्त निवास, जमघटमें अरुचि, आत्मज्ञानमें परमनिष्ठा और तत्त्वज्ञानका आलोचन—ये सब ज्ञानके लक्षण अर्थात् ज्ञानसाधन हैं, इससे विपरीत अज्ञान कहा जाता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें वर्णित लक्षण ज्ञानके नहीं हैं, किन्तु ज्ञानपथमें अग्रसर महात्माके हैं । अर्थात् ज्ञानपदवी पर प्रतिष्ठा लाभके साथ साथ ये सब योग्यताएं ज्ञानीमें स्वतः आ जाती हैं यही इन वर्णनों-का तात्पर्य है । मनुष्यस्वभाव पर शान्तरसके इस प्रकार परिणाम होने पर ही तत्त्वज्ञानी महात्मा ज्ञेयरूपी क्षेत्रज्ञ या परमात्माके स्वरूपका अनुभव कर सकते हैं यही इन सब लक्षणोंके कथनका उद्देश्य है ॥७-११॥

अब ज्ञेयपदार्थका तत्त्वनिरूपण कर रहे हैं—

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतः पाणिपादन्तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

अन्वय—यत् ज्ञेयं तत् प्रवक्ष्यामि (ज्ञान बता कर अब ज्ञेय पदार्थको बताते हैं) यत् ज्ञात्वा अमृतं अश्नुते (जिसे जान कर मोक्ष मिलता है), तत् अनादिमत् परं ब्रह्म (वह ज्ञेय पदार्थ आदिरहित निर्विशेष निर्गुण परब्रह्म है) न सत् न असत् उच्यते (निर्विशेष होनेके कारण न वह विधिमुखसे ही प्रमाण योग्य है और न निषेधमुखसे ही प्रमाणयोग्य है, इस कारण वह न सत् ही है और न असत् ही है)। सर्वतः पाणिपादं सर्वतः अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमत् तत् (जिसके सब ओर हस्त चरण हैं, सब ओर नेत्र सिर मुख हैं, तथा सब ओर कर्ण हैं वह ब्रह्म) लोके सर्वं आवृत्य तिष्ठति (इस लोकमें सबको व्याप रहा है), सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं (वह भीतर बाहरकी सब इन्द्रियोंके गुणोंके द्वारा तदाकारमें आकारित प्रतीत होने पर भी सकल इन्द्रियोंसे रहित है) असक्तं सर्वभृत् च एव (और सबसे अलग हो कर भी सबका पालक है) निर्गुणं गुणभोक्तृ च (तथा गुणातीत होने पर भी गुणोंका भोक्ता है। तत् भूतानां बहिः अन्तः च (वह सब भूतोंके भीतर और बाहर भी है) अचरं चरं एव च (वह अचर भी और चर भी है। तत् सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयं (वह अति सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय है) दूरस्थं च अन्तिके च (अज्ञानियोंके लिये अतिदूर होने पर भी तत्त्वदर्शीके लिये वह बहुत समीप है)। भूतेषु च अविभक्तं विभक्तं च इव स्थितं (वह सकल भूतोंमें अद्वितीय अखण्डरूपसे रहने पर भी प्रति देहमें भिन्न भिन्न प्रतीत होता है) तत् च भूतभर्तृ ग्रसिष्णु प्रभविष्णु

च ज्ञेयम् (जीवोंका पालन करनेवाला, ग्रास करनेवाला तथा उत्पत्ति करनेवाला भी उसे ही जानना चाहिये)। तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः तमसः परं उच्यते (उसे तेजका भी तेज और तम से परे कहते हैं), ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं सर्वस्य हृदि धिष्ठितम् (वह ज्ञानरूप, जानने योग्य, ज्ञानके द्वारा पाने योग्य तथा सबके हृदयमें अधिष्ठान कर रहा है)। इति क्षेत्रं, तथा ज्ञानं, ज्ञेयं च समासतः उक्तम् (इस तरह संक्षेपसे कह दिया कि क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय किसे कहते हैं) मद्भक्तः एतत् विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते (मेरा भक्त इसे जान कर मेरे स्वरूपको पा जाता है)।

सरलार्थ—अब तुम्हें ज्ञेयपदार्थके विषयमें कहता हूँ जिसके तत्त्व जानने पर निःश्रेयस लाभ होता है। वह सदसत्से विलक्षण निर्विशेष अनादि परब्रह्म है। सविशेष भावमें वह सर्वत्र कर चरण, सर्वत्र नेत्र मुख मस्तक तथा सर्वत्र कर्ण—इस प्रकारसे निखिल विश्वमें व्याप्त हो रहा है। इसके सिवाय माया पर अधिष्ठानके कारण वह कुछ न होने पर भी सब कुछ है यथा उसमें कोई भी इन्द्रिय न होने पर भी वह सभी इन्द्रियोंके गुणोंसे आभासित प्रतीत होता है, अनासक्त होने पर भी सभीका भर्त्ता तथा गुणातीत होने पर भी गुणोंका भोक्ता है। वह सब भूतोंके भीतर भी और बाहर भी है, अचर भी और चर भी है, सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय और दूर भी तथा समीप भी है। सकल भूतोंमें अखण्ड होने पर भी खण्डशः प्रतीत होता है, भूतोंका पालक, नाशक तथा उत्पादक है। वह प्रकाशका भी प्रकाशक,

अज्ञानसे परे विराजमान, ज्ञानरूप, ज्ञेयरूप, ज्ञानगम्य और सबके हृदयमें अधिष्ठातारूपसे स्थित है। क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेयके विषयमें यही तुम्हें मैंने संक्षेपसे कह दिया। मेरा भक्त इसका तत्त्व जान कर मेरे ही स्वरूपको प्राप्त कर लेता है।

चन्द्रिका—अध्यायके प्रारम्भमें 'क्षेत्रज्ञ' के विषयमें थोड़ासा कह कर अब इन श्लोकोंके द्वारा उसी तत्त्वको विस्तारके साथ बता रहे हैं। 'क्षेत्रज्ञ' व्यष्टिरूपसे कूटस्थ चैतन्य या पुरुष और समष्टिरूपसे ईश्वर परमात्मा है। 'ज्ञेय पदार्थ' के द्वारा उसीका निर्देश किया गया है। उनका विराट भाव 'सविशेष' और निर्गुण परब्रह्म भाव 'निर्विशेष' है। निर्विशेष भावमें किसी विशेषण या भावके द्वारा निर्देश करने योग्य न होनेके कारण वह सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है। सविशेष भावमें सर्वतोव्याप्त विराटपुरुष वह है ही। इसके सिवाय प्रकृति पर अधिष्ठान करनेके कारण उनमें परस्पर विरुद्ध सत्ताका समन्वय देखनेमें आता है। यथा इन्द्रियां न होने पर भी वे इन्द्रियगुणोंसे गुणी देखे जाते हैं। वेदमें भी "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" अर्थात् हाथ नहीं तौ भी पकड़ते, पांव नहीं तौ भी चलते, आंख नहीं तौ भी देखते और कान नहीं तो भी सुनते हैं, ऐसे प्रमाण मिलते हैं। यही सब उनमें विरुद्ध भावोंका समन्वय है। वे आत्मारूपसे सबके भीतर और प्रकृतिरूपसे सबके बाहर हैं, निश्चल 'वृक्षकी तरह स्तब्ध' होने पर भी मनमें प्रतिबिम्बित होकर मनोगतिसे गतिमान् जान पड़ते हैं, अज्ञानीके लिये दूरवर्त्ती होने पर भी ज्ञानीके लिये अति निकट हैं। सर्वत्र एकरस अद्वितीय होने पर भी मायाके कारण घट घटमें

पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं। "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके" इत्यादि अनेक श्रुतियां इस विषयके प्रमापक हैं। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' उन्हींकी ज्योतिसे सूर्यचन्द्र आदि सभी को प्रकाश प्राप्त होता है, इस लिये परमात्मा प्रकाशके भी प्रकाशक हैं। चित्‌रूपी परमात्मा ज्ञानरूप हैं, और 'ज्ञेय' तथा 'अमानित्व अदम्भित्व' आदि ज्ञान लक्षणके गम्य हैं। ये ही सब 'निर्विशेष' 'सविशेष' 'भावातीत' 'भावमय' ज्ञेय-पदार्थके तत्त्व हैं जिनको अनुभव करके 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति-प्रमाणके अनुसार भगवद्‌भक्त भगवद्‌स्वरूपका लाभ कर सकता है, यही श्रीभगवान्‌का रहस्यमय उपदेश है ॥१२–१८॥

'यद्विकारि यतश्च यत्' इत्यादि प्रश्नबीजको लेकर पुनरपि सांख्यमतानुसार क्षेत्र क्षेत्रज्ञका तत्त्वनिर्णय कर रहे हैं—

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥
कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

अन्वय—प्रकृतिं पुरुषं च एव उभौ अपि अनादी विद्धि (प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको अनादि जानो) विकारान् च गुणान् च एव (देह इन्द्रियादि विकार तथा सुख दुःखमोहादि गुणपरिणामोंको) प्रकृतिसम्भवान् विद्धि (प्रकृतिसे उत्पन्न जानो)। कार्यकारणकर्त्तृत्वे (कार्य अर्थात् शरीर और कारण अर्थात् सुखदुःखके साधनरूपी इन्द्रियां इनके कर्त्तृत्व अर्थात् नानाप्रकार परिणामके विषयमें) प्रकृतिः हेतुः उच्यते (प्रकृति ही हेतु कही जाती है) पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते (सुखदुःखोंके भोगनेके विषयमें पुरुष हेतु कहा जाता है)। हि (क्योंकि) पुरुषः प्रकृतिस्थः (पुरुष प्रकृति पर अधिष्ठान करके) प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते (प्रकृतिके गुणोंका उपभोग करता है) अस्य सदसद्योनिजन्मसु गुणसङ्गः कारणम् (प्रकृतिके गुणोंका संयोग ही पुरुषके अच्छी बुरी योनियोंमें जन्मका कारण है)। अस्मिन् देहे (इस शरीरमें) पुरुषः परः (प्राकृतिक गुणोंसे पृथक् तथा निर्लिप्त पुरुष) उपद्रष्टा (पृथक् रह कर केवल प्रकृतिका साक्षी) अनुमन्ता च (निष्क्रिय तथा समीप होनेके कारण प्रकृतिके कर्ममें प्रतिपक्षी न होकर अनुमोदक जैसा प्रतीत होनेवाला) भर्त्ता (जड़प्रकृतिको अपनी चेतनसत्ताके द्वारा धारण करनेवाला) भोक्ता (अपनी चेतनसत्ताके द्वारा प्राकृतिक सुखदुःखमोहादिका अनुभव करनेवाला) महेश्वरः (महान् ब्रह्मादिका भी ईश्वर) परमात्मा च इति अपि उक्तः (परम आत्मा या उत्तम पुरुष नामसे भी अभिहित होता है)।

यः एवं पुरुषं गुणैः सह प्रकृतिं च वेत्ति (जो इस तरहसे पुरुषको तथा तीन गुणोंके साथ प्रकृतिको जानता है) सः सर्वथा वर्तमानः अपि (वह प्रारब्धानुसार जिस किसी तरह रहने पर भी) भूयः न अभिजायते (पुनर्जन्मको नहीं पाता है)।

सरलार्थ—प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं, शरीर इन्द्रियादि विकार तथा सुखदुःखादि गुण परिणाम प्रकृतिजन्य हैं। शरीर तथा इन्द्रियोंके द्वारा जो अनेक प्रकारके व्यापार होते हैं उनका कारण प्रकृति ही है, और सुखदुःखादिके भोगमें पुरुष कारण है। क्योंकि पुरुष ही प्रकृति पर अधिष्ठित होकर उसके गुणोंका उपभोग करता है और इस प्रकारसे गुणमयी प्रकृतिका सङ्ग ही पुरुषके लिये उत्तमाधम योनिमें जन्म ग्रहणका कारण हो जाता है। इसके सिवाय इस शरीरमें एक निर्लिप्त पुरुषभाव भी है जो पास रहने पर भी केवल प्रकृतिका साथी, उसके कर्मोंका अनुमोदन करनेवाला, भर्त्ता भोक्ता, महान् ईश्वर तथा परमात्मा भी कहलाता है। जो मुमुक्षु पुरुष तथा गुणमयी प्रकृतिके इस स्वरूप को जान लेता है, वह प्रारब्धानुसार चाहे किसी प्रकारसे भी रहे, पुनर्जन्मको नहीं पाता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें सांख्यदर्शनके मतके अनुसार क्षेत्र क्षेत्रज्ञका विवेचन किया गया है। इससे पूर्व ज्ञान ज्ञेय आदिके विचार प्रसङ्गमें जो कुछ कहा गया था उसमें वेदान्त तथा अद्वैतवादकी झलक थी, इस लिये अब प्रकृति पुरुष अर्थात् क्षेत्र क्षेत्रज्ञका पृथक् पृथक्

विवेचन किया गया है। सांख्यमतानुसार नित्या प्रकृति ही सब कुछ करनेवाली है। जिस प्रकार चुम्बकके रहने मात्रसे ही लोहेमें सब कुछ क्रियाका उदय हो जाता है, उसी प्रकार पुरुषको देख कर ही त्रिगुणमयी प्रकृति अपनी गुणमयी लीलाओंको पुरुषके भोग तथा मोक्षके लिये बताने लगती है। प्रकृतिके समीप रहनेके कारण स्फटिक मणि पर पुष्पोंकी आभाके सदृश पुरुषके ऊपर प्राकृतिक सुख दुःख मोहका प्रतिबिम्ब पड़ता है। नित्यशुद्ध मुक्तस्वभाव पुरुषमें कोई बन्धन न होने पर भी प्रकृतिके आभासजन्य यही उसका औपचारिक बन्धन है। इस तरहसे बद्धपुरुष प्रकृतिके गुणोंका भोक्ता कहलाता है और भोगादिके फलसे पुरुषको जन्मजन्मान्तरके चक्रमें जाना पड़ता है। किन्तु जिस समय मुमुक्षुको विवेककी सहायतासे यह पता लग जाता है कि उसका अन्तराकाशविहारी पुरुष सदा ही निर्लिप्त है, केवल भ्रमवशात् वह बद्ध माना गया था, तभी पुरुषका बन्धन कटता है और वह अपने स्वरूप पर प्रतिष्ठित हो जाता है। इस लिये सांख्यसिद्धान्तका दिग्दर्शन करानेके अर्थ श्रीभगवान्‌ने प्रथमतः इन श्लोकोंमें पुरुषकी बन्धनदशा बता कर 'उपद्रष्टा' 'अनुमन्ता' आदि शब्दों द्वारा अन्तमें पुरुषकी यथार्थावस्था बताई है और इसी अवस्थाका ज्ञान ही मुक्ति अर्थात् पुनर्जन्मनिरोधका कारण है, यह भी तत्त्वनिर्णय कर दिया है। 'सर्वथा वर्त्तमानोऽपि' शब्दका तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञानी पुरुष 'कर्म विकर्म' 'विधि निषेध' रूपी द्वन्द्वसे परे होनेके कारण प्रारब्धवेगसे उनके द्वारा यदि कोई लोकगर्हित कार्य भी हो जाय तथापि उसके द्वारा उनके मोक्षपथमें कोई बाधा नहीं होती है ॥ १९-२३ ॥

निर्लिप्त आत्माका तत्त्वनिर्णय करके अब उसके साक्षात्कार के विविध उपाय बता रहे हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

अन्वय—केचित् ध्यानेन (कोई कोई ध्यानकी सहायतासे) आत्मनि (अपनेमें) आत्मना आत्मनं पश्यन्ति (अपने द्वारा आत्माको देखते हैं) अन्ये (दूसरे कोई) सांख्येन योगेन (ज्ञानयोगकी सहायतासे) अपरे च कर्मयोगेन (तीसरे कोई कर्मयोगकी सहायतासे)। अन्ये तु एवं अजानन्तः (चौथे कोई इस तरहसे जाननेमें असमर्थ होकर) अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते (आप्त पुरुषोंसे सुन कर उपासना करते हैं), ते अपि च श्रुतिपरायणाः (ऐसे आप्तवाक्योंके श्रवण करनेवाले साधकगण भी) मृत्युं अतितरन्ति एव (मृत्युसे परे अमृतत्व लाभ करते हैं)।

सरलार्थ—कोई कोई साधक ध्यानयोगकी सहायतासे अपने द्वारा अपनेमें अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा अपने भीतर आत्माका साक्षात्कार करते हैं। कोई ज्ञानयोगके द्वारा और कोई निष्काम कर्मयोगके द्वारा भी आत्माका अनुभव करते हैं। जो ऐसे नहीं कर सकते ऐसे भी अनेक मुमुक्षु आप्तपुरुषोंके वचनों पर विश्वास करके श्रीभगवान्‌की शरण लेते हैं। ऐसे सुन कर साधनापरायण मुमुक्षुगण भी मृत्युको अतिक्रम करके अमृतत्व लाभ कर लेते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें आत्माके अनुभवके लिये प्रकृति प्रवृत्ति अनुसार साधनाके प्रकार बताये गये हैं । पहिले ही कहा गया है कि उपासनायोग, ज्ञानयोग या कर्मयोग सभी परमात्माकी प्राप्तिके अलग अलग साधन हैं और यह भी प्रतिपादित हुआ है कि इन तीनोंके समुच्चयात्मक साधन द्वारा विना बाधाके परमात्माकी उपलब्धि होती है । द्वितीय श्लोकके द्वारा यही तात्पर्य निकलता है कि जब दूसरेसे सुन कर आत्माके पथमें प्रवृत्त होने पर भी परमात्मा मिल जाते हैं तो जो स्वयं विचारवान् पुरुषगण तत्त्वबुद्धिकी सहायतासे किसी भी योगमें प्रवृत्त होंगे उन्हें परमात्मा अवश्य ही मिल जायेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ।।२४-२५।।

पुनरपि सांख्य वेदान्त दोनों मतानुसार क्षेत्र क्षेत्रज्ञका तत्त्वनिरूपण तथा अनुभूतिके उपाय निर्देश कर रहे हैं—

यावत् संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ।।२६।।
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।२७।।
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
नहिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।२८।।
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ।।२९।।
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।३०।।

अन्वय—हे भरतर्षभ ! (हे अर्जुन !) यावत् किञ्चित् स्थावर-

जङ्गमं सत्त्वं संजायते (जो कुछ स्थावर जङ्गम पदार्थ उत्पन्न होता है) तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् विद्धि (वह क्षेत्र क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही होता है ऐसा जानो)। सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तं (सकल भूतोंमें एक भावसे रहनेवाले) विनश्यत्सु अविनश्यन्तं (प्राकृतिक सकल पदार्थोंका नाश होने पर भी नहीं नष्ट होने वाले) परमेश्वरं यः पश्यति सः पश्यति (इस स्वरूपमें परमात्माको जो देखता है, उसीका ही देखना यथार्थ है)। समवस्थितं ईश्वरं सर्वत्र समं पश्यन् हि (सर्वत्र समभावमें स्थित परमात्माको उसी भावमें देखकर ही) आत्मना आत्मानं न हिनस्ति (जीव अपनेसे अपना घात नहीं करता है) ततः परां गतिं याति (इस कारण उत्तम गतिको पाता है)। यः च कर्माणि प्रकृत्या एव सर्वशः क्रियमाणानि तथा आत्मानं अकर्त्तारं पश्यति (जो यह देखता है कि सब कर्म सर्वत्र प्रकृतिके द्वारा ही होते हैं और आत्मा अकर्त्ता है) सः पश्यति (उसका ही देखना यथार्थ है)। यदा भूतपृथग्भावं एकस्थं अनुपश्यति (जब मुमुक्षु जीवोंके पृथक् पृथक् भावोंको अद्वितीय आत्माके ऊपर ही प्रतिष्ठित देखता है) ततः एव विस्तारं च (और अद्वितीय सत्तासे ही द्वैत सत्ताका विस्तार देखता है) तदा ब्रह्म सम्पद्यते (तब उसे ब्रह्मका अनुभव या ब्रह्मभावप्राप्ति होती है)।

सरलार्थ--हे अर्जुन! स्थावर जङ्गम जो कुछ प्राणि संसारमें उत्पन्न होते हैं, वे सब प्रकृतिपुरुषके संयोगसे ही होते हैं ऐसा जानो। परमात्मा सकल भूतोंमें एकरस हैं तथा सबके

नाश होने पर भी अविनाशी रहते हैं—यह जिसने जान लिया उसीको परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ है। ऐसा तत्त्वज्ञानी समरस आत्माको सर्वत्र समरस ही जान कर आत्मघात नहीं करता है और परमगतिको पा जाता है। प्रकृति ही सब कुछ किया करती है, आत्मा अकर्त्ता है ऐसा जिसने जान लिया है उसीका यथार्थ जानना है। सब द्वैतप्रपञ्च अद्वैतसत्ता पर ही प्रतिष्ठित है और उसी अद्वैतसे द्वैतका विस्तार होता है ऐसा जान लेने पर ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकों द्वारा श्रीभगवान्‌ने यही उपदेश किया है कि परमात्माके सर्वत्र एकरूप और प्रतिदेहमें विराजमान् क्षेत्रज्ञके उन्हींके रूप होने पर भी मायाके प्रभावमें आकर बद्धजीव परमात्माकी अद्वितीय सत्ताको समझ नहीं सकता है। ऐसा अज्ञान ही जीवका बन्धनकारण है। तत्त्वज्ञान द्वारा जीवका जब यह अज्ञान कट जाता है, तभी उसको पता लगता है कि विषम प्रकृतिके भीतर भी परमात्मा समभावमें ही स्थित हैं, द्वैत प्रपञ्चके मूलमें उन्हींकी अद्वैतसत्ता विराजमान है, जो द्वैतके नाशमें भी अविनाशी रूपसे ही रहा करती है। दृश्य संसारका समस्त चाञ्चल्य प्रकृतिके द्वारा ही उत्पन्न होता है, परमात्मा इन सबसे परे तथा निश्चल, कर्त्तृत्व भोक्तृत्वशून्य है। ऐसा ज्ञान हो जाने पर सिद्ध महात्माको 'पत्थरमें खोदी हुई मूर्त्तियोंकी तरह' एक ही ब्रह्म पर समस्त द्वैतप्रपञ्च विलसित देखनेमें आते हैं और एक ही मूलसत्तासे अनेकानेक परिणाम अनुभवमें आते हैं। सांख्यके प्रतिदेहव्यापी अनेक पुरुष इस दशामें अद्वितीय परमात्मारूपमें ही प्रतिभात होने लगते हैं।

यही सांख्य तथा वेदान्तकी एकता है और परमपदकी प्राप्ति है। दुर्लभ मानवजन्मको पा कर जिसने इस परमगतिके लिये पुरुषार्थ नहीं किया है वह आत्मघाती है—'स आत्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्'। इन लोगोंकी गति कैसी होती है इसके लिये श्रुति कहती है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

अज्ञानसे आवृत असुरलोकोंमें आत्मघाती बद्धजीवगण मृत्युके अनन्तर जाते हैं। अतः मनुष्यजन्मको पाकर आत्मघात न करके आत्माका उद्धार ही करना कर्त्तव्य है यही श्रीभगवान्के उपदेशका निष्कर्ष है॥२६-३०॥

अब इसी क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विज्ञान पर और भी प्रकाश डालते हुए प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते॥३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत!॥३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम
त्रयोदशोऽध्यायः।

अन्वय—हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) अनादित्वात् निर्गुणत्वात् अयं अव्ययः परमात्मा (आदिरहित तथा गुणरहित होनेके कारण अव्यय परमात्मा) शरीरस्थः अपि न करोति न लिप्यते (शरीरमें रहने पर भी न कुछ करता है और न कर्मफलमें लिप्त होता है)। यथा सर्वगतं आकाशं सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते (जिस प्रकार कीचड़ आदिके भीतर भी स्थित सर्वव्यापी आकाश अति सूक्ष्म होनेके कारण कीचड़ आदिके द्वारा लिप्त नहीं होता है) तथा सर्वत्र देहे अवस्थितः आत्मा न उपलिप्यते (उसी प्रकार शरीरमें सर्वत्र व्याप्त आत्मा शरीरके गुणदोषादि द्वारा लिप्त नहीं होता है)। हे भारत! (हे अर्जुन!) यथा एकः रविः (जिस प्रकार एक ही सूर्य) इमं कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति (समस्त संसारको प्रकाशित करता है) तथा क्षेत्री (उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ-परमात्मा) कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति (स्थूल सूक्ष्म समस्त प्रकृतिको प्रकाशित करता है) एवं ज्ञानचक्षुषा (इस तरह ज्ञाननेत्र द्वारा) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं (प्रकृति पुरुषके भेदको) भूतप्रकृतिमोक्षं च (और जीवोंकी बन्धनदायिनी प्रकृतिके अभावरूपी मोक्षको) ये विदुः ते परं यान्ति (जो जानते हैं उन्हें परमपद प्राप्त होता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! आदिरहित तथा गुण रहित होनेसे अव्यय अर्थात् विकारशून्य परमात्मा देहमें रहने पर भी न कुछ करता ही है और न कर्मफलसे लिप्त ही होता है। जिस प्रकार अतिसूक्ष्म आकाश सकल वस्तुओंमें व्याप्त रहने पर भी

किसीसे लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार समस्त शरीरमें व्याप्त परमात्मा शरीरके दोषगुणद्वारा लिप्त नहीं होता है। हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य समस्त संसारको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा स्थूल सूक्ष्म समस्त प्रकृतिको प्रकाशित करता है। जो विवेकिगण ज्ञानदृष्टिके द्वारा प्रकृति-पुरुषके इस भेदरहस्यको तथा प्रकृतिके मोक्षरहस्यको जान लेते हैं उन्हें परमपद प्राप्त होता है।

चन्द्रिका—पूर्वश्लोकोंकी तरह इन श्लोकोंमें भी श्रीभगवान्‌ने सांख्य-वेदान्तके सिद्धान्तों का समन्वय करके तत्त्व बता दिया है। संसारमें समस्त सादि वस्तु तथा गुणोंसे सम्बन्धयुक्त वस्तु विकार और परिणामके अधीन होती है। परमात्मा अनादि हैं और गुणोंसे भी परे हैं, इस लिये विकाररहित एकरस परमात्मा प्रकृतिके भीतर रहने पर भी प्रकृतिके समस्त परिणाम तथा कार्योंसे निर्लिप्त रहते हैं। प्रकृति तमोमयी है और परमात्मा प्रकाशमय है प्रकृति गुणदोषसे युक्त है और परमात्मा गुणदोष दोनों हीसे परे हैं। इस लिये प्राकृतिक सभी व्यापारोंसे परमात्मा निर्लिप्त हैं। परमात्माकी यह निर्लिप्तता आकाशकी तरह तथा सूर्यकी तरह है। जिस प्रकार अतिसूक्ष्म आकाश अच्छी बुरी सभी वस्तुओंके भीतर भरे रहने पर भी उनके गुणदोषसे संयुक्त नहीं होता है और जिस प्रकार अद्वितीय सूर्य समस्त संसारको प्रकाशित करते रहने पर भी संसारकी भलाई बुराईसे सम्बद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म अद्वितीय परमात्मा समस्त प्रकृतिके अणुपरमाणु तकमें समाये रहने पर भी, प्रकृतिसे एकबारगी ही निर्लिप्त रहते हैं। यही सांख्यमतानुसार स्वरूप-

स्थित पुरुष तथा वेदान्तमतानुसार परमात्माका स्वरूप है। श्रुतिमें भी लिखा है कि—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

सूर्य जैसे सबके चक्षुरूपी होने पर भी चक्षुके दोषोंसे लिप्त नहीं होते हैं, वैसे ही परमात्मा प्रकृतिके भीतर रहने पर भी तथा तमामयी प्रकृतिको चैतन्य देकर प्रकाशित करते रहने पर भी प्राकृतिक परिणामोंसे युक्त नहीं होते हैं। जब तक पुरुषको इस तत्त्वका पता नहीं लगता है, तभी तक त्रिगुणमयी प्रकृति उसके सामने अपनी त्रिगुणमयी नृत्यकलाको दिखाती रहती है, किन्तु इस तत्त्वका पता लगा कर पुरुषके स्वरूपस्थित होते ही प्रकृति पुनः पुरुषके सामने नहीं आती है और उस पुरुषके लिये प्रकृतिका लय या मोक्ष हो जाता है, यही सांख्यदर्शनका सिद्धान्त है। इसीको श्रीभगवान्‌ने 'भूतप्रकृतिमोक्ष' कहा है और इसीके जान लेने पर पुनर्जन्मकी निवृत्ति होकर परम पद लाभ होता है यही अध्यायके अन्तमें उपसंहार रूपसे मधुर उपदेश कर दिया है॥३१-३४॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ।

त्रयोदश अध्याय समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः।

पूर्वाध्यायमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृतिपुरुषके विषयमें जो कुछ विवेचन किया गया था इस अध्यायमें उसीको और भी स्पष्टरूपसे कहा गया है। 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' प्राकृतिक तीन गुणोंके साथ सम्बन्ध ही देहीके लिये अनेक देहोंमें भ्रमणका हेतु हो जाता है, पूर्वाध्यायकथित इस तत्त्वका विस्तार त्रिगुणका स्वरूप तथा बन्धनकारिताके रहस्यको बताते हुए किया गया है। और अन्तमें यह भी कहा गया है कि किन उपायोंसे साधक त्रिगुणसे परे पहुंच सकते हैं और उस समय किन किन लक्षणोंके द्वारा गुणातीत महात्मा पहचाने जाते हैं। अब प्रथमतः तत्त्वज्ञानकी स्तुति करते हुए श्रीभगवान् प्रकृत विषयकी अवतारणा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

अन्वय—ज्ञानानां उत्तमं परं ज्ञानं (सब ज्ञानोंमें उत्तम परमात्मज्ञान) भूयः प्रवक्ष्यामि (पुनः मैं तुम्हें कहूंगा) यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः (जिसे जान कर समस्त मुनिगण) इतः परां सिद्धिं गताः (इस देहबन्धनसे मुक्त हो गये हैं)। इदं ज्ञानं उपाश्रित्य (इस ज्ञानको आश्रय करके) मम साधर्म्यं आगताः (मेरे साथ

एकरूपताको पाकर) सर्गे अपि न उपजायन्ते (मुक्तात्मागण सृष्टिकालमें भी उत्पन्न नहीं होते हैं) प्रलये न व्यथन्ति च (और प्रलयकालमें भी मरणव्यथाको नहीं पाते हैं)।

सरलार्थ—पुनः मैं तुम्हें ज्ञानोंमें उत्तम परमतत्त्वज्ञान बताऊंगा जिसको लाभ करके मुनिगण मुक्त हो गये हैं। इस ज्ञानको शरण ले मुक्तात्मागण मेरे साथ एकरूप होकर न सृष्टि के साथ ही उत्पन्न होते हैं और न प्रलयमें ही मृत्युक्लेशके आधीन होते हैं।

चन्द्रिका—प्रकृतिपुरुषका तत्त्वज्ञान जिससे जीवको मोक्ष मिलता है उसीकी ओर अर्जुनकी रुचि अधिक दिलानेके लिये श्रीभगवान्‌ने इन श्लोकोंमें तत्त्वज्ञानकी विशेष प्रशंसा की है। तत्त्वज्ञानका फल ब्रह्मकी उपलब्धि है और ब्रह्मके जान लेने पर 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस वेदवचनके अनुसार मुक्तात्मा ब्रह्मरूप हो जाते हैं, यही 'साधर्म्य' शब्दका अर्थ है। मुक्तात्माकी स्थिति प्राकृतिक परिणामकोटिसे परे होनेके कारण सृष्टि या प्रलय किसीका भी प्रभाव उन पर नहीं होता है। इसलिये वे जन्ममरणचक्रसे छूट कर परमात्मामें ही विलीन हो जाते हैं, 'न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते' उसको संसारमें पुनः आना नहीं पड़ता है। इस प्रकार दर्शनसूत्रों द्वारा यही सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है ॥ १–२ ॥

स्तुति करनेके बाद अब तत्त्वज्ञान कहते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

अन्वय—हे भारत ! (हे अर्जुन !) महत् ब्रह्म (प्रकृति) मम योनिः (मेरा गर्भाधानस्थान है) तस्मिन् अहं गर्भं दधामि (उसमें मैं अपनी चित्सत्तारूपी बीजको डालता हूँ) ततः सर्वभूतानां सम्भवः भवति (उससे सकल प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है)। हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) सर्वयोनिषु याः मूर्त्तयः सम्भवन्ति (मनुष्य पशु आदि सकल योनियोंमें स्थावरजङ्गम जो कुछ जीवशरीर उत्पन्न होते हैं) तासां महत् ब्रह्म योनिः (प्रकृति उनकी मातृरूपा है) अहं बीजप्रदः पिता (मैं गर्भाधान करने वाला पितृरूप हूँ)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! प्रकृति मेरा गर्भाधानस्थान है जिसमें मैं अपनी चित्सत्तारूपी बीजको डालता हूँ, और उसीसे सकल जीवोंकी उत्पत्ति होती है। समस्त योनियोंमें जो कुछ जीवशरीर दीखते हैं, प्रकृति उनका उत्पत्तिस्थान और मैं उनका उत्पत्तिकर्त्ता हूँ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें सांख्यदर्शनानुसार सृष्टितत्त्व बताने पर भी श्रीभगवान्‌ने उसमें कुछ विशेषता बताई है। सांख्यदर्शनमें सृष्टिके साथ ईश्वरका कोई भी सम्बन्ध नहीं माना गया है, केवल प्रकृतिपुरुषके संयोगद्वारा ही सृष्टि होती है और उस संयोगमें ईश्वर कारण नहीं है, स्वभाव ही कारण है और प्रकृति ही सब कुछ करती है यही माना गया है। किन्तु यहां पर प्रकृतिपुरुषके संयोगसे सृष्टि बताये जाने पर भी उसके मूलमें परमात्माकी इच्छाशक्तिको कारणरूपसे बताया गया है। प्रलयके अनन्तर सृष्टिका समय आने पर परमात्मा जड़प्रकृतिमें अपनी

चित्सत्ताको स्थापित करते हैं और उसी चित्सत्तारूपी जीवात्मा या क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृतिरूपी क्षेत्रके संयोगसे सृष्टि होती है। इसमें प्रकृति माता, ईश्वर पिता और जीवात्मा बीज या वीर्य है। प्रकृति असीम होनेसे 'महत्' और 'बृंहण' अर्थात् सृष्टि बढ़ानेकी शक्तिसे युक्त होनेसे 'ब्रह्म' कहाती है। यही 'महद् ब्रह्म' शब्दका तात्पर्य है। पितृशक्ति और मातृशक्तिके संयोगसे सृष्टिका तत्त्व बताया जाता है, इस लिये श्रीभगवान्‌ने यहां पर 'भारत' और 'कौन्तेय' इन दोनों शब्दोंसे अर्जुनको सम्बोधित किया है ॥ ३–४ ॥

प्रकृतिपुरुषसंयोगका रहस्य बता कर अब बन्धनरहस्य बता रहे हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो! देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ! ॥६॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय! कर्मसंगेन देहिनम् ॥७॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत! ॥८॥

अन्वय—हे महाबाहो! (हे अर्जुन!) सत्त्वं रजः तमः इति प्रकृतिसम्भवाः गुणाः (सत्त्व रज तम प्रकृतिके ये तीन गुण) देहे अव्ययं देहिनं निबध्नन्ति (प्रकृतिकार्यरूपी शरीर इन्द्रियादिमें निर्विकार जीवात्माको बांध लेते हैं)। हे अनघ! (हे निष्पाप अर्जुन!) तत्र (इन गुणोंमें) निर्मलत्वात् प्रकाशकं अनामयं सत्त्वं

(स्फटिककी तरह स्वच्छ होनेसे आत्माका प्रकाश करनेवाला दुःखरहित सुखयुक्त सत्त्वगुण) सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च बध्नाति (सुख और ज्ञानके सम्बन्धसे आत्माको बन्धनमें डालता है)। हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) रागात्मकं रजः (अनुरागरूपी रजोगुणको) तृष्णासङ्गसमुद्भवं विद्धि (अप्राप्त विषयके प्रति आकाङ्क्षारूपी 'तृष्णा' और प्राप्त विषयमें आसक्तिरूपी 'आसङ्ग' इन दोनोंके उत्पन्न करनेवाले जानो) तत् (वह रजोगुण) कर्मसङ्गेन देहिनं निबध्नाति (दृष्ट अदृष्ट फलदेनेवाले कर्ममें फंसा कर आत्माको बांधता है)। हे भारत! (हे अर्जुन!) तमः तु अज्ञानजं सर्वदेहिनां मोहनं विद्धि (तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न तथा सकल प्राणियोंको मोहमें डालनेवाले जानो), तत् (तमोगुण) प्रमादालस्यनिद्राभिः निबध्नाति (प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा आत्माको बन्धनमें डालता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! सत्त्व रज तम प्रकृतिके ये तीन गुण निर्विकार आत्माको शरीर तथा इन्द्रियादिके द्वारा बन्धनमें डाल देते हैं। हे अनघ अर्जुन! इनमेंसे सत्त्वगुण मलिनता-रहित होनेसे सुखमय तथा ज्ञानका प्रकाशक है। यह सुख तथा ज्ञानके अभिनिवेश द्वारा आत्माको बांधता है। रजो-गुण रागात्मक है, तृष्णा तथा आसक्तिकी उत्पत्ति इसीसे होती है। यह कर्मासक्तिके द्वारा जीवको बांधता है। तमोगुण-की उत्पत्ति अज्ञानसे होती है और यह समस्त प्राणियोंको मोहमें डालता है। प्रमाद आलस्य निद्रादिके द्वारा जीवात्माको यह बन्धनमें लाता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें प्राकृतिक गुणोंका स्वरूप तथा इनके द्वारा कैसे कैसे आत्माको बन्धनप्राप्ति होती है सो ही बताया गया है। आत्मा या क्षेत्रज्ञ वास्तवमें नित्यमुक्त है, क्योंकि आत्मा और परमात्मा स्वरूपतः एक ही वस्तु हैं। केवल प्रकृतिके पास रहनेसे गुणोंके साथ बद्धसा जान पड़ता है। यही आत्माका औपचारिक बन्धन है, वास्तविक नहीं। जब साधकको यह अनुभव होने लगता है कि आत्मा वास्तवमें मुक्त है, प्रकृतिके सम्बन्धसे मिथ्याबन्धनकी प्रतीतिमात्र है, तभी वह स्वरूपस्थित हो सकता है। किन्तु इस प्रकार अनुभवसे पहिले आत्मा त्रिगुणबन्धनसे बद्ध ही दीखता है। इसका सत्त्वगुणका बन्धन सुख तथा ज्ञानके अभिनिवेश द्वारा होता है। सत्त्वगुण निर्मल है, इस कारण निर्मल जलमें सूर्यप्रतिबिम्बकी तरह परमात्माके आनन्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूपकी झलक सत्त्वगुण पर अवश्य है। इसी सुख तथा ज्ञानको 'मैं ज्ञानी हूं, मैं सुखी हूं' इस प्रकार अभिमान द्वारा अपनेमें मिलाकर आत्मा सुवर्णशृङ्खल जैसे सत्त्वगुणी बन्धन द्वारा बद्ध दीखता है। सुखरूप तथा ज्ञानरूप बन जाना मोक्ष है, किन्तु अपनेको सुखी या ज्ञानी समझते रहना बन्धन है। क्योंकि इसमें अहन्ता, ममताका सम्बन्ध हुआ। यही सत्त्वगुणके द्वारा आत्माका बन्धन है। रजोगुण अपने रङ्गसे आत्माको रँग लेता है क्योंकि वह रञ्जनात्मक है। वह रङ्ग 'मैं दृष्ट अदृष्ट कर्मोंको करूंगा और उनका फलभोग करूंगा' इस प्रकारसे अप्राप्त विषयके प्रति तृष्णारूपमें तथा प्राप्त विषयके प्रति आसक्तिरूपमें आत्माको लिपट जाता है। यही रजोगुणका बन्धन है। तमोगुणमें अज्ञान तथा मोहिनी शक्ति है। इसके द्वारा प्रमाद, आलस्य तथा निद्रारूपमें आत्माका बन्धन होता है। अज्ञान तथा अविचारकृत दोषको प्रमाद कहते हैं, यह सत्त्वगुण-

विरोधी है। आलस्यमें निश्चेष्टता रहनेसे यह रजोगुणविरोधी है। और निद्रा तमोमयी वृत्ति होनेसे इसमें दोनों गुणोंका ही विरोध है। इस तरह तीन गुणोंके सम्बन्धसे निर्विकार नित्यमुक्त आत्मा भी बद्धसा दीखने लगता है। यही देहीका औपचारिक बन्धन है ॥ ५–८ ॥

पुनरपि गुणोंका स्वरूप बताते हैं—

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ! ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ! ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥१३॥

अन्वय—हे भारत ! (हे अर्जुन !) सत्त्वं सुखे सञ्जयति (सत्त्वगुण देहीको सुखमें फंसा देता है) रजः कर्मणि (रजोगुण उसे कर्ममें फंसा देता है) उत तमः तु ज्ञानं आवृत्य प्रमादे सञ्जयति (और तमोगुण ज्ञानको ढाक कर देहीको प्रमादमें फंसा देता है)। हे भारत ! (हे अर्जुन !) सत्त्वं रजः तमः च अभिभूय भवति (सत्त्वगुण रज तथा तमको दबा कर तब प्रकट होता है) रजः सत्त्वं तमः च एव (रजोगुण सत्त्व तथा तमको दबा कर

प्रकट होता है) तथा तमः सत्त्वं रजः (इस प्रकार तमागुण सत्त्व और रजको दबा कर प्रकट होता है)। यदा अस्मिन् देहे सर्व-द्वारेषु (जिस समय इस देहकी समस्त ज्ञानेन्द्रियोंमें) ज्ञानं प्रकाशः उपजायते (ज्ञानरूपी प्रकाश उत्पन्न होता है) तदा उत सत्त्वं विवृद्धं इति विद्यात् (उस समय जानना चाहिये कि सत्त्व-गुण बढ़ा हुआ है)। हे भरतर्षभ ! (हे अर्जुन !) लोभः प्रवृत्तिः कर्मणां आरम्भः अशमः स्पृहा (लोभ, कर्ममें प्रवृत्ति तथा उसका आरम्भ, अतृप्ति और लालसा) एतानि रजसि विवृद्धे जायन्ते (ये सब लक्षण रजोगुणके बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं)। हे कुरुनन्दन ! (हे अर्जुन !) अप्रकाशः (विवेकका अभाव) अप्रवृत्तिः च (तथा कर्ममें प्रवृत्तिका अभाव) प्रमादः मोहः एव च (प्रमाद और मोह) एतानि तमसि विवृद्धे जायन्ते (तमोगुण के बढ़ने पर ये सब होते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानको ढाक कर प्रमादमें आत्माको बांध देता है। जब रजोगुण तमोगुण दब जाय और सत्त्वगुण प्रबल हो तभी सत्त्वगुणका उदय हुआ ऐसा समझना चाहिये, ऐसे ही सत्त्व तमको दबा कर रजोगुण और सत्त्व रजको दबा कर तमो-गुण प्रकट होता है। समस्त अनुभवशील चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियोंमें जब प्रकाश उपजे तब सत्त्वगुणका उदय हुआ यह जानना चाहिये। ऐसे ही लोभ, प्रवृत्ति, कर्मारम्भ, अतृप्ति तथा लालसा-के बढ़ने पर रजोगुणकी वृद्धि और अविवेक, अप्रवृत्ति, प्रमाद तथा मोहके बढ़ने पर तमोगुणकी वृद्धि समझनी चाहिये।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंके द्वारा जीवित कालमें जीवों पर गुणोंका प्रभाव बताया गया है। गुण वही कहाता है जो प्रबल हो अर्थात् त्रिगुणमय संसारमें सभीके भीतर सभी समय सब गुण रहने पर भी जब जो गुण अन्य गुणोंको दबा कर प्रकट होता है, जीव उसी गुणसे गुणी कहलाता है। इस विज्ञानके अनुसार सत्त्वगुणी वही है जिसमें सत्त्वगुणका स्वाभाविक धर्म प्रकाश तथा ज्ञानका उदय हुआ है। रजोगुणी वही कहलाता है जो लालसाके वशीभूत होकर 'यह करूं, यह मुझे लाभ हो, इतना मिला, और भी इतना मिलना चाहिये' इस प्रकार रात दिन इतस्ततः विक्षिप्तचित्त हो कर्मचक्रमें चलता रहे। और तमोगुणी वह कहाता है जिसके चित्तमें अंधेरा भरा हुआ है, जिसे कुछ सूझे ही नहीं, जो मूढ़ता, अविवेक, जड़ता तथा प्रमादमें फंसा पड़ा हो। यही जीवके जीवित कालमें जीवात्मा पर त्रिगुणकी बन्धनलीला है ॥ ९–१३ ॥

अब मरणकालमें त्रिगुणके प्रभावानुसार मरणानन्तर गतिका रहस्य वर्णन करते हैं—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते ॥१५॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥
सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

अन्वय--यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे देहभृत् प्रलयं याति (जब सत्त्वगुणके उत्कर्षकालमें जीवकी मृत्यु होती है) तदा उत्तमविदां अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते (तब उत्तमज्ञानी देवतादिकोंके सुखमय प्रकाशमय स्वर्गादि लोक जीवको प्राप्त होते हैं)। रजसि प्रलयं गत्वा (रजोगुणके उत्कर्षके समय मर कर) कर्मसङ्गिषु जायते (कर्मासक्तिके स्थान मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है) तथा तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते (इस तरह तमोगुणके वृद्धिकालमें मर कर जीव पशु आदि मूढयोनियोंमें जन्म लेता है) । सुकृतस्य कर्मणः सात्त्विकं निर्मलं फलं आहुः (उत्तम सत्त्वगुणी कर्मका प्रकाशमय तथा सुखमय फल मिलता है ऐसा ज्ञानिगण कहते हैं) रजसः तु दुःखं फलं (रजोगुणी कर्मका दुःखमय फल होता है) तमसः अज्ञानं फलम् (तमोगुणी कर्मका अज्ञानमय फल होता है)। सत्त्वात् ज्ञानं संजायते (सत्त्वगुणके परिणाममें ज्ञान उत्पन्न होता है) रजसः लोभः एव च (रजोगुणके द्वारा आसक्ति या लोभ बढ़ता है) तमसः अज्ञानं प्रमादमोहौ एव च भवतः (और तमोगुणके द्वारा अज्ञान, प्रमाद तथा मोह उत्पन्न होते हैं)। सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वं गच्छन्ति (सत्त्वगुणी पुरुष उन्नत स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं) राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति (रजोगुणी जीव बीचके मनुष्यलोकमें उत्पन्न होते हैं) जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधोगच्छन्ति (निकृष्ट तमोगुण-

की निद्रालस्यप्रमादादि वृत्तियोंमें रहनेवाले जीव पश्वादि नीचेकी योनियोंमें जाते हैं)।

सरलार्थ--सत्त्वगुणकी वृद्धिदशामें प्राणत्याग होने पर उत्तम सुखमय देवलोकमें गति होती है । रजोगुणकी वृद्धि दशामें मरने पर मनुष्यलोकमें और तमोगुणकी वृद्धिदशामें मरने पर पशुयोनिमें जन्म होता है। सात्त्विक कर्मका सुखमय सात्त्विक फल है, राजसिक कर्मका दुःखमय और तामसिक कर्मका अज्ञानमय फल है । सत्त्वगुणसे ज्ञानकी, रजोगुणसे लोभकी और तमोगुणसे प्रमाद, मोह तथा अज्ञानकी उत्पत्ति होती है । सत्त्वगुणी जीव ऊपरके लोकोंमें, रजोगुणी जीव बीचके मनुष्यलोकमें और निकृष्ट तामसी वृत्तिवाले जीव नीचेकी योनियोंमें या नरकादिमें जाते हैं ।

चन्द्रिका--इन श्लोकोंमें त्रिगुणानुसार जीवोंकी प्रवृत्ति तथा मरणानन्तर सुगति या दुर्गतिके विषयमें वर्णन किया गया है । मृत्यु-कालीन प्रबल संस्कारके अनुसार जीवोंको आगामी जन्म मिलता है। इसी कारण सत्त्वादि गुणोंके संस्कारतारतम्यानुसार ऊर्द्ध्वगति या अधोगति प्राप्त होना स्वाभाविक है । स्वर्गादि लोक सत्त्वगुणमय, मनुष्यलोक रजःप्राधान्यसे युक्त और पश्वादि योनि तमोगुणप्रधान है । सत्त्वगुणमें आत्माका प्रकाश रहनेसे वह आनन्दमय तथा ज्ञानमय है, रजोगुण रागात्मक होनेसे प्रवृत्तिमूलक है, प्रवृत्ति भोगादिद्वारा बढ़ा ही करती है, घटती नहीं, इस कारण रजोगुणी जीव निरन्तर प्रवृत्तिके दास बन कर दुःख पाते हैं, और तमोगुण अज्ञान, प्रमाद आदिका उत्पादक होनेसे

अधोगतिका कारण बनता है, यही इन श्लोकोंमें वर्णित विज्ञानका निष्कर्ष है ॥ १४-१८ ॥

गुणोंका स्वरूप बता कर अब उनसे उपराम होनेका रहस्य बता रहे हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्यु जरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

अन्वय—यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यं कर्त्तारं न अनुपश्यति (जब विवेकी पुरुष जान लेता है कि गुणोंके अतिरिक्त दूसरा कोई कर्त्ता नहीं है) गुणेभ्यः च परं वेत्ति (और गुणोंसे परे आत्माको जान लेता है) सः मद्भावं अधिगच्छति (तब वह मेरे स्वरूपमें मिल जाता है)। देहसमुद्भवान् एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य (देहकी उत्पत्तिके कारण इन तीन गुणोंको अतिक्रम करके) जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः (जन्म मृत्यु जरा तथा आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखोंसे मुक्त होकर) देही अमृतं अश्नुते (देहधारी जीव मोक्षलाभ कर लेता है)।

सरलार्थ—प्राकृतिक तीन गुणोंके द्वारा ही सब कुछ होता है, आत्मा इससे परे और इसका उदासीन द्रष्टामात्र है ऐसा जब विवेकी पुरुषको अनुभवमें आ जाता है तब उसे ब्रह्मभाव-की प्राप्ति होती है। देहधारी जीव देहोत्पत्तिके कारण इन तीन गुणोंको अतिक्रम करके जन्म मृत्यु जरा तथा त्रिविध तापोंसे मुक्त होकर अमृतत्वलाभ कर लेता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें त्रिगुणसे उपराम होनेका तत्त्व बताया गया है। बन्धनदशामें जीव समस्त त्रिगुण परिणामको अपने ही ऊपर आरोपित करके अपनेको त्रिगुणजन्य सुख-दुःखमोहका अधीन समझता है। किन्तु जिस समय विवेककी सहायतासे उसे पता लगता है कि समस्त कर्मचक्र तीन गुणोंका ही बनाया हुआ है और पुरुष उससे परे उदासीनरूप है, तभी जीव बन्धनदशाको काटकर परमात्मामें लवलीन हो जाता है। ऐसे स्वरूपस्थित पुरुषको पुनः जन्म जरा मृत्युके चक्करमें नहीं आना पड़ता है। यही पुरुषकी गुणोंसे अतीत स्वरूपस्थित अमृतमय सर्वोत्तम दशा है। सांख्यदर्शनमें अपनी ज्ञानभूमिके अनुसार इस दशाके साथ केवल उदासीन पुरुषका ही सम्बन्ध दिखाया गया है, किन्तु गीतामें ऐसे गुणातीत पुरुषको पुरुषोत्तम भगवान्में लवलीन तक कर दिया गया है, यही भगवद्गीताकी परम आस्तिकतामयी विशेषता है ॥१९—२०॥

अब प्रसङ्गसे अर्जुन गुणातीत मुक्तात्माके लक्षण, आचार तथा गुणातीत होनेके उपायोंको पूछते हैं।

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते ॥२१॥

अन्वय—हे प्रभो ! (हे भगवन् !) कैः लिङ्गैः एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः भवति (किन लक्षणोंसे जाना जाता है कि पुरुष त्रिगुणातीत हुआ है), किमाचारः (ऐसे पुरुषका आचार कैसा होता है), कथं च एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्त्तते (और किस उपायसे इन तीन गुणोंको वह अतिक्रम करता है सो बताइये)।

सरलार्थ—अर्जुनने पूछा—हे प्रभो ! त्रिगुणातीत पुरुषके क्या क्या लक्षण हैं, उनके आचार कैसे होते हैं और त्रिगुणातीत होनेका उपाय क्या है सो बताइये ।

चन्द्रिका—इस श्लोकके द्वारा अर्जुनने ये ही तीन प्रश्न किये हैं, जिनके उत्तर श्रीभगवान्‌ने क्रमशः दिये हैं । श्रीभगवान् 'प्रभु' हैं, इस कारण दासोंके सन्देह दूर करनेकी कृपा करेंगे । यही 'प्रभु' सम्बोधनका तात्पर्य है ॥२१॥

प्रश्नोंका उत्तर श्रीभगवान् देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

अन्वय—हे पाण्डव ! (हे अर्जुन !) प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहं एव च (प्रकाशादि सत्त्वगुणके कार्य, प्रवृत्ति आदि रजोगुणके कार्य और मोह आदि तमोगुणके कार्यको) संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि (स्वभावतः आ जाने पर जो द्वेष नहीं करता है) निवृत्तानि

न कांक्षति (स्वभावतः निवृत्त हो जाने पर जो आकांक्षा नहीं करता है), यः उदासीनवत् आसीनः गुणैः न विचाल्यते (निर्लिप्त साक्षीरूपसे रह कर जो गुणोंके द्वारा विचलित नहीं होता है) गुणाः वर्त्तन्ते इत्येवं यः अवतिष्ठति (गुण अपना काम कर रहा है मैं उनके बन्धनमें नहीं हूँ ऐसा समझ कर जो स्थिर रहता है) न इङ्गते (चञ्चल नहीं होता है), समदुःखसुखः (सुखदुःखमें एकभावापन्न तथा विकाररहित) स्वस्थः (अपने ही स्वरूपमें स्थित) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (मिट्टी, पत्थर और सोनेमें यह अच्छा यह बुरा है इस प्रकार हेयोपादेयभावरहित) तुल्यप्रियाप्रियः (प्रिय अप्रियदोनोंमें एकभावापन्न) धीरः (विकारका कारण उपस्थित होने पर भी अविकृत) तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः (अपनी निन्दा तथा स्तुतिमें समभावयुक्त) मानापमानयोः तुल्यः मित्रारिपक्षयोः तुल्यः (मान अपमान और शत्रुमित्रमें एकभावापन्न) सर्वारम्भपरित्यागी (वासनारहित होनेके कारण जो किसी कामको स्वयं नहीं प्रारम्भ करता है, केवल स्वतःप्राप्त कार्योंको करता है) सः गुणातीतः उच्यते (उसीको गुणातीत कहा जाता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! त्रिगुणके किसी भी व्यापारके सामने आने पर भी जो द्वेष नहीं करता है और व्यापारके अभावमें भी उसकी ओर जिसकी लालसा नहीं लगी रहती है, गुणसमूह अपने प्राकृतिक रूपसे आते जाते रहते हैं ऐसा समझ जो उनके द्वारा विचलित न होकर उदासीन साक्षीवत् रहा करता है, जो सुखदुःख, प्रिय अप्रिय, निन्दा स्तुति, मान अपमान, मित्र शत्रु आदि सभी विरुद्ध भावोंमें एकभावापन्न रहता है, जो अपने ही

स्वरूपमें स्थित, विकारहेतुके सम्मुख भी विकारहीन, मिट्टी, पत्थर सोनेमें हेयोपादेयभावरहित और वासनाशून्यताके कारण आरम्भ-शून्य भी होता है उसे ही गुणातीत मुक्तात्मा जानना चाहिए ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें गुणातीत मुक्तात्मा पुरुषके लक्षण तथा आचार बताये गये हैं । त्रिगुणसे परे ब्रह्मस्वरूपमें स्थित मुक्तात्मा पुरुषके ऊपर प्रकृतिके किसी व्यापार या परिणामका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है । वे उनके प्रति न राग ही रखते हैं और न द्वेष ही रखते हैं । गुणोंके उदय या अस्तमें उनके चित्तमें कोई भी अच्छा या बुरा भाव उत्पन्न नहीं होता है । इस प्रकार एकभावापन्न तथा रागद्वेष-शून्य रहना ही गुणातीत मुक्तात्माका लक्षण है और यही प्रथम प्रश्नका उत्तर है । द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान्‌ने बाकी तीन श्लोक कहे हैं । गुणातीत महात्मा उदासीनकी तरह गुणोंको केवल देखते रहते हैं किन्तु डिगते नहीं । वे स्वरूपस्थित तथा विकारके सामने भी विकाररहित रह कर सुखदुःख, स्तुति निन्दा आदि द्वन्द्वभावमें एकभावापन्न रहते हैं, उनमें वासनायें नहीं रहती हैं, इस लिये 'आरम्भत्यागी' रूपसे स्वयं कोई भी कार्य वे प्रारम्भ नहीं करते हैं । केवल प्रवाहपतितरूपसे आपसे आप प्राप्त कार्योंको निष्काम भावसे करते हैं । यही गुणातीत मुक्तात्मा पुरुषका अलौकिक आचार है ॥ २२-२५ ॥

अब इस अनुपमस्थिति लाभका उपाय बता कर प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं—

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

अन्वय—यः च मां अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते (जो एकनिष्ठ भक्तियोगके द्वारा मेरी सेवा करता है) सः एतान् गुणान् समतीत्य (वह तीन गुणोंको अतिक्रम करके) ब्रह्मभूयाय कल्पते (ब्रह्मभावको पा जाता है)। हि (क्योंकि) अमृतस्य अव्ययस्य च ब्रह्मणः (अमृत अव्यय ब्रह्मका) शाश्वतस्य धर्मस्य च ऐकान्तिकस्य सुखस्य च (नित्य धर्म तथा आत्यन्तिक सुखका) अहं प्रतिष्ठा (मैं ही आश्रयरूप हूं)।

सरलार्थ—एकनिष्ठ भक्तियोगके साथ मेरी उपासना जो मुमुक्षु करता है वह त्रिगुणातीत होकर ब्रह्मरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, क्योंकि अमृत अव्यय ब्रह्म, सनातन धर्म तथा आत्यन्तिक सुख सभीका आश्रय मैं ही हूं।

चन्द्रिका—'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा विवेकमूलक ज्ञानयोगकी सहायतासे गुणातीत होनेका उपाय बता कर अब इस श्लोकमें ज्ञान उपासनाके समुच्चय प्रदर्शनार्थ श्रीभगवान्‌ने गुणातीत पदवीप्राप्तिके लिये भक्तियोगकी महिमा बताई है। सुखके लोभसे ही गुणमयी मायामें जीव फंसता है। अतः किसी उत्तम सुखके मिले बिना जीवके लिये गुणोंका बन्धन छूटना कठिन होता है।

भक्तियोग या उपासना योगके साथ आनन्दकन्द भगवान्‌की आनन्द-सत्ताका साक्षात् सम्बन्ध है । इस कारण त्रिगुणातीत होनेके लिये भक्तियोग ही सरल तथा उत्कृष्टतम उपाय है । भक्तियोगके द्वारा भक्त भगवान्‌की आनन्दसत्तामें लवलीन हो त्रिगुणके काल्पनिक सुखबन्धनसे अनायास ही मुक्त हो सकता है और स्वरूपप्रतिष्ठा को पा सकता है । यही कारण है कि ज्ञानयोगको वर्णनाके बाद श्रीभगवान्‌ने स्वरूपप्रतिष्ठाके लिये एकनिष्ठ भक्तिकी इतनी महिमा बताई है । श्रीभगवान् वासुदेव ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं अर्थात् उन्हींके स्वरूपमें ब्रह्म ठहरता है अर्थात् उन्हींका स्वरूप ब्रह्म है, धर्मकी मोक्षमयी अन्तिम स्थिति भी उन्हींमें है और दुःखहीन सुखदुःखसे अतीत नित्यानन्दकी स्थिति भी उन्हींमें है, इस कारण उन्हींके प्रति एकनिष्ठ भक्तिके द्वारा भक्त त्रिगुणचक्रसे अतीत हो ब्रह्मस्वरूपमें अनन्त विश्रामलाभ कर सकता है, यही इन श्लोकोंका तात्पर्य है ॥ २१–२७ ॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

चतुर्दश अध्याय समाप्त ।

पञ्चदशोऽध्यायः।

पूर्वाध्यायमें आनन्दनिदान, धर्ममोक्षकी प्रतिष्ठारूपी परमात्माके विषयमें जो कुछ इङ्गित तथा एकान्त भक्तिके द्वारा उनकी प्राप्तिके विषयमें विचार किया गया था, उसीका विस्तार इस अध्यायमें किया गया है। विना यथार्थ वैराग्यके भगवच्चरणोंमें अनुराग उत्पन्न नहीं होता है, इस कारण प्रथमतः संसारवृत्तका वर्णन करके इस अध्यायमें उपासकके चित्तमें वैराग्य तथा भगवदनुराग लानेका प्रयत्न किया गया है। तदनन्तर तत्त्वविवेचनप्रसङ्गमें परमात्मा, जीव, क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम आदि कितने ही निगूढ़ विषयोंमें मार्मिक विचार प्रकट किये गये हैं। इस प्रकारसे वैराग्य, भक्ति, भक्त, भगवान् इत्यादि कठिन तत्त्वों पर मधुर प्रकाशको पाकर यह अध्याय अतीव रमणीय तथा उपदेशप्रद बन गया है। अब अर्जुनका मनोरथ जानकर विना पूछे ही भगवान् भक्तचित्तमें वैराग्य-भक्ति सम्पादनार्थ श्रुतिकथित संसारवृत्तका वर्णन कर रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्द्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

अन्वय—ऊर्द्ध्वमूलं (ऊपरकी ओर ब्रह्मरूपी जिसका मूल है) अधःशाखं (नीचेकी ओर महत्तत्त्वसे पृथिवी पर्यन्त समस्त प्रकृतिपरिणाम या हिरण्यगर्भसे पश्वादि जड़ योनि पर्यन्त समस्त जीवपरिणाम जिसकी शाखा है) अव्ययं (क्षणभङ्गुर

तथा प्रतिक्षणपरिणामी होने पर भी प्रवाहरूपमें नित्य) अश्वत्थं प्राहुः (इस प्रकारके संसाररूपी अश्वत्थ वृक्षका वर्णन ज्ञानियोंने किया है), छन्दांसि यस्य पर्णानि (वेद जिस अश्वत्थ वृक्षके पत्ते हैं) तं यः वेद सः वेदवित् (ऐसे अश्वत्थको जो जानता है वही सच्चा वेदवेत्ता है)।

सरलार्थ—संसारको ज्ञानियोंने एक अश्वत्थ वृक्ष करके बताया है जिसका मूल ऊपरकी ओर, शाखा नीचेकी ओर है और वेद जिसके पत्र हैं, ऐसे अश्वत्थको जो जानता है वही यथार्थमें वेदवेत्ता है।

चन्द्रिका—यह श्लोक कठोपनिषत्में वर्णित 'उद्र्ध्वमूलोऽवाकशाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' इस मन्त्रकी प्रतिध्वनिमात्र है। संसार अश्वत्थ वृक्षकी तरह है। 'न श्वः अपि स्थाता' कल रहेगा कि नहीं यह भी जिसका निश्चय नहीं है वह 'अश्वत्थ' है। प्रबलवेगवती नदीके तीरवर्त्ती अश्वत्थके कल रहने या न रहनेका क्या ठिकाना है? उसी प्रकार संसार भी क्षण-भङ्गुर तथा प्रतिक्षणपरिणामी है। इसी कारण संसारकी अश्वत्थ वृक्षके साथ तुलना की गई है। संसार क्षणभङ्गुर होनेपर भी 'बीजवृक्षन्याय' से प्रवाहरूपमें अनादि और नित्य है, एक एक जीवका नाश हो जाने पर भी समष्टि सृष्टिका प्रवाह कभी नष्ट होनेवाला नहीं है, इस लिये अश्वत्थको 'अव्यय' कहा गया है। जिस प्रकार वायु तथा नदीजलके वेगसे आधे गिरे हुए अश्वत्थका मूल ऊपरकी ओर तथा शाखाएं नीचेकी ओर हो जाती हैं ऐसा ही दृष्टान्त यहां समझ लेना चाहिये। संसारका मूल क्षर–अक्षर सबसे परे, सबसे ऊंचा ब्रह्म है इस लिये अश्वत्थ 'ऊद्र्ध्वमूल' है। उसी मूलभूत

परमात्माकी शक्तिरूपिणी महामायासे नीचेकी ओर निखिलसृष्टिधारा चल पड़ी है जिसमें हिरण्यगर्भादि देवताओंसे लेकर जड़योनिके पश्वादि जीव-पर्यन्त है और तत्वविचारसे महत्तत्वसे लेकर स्थूलभूत पृथिवी तत्व पर्यन्त है, इस लिये ये ही सब अश्वत्थकी अधोविस्तृत शाखारूपसे बताये गये हैं। जिस प्रकार 'पत्र' वृक्षको आच्छादित करके उसकी तथा वृक्षनिवासी पक्षी आदिकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार वेदने भी धर्माधर्म निर्णयकारी मन्त्र तथा क्रियाकाण्डके द्वारा संसारकी अनादिस्थिति बना रक्खी है, इस कारण संसारवृक्षके वेद ही पत्र रूप कहे गये हैं। संसार तथा उससे परे ब्रह्मका तत्त्व जानना ही यथार्थ ज्ञान है और वेद ही इस ज्ञानका प्रतिपादक है, अतः 'अश्वत्थ' का ज्ञाता ही यथार्थमें वेदवेत्ता है यही सिद्धान्त प्रमाणित हुआ ॥ १ ॥

अश्वत्थके अन्यान्य अवयव भी बताये जाते हैं—

अधश्चोर्द्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

अन्वय—तस्य गुणप्रवृद्धाः विषयप्रवालाः शाखाः अधः ऊर्द्ध्वं च प्रसृताः (संसाररूपी अश्वत्थ वृक्षकी जीवरूपी शाखायें जो कि त्रिगुणरूपी जलसेचनसे पुष्ट हुई हैं और जिनमें रूपरस गन्ध आदि विषयरूपी अङ्कुर निकले हुए हैं, नीचे जड़योनि तक और ऊपर सत्यलोक तक तथा ब्रह्मादि देवता पर्यन्त विस्तृत हैं) मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि मूलानि (मनुष्यलोकमें जिनके

द्वारा धर्माधर्मरूपी कर्म उत्पन्न हो सकेंगे ऐसे अनेक मूल) अधः च अनुसन्ततानि (ऊपरको तरह नीचे भी गहरे चले गये हैं)।

सरलार्थ--संसाररूपी अश्वत्थ वृक्षकी त्रिगुणपुष्ट विषय-पल्लवयुक्त शाखाएं ऊपर नीचे दोनों ओर फैली हुई हैं। और मनुष्यलोकमें धर्माधर्मरूपी कर्मोंको उत्पन्न करनेवाले कुछ मूल भी नीचे बहुत दूर तक चले गये हैं। ऐसा वह अश्वत्थ तरु है।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें संसारतरुके और भी अनेक अवयव बनाये गये हैं। उसकी जीवरूपी शाखाएं ऊपर सत्यलोक तक और देवयोनिमें ब्रह्मा तक तथा नीचे पश्वादि जड़योनि तक फैली हुई हैं क्योंकि चतुर्दशभुवनोंमें यही सब जीव विस्तार क्षेत्र है। तीन गुणके अनुसार जीव ऊपर नीचेकी योनियोंमें जाता है इस कारण जलपुष्ट वृक्षशाखाओंकी तरह संसारवृक्षकी जीवशाखाओंको त्रिगुणपुष्ट कहा गया है। जिस प्रकार शाखाके अग्रभागमें पल्लव निकलते हैं, ऐसे ही रूपरसादि इन्द्रियविषय भी संसारवृक्षकी शाखाओंके पल्लवरूप हैं। इसके अतिरिक्त संसारवृक्षमें अन्यान्य वृक्षोंकी तरह प्रधान मूलके आसपास कुछ और भी फैले हुए मूल हैं। रागद्वेषके कारण वासना ही ये सब मूल हैं। इनका सम्बन्ध मनुष्यलोकसे है। क्योंकि मनुष्यलोक ही कर्मभूमि है। यहीं पर रागद्वेषमय कर्म करके जीव ऊर्ध्वलोक या अधोलोकोंमें गति-को पाता है। इसलिये ये सब मूल 'कर्मानुबन्धी' अर्थात् धर्माधर्मरूपी कर्मोंको पश्चात् उत्पन्न करनेवाले हैं। ये सब मूल 'अधः च' अर्थात् ऊर्ध्वलोककी तरह अधोलोक पर्यन्त फैले हुए हैं क्योंकि मनुष्यलोकमें अनुष्ठित वासनाजन्य उत्तमाधम कर्मोंके द्वारा ही उच्च नीच गति जीवोंको

प्राप्त हुआ करती है। यही संसारवृक्षके अन्यान्य अवयवोंका रहस्यमय वर्णन है॥ २॥

विचित्र संसारवृक्षका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करके अब उसके नाश और तदनन्तर परमपद प्राप्तिका रहस्य बता रहे हैं—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा॥ ३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्त्तन्ति भूयः
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥४॥

अन्वय—इह अस्य रूपं न उपलभ्यते (मानसी सृष्टि होनेके कारण यहां उस वृक्षका रूप देखनेमें नहीं आता है) तथा न अन्तः न च आदिः न च संप्रतिष्ठा (वैसे ही उसके अन्त, आदि तथा स्थिति भी देखनेमें नहीं आती है), एनं सुविरूढमूलं अश्वत्थं दृढेन असङ्ग-शस्त्रेण छित्वा (अत्यन्तदृढ़ जड़वाले इस अश्वत्थ वृक्षको अनाशक्तिरूपी तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा छेदन करके) ततः तत् पदं परिमार्गितव्यं यस्मिन् गताः भूयः न निवर्त्तन्ति (तदनन्तर उस परमपदका अन्वेषण करना चाहिये जहां पहुंच जाने पर पुनः लौटना नहीं पड़ता है) यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता (जिसकी महती शक्तिसे सृष्टि अनादिकालसे चली

आती है) तं एव च आद्यं पुरुषं प्रपद्ये (उसी आदिपुरुषकी मैं शरण लेता हूं, अन्वेषणमें यही भावना रखनी चाहिये)।

सरलार्थ—इस लोकमें उस अश्वत्थतरुका आकार देखने-में नहीं आता है और न उसके आदि अन्त तथा स्थिति ही प्रतीत होती हैं। अतिदृढ़मूल उस अश्वत्थको अनासक्तिरूपी तीक्ष्ण अस्त्रद्वारा छेदन करके पश्चात् उसी परम पदका अन्वेषण करना चाहिये जहांसे जाकरके इस संसारमें पुनः लौटना नहीं पड़ता है और इस अन्वेषणमें यही भावना रखनी चाहिये कि "चिरन्तन संसारप्रवृत्तिके आदिकारण उस आदिपुरुषकी शरणमें मैं हूँ"।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें संसारतरुके निर्मूल करनेका उपाय बताया गया है। जब विषय वासना ही उस वृक्षका मूल है तो उसका स्थूल आकार दृष्टिके सामने न होकर हृदयके भीतर ही होना चाहिये। इसी कारण 'उसका रूप नहीं दीखता' ऐसा कहा गया है। वासना अनादि है, कब इसका नाश होगा या कब तक उसकी स्थिति रहेगी इसका कुछ भी पता नहीं लग सकता है, इस कारण संसारवृक्षका भी आदि नहीं, अन्त नहीं और स्थिति नहीं—ऐसा वर्णन किया गया है। जब वासना उसकी जड़ है तो वासनाहीनता या अनासक्ति ही उस जड़का काटनेवाला तीक्ष्ण कुठार हो सकता है। अतः 'असङ्ग ही शस्त्र' है ऐसा कहा गया। जिससे सृष्टि चली है उसकी शरण लिये बिना सृष्टि नहीं टूटती, मायीकी शरणमें गये बिना माया नहीं टूटती, इस लिये संसारतरुके प्रभावसे मुक्त होनेके लिये परम पदका अन्वेषण करना ही एक मात्र उपाय है॥ ३-४॥

परम पद कैसे प्राप्त होते हैं सो बता रहे हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

अन्वय—निर्मानमोहः (मानमोहसे रहित) जितसङ्गदोषाः (स्त्री पुत्रादिकोंमें आसक्तिरूपी दोषको जिनने जीत लिया है) अध्यात्मनित्याः (परमात्मविषयक चर्चामें सदा रत) विनिवृत्तकामाः (कामनारहित) सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः (सुखदुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त) अमूढाः (अविद्यारहित) तत् अव्ययं पदं गच्छन्ति (इस प्रकारके महात्मागण उस अव्यय परम पदको पाते हैं)।

सरलार्थ—मानमोहसे रहित, सङ्गदोषके जीतनेवाले, सदा अध्यात्मचिन्तनमें निरत, कामनाशून्य, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त, अविद्या निर्मुक्त महात्मागण उस अव्ययपदको पाते हैं।

चन्द्रिका—प्रकृतिके वेगको शान्त करना और परमात्मचिन्तनमें निरन्तर लगे रहना इन दोनों उपायोंके साथ ही साथ होते रहनेसे तब परम पदकी प्राप्ति होती है। इस लिये इस श्लोकमें मानमोहसङ्ग आदि प्राकृतिक विषयोंका त्याग और अध्यात्मचिन्तनरूपी-परमात्मविषयका ग्रहण इन्हीं दो उपायोंको परमपदप्राप्तिके साधनरूपसे बताया गया है ॥५॥

वह पद कैसा है सो बता रहे हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

अन्वय—यत् गत्वा न निवर्त्तन्ते तत् मम परमं धाम (जिस पदको पाकर संसारमें पुनः लौटना नहीं पड़ता है वह मेरा परम पद है) तत् न सूर्यः भासयते न शशांकः न पावकः (सूर्य, चन्द्र या अग्नि किसीकी भी अपेक्षा उसके प्रकाशित करनेके लिये नहीं होती है)।

सरलार्थ—जिस पदको पाकर संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती है, वही मेरा परम पद है। उसे न सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि प्रकाशित करता है।

चन्द्रिका—संसारको सूर्य प्रकाशित करता है, सूर्यके अस्त हो जाने पर चन्द्र और चन्द्रके अस्त हो जाने पर अनल प्रकाशित करता है। किन्तु सूर्य, चन्द्र, अग्नि सभीको जिस परमात्मासे प्रकाश प्राप्त हुआ है, उसे ये सब कैसे प्रकाशित कर सकते हैं? इस कारण ये सब आत्माके प्रकाशक नहीं हैं और न प्रकृतिसे परे परमात्मा तक इन प्राकृतिक वस्तुओंकी पहुंच ही हो सकती है, वस्तुतः परमात्मा ही इन सबका प्रकाशक है। यथा श्रुतिमें—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

सूर्यचन्द्रादि परमात्माको प्रभा नहीं देते हैं, किन्तु उसीके द्वारा प्रभायुक्त होकर जगत्को प्रकाशित करते हैं। परमात्मा त्रिगुणसे परे है, इस लिये वहां पहुंच जाने पर त्रिगुणमय संसारके चक्करमें जीवको पुनः नहीं आना पड़ता है, यही परमधामका तत्त्व है॥ ६॥

परम पद तथा उसकी प्राप्तिका उपाय बता कर उससे पहली दशाका वर्णन कर रहे हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

अन्वय—मम एव सनातनः अंशः जीवभूतः (मेरा ही सनातन अंश जीवभावको प्राप्त होकर) जीवलोके (संसारमें) प्रकृतिस्थानि मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि कर्षति (प्रकृतिमें रहनेवाली मनसहित छः अर्थात् मन और पांच ज्ञानेन्द्रियोंको आकर्षण करता है) । ईश्वरः यत् शरीरं अवाप्नोति यत् च अपि उत्क्रामति (देहका स्वामी जीव जिस देहको पाता है और जिस देहको छोड़ निकल जाता है) वायुः आशयात् गन्धान् इव (उस समय जैसा कि वायु पुष्पादियोंसे गन्धरूपी सूक्ष्मांशोंको ले जाता है ऐसा ही) एतानि गृहीत्वा संयाति (मन और सूक्ष्म इन्द्रियोंको खींच ले जाता है)। अयं (जीव) श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं

च रसनं घ्राणं एव च मनः च अधिष्ठाय विषयान् उपसेवते (कान, आंख, त्वचा, जीभ, नाक और मनमें ठहर कर विषयोंको भोगता है)। उत्क्रामन्तं स्थितं वा अपि (शरीरसे निकल जानेवाले अथवा शरीरमें रहनेवाले) भुञ्जानं वा गुणान्वितं (अथवा त्रिगुणसे युक्त विषय भोगनेवाले जीवको) विमूढाः न अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति (अविवेकी जन नहीं देख सकते, केवल ज्ञानदृष्टिसम्पन्न विवेकिगण देखते हैं)। यतन्तः योगिनः च एनं आत्मनि अवस्थितं पश्यन्ति (आत्मदर्शनके प्रयत्नमें लगे हुए योगिगण आत्माको अपनेमें स्थित देखते हैं) यतन्तः अपि अकृतात्मानः अचेतसः एनं न पश्यन्ति (प्रयत्न करने पर भी अविशुद्धचित्त मन्दमतिगण आत्माको नहीं देख पाते हैं)।

सरलार्थ—जीवलोकमें जो जीव कहलाता है वह मेरा ही सनातन अंश है। जीवदशामें वही अंश प्रकृतिमेंसे भोगार्थ मन तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियोंको खींच लेता है। जिस प्रकार पवन पुष्पोंसे अतिसूक्ष्म गन्धद्रव्यको आकर्षण कर ले जाता है, ऐसे ही जीव भी जिस शरीरको पाकर पश्चात् निकलने लगता है उस समय उस शरीर से मन और पञ्चेन्द्रियको साथ ले जाता है। कर्ण, चक्षुरादि ये ही पांच इन्द्रिय तथा मन पर अधिष्ठान करके यही जीव रूपरसादि विषयोंका उपभोग करता है। इस तरहसे शरीरसे निकलते हुए, शरीरमें ठहरते हुए अथवा त्रिगुणसम्बद्ध होकर विषयोंको भोगते हुए जीवात्माको ज्ञानिगण ही देख

सकते हैं, अज्ञानी लोग नहीं देख सकते। आध्यात्मिक पथमें यत्नशील योगिगण भी इस जीवात्माको अपनेमें अनुभव कर लेते हैं, किन्तु अविशुद्धचित्त मन्दमतिगण यत्न करने पर भी जीवात्माके दर्शन नहीं कर पाते।

चन्द्रिका—परमात्माका अविनाशी अंश होनेके कारण जीवात्मा भी स्वरूपतः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। किन्तु साधकको एकाएक आत्माका यह स्वरूप अनुभवमें नहीं आता है, बल्कि प्रकृतिके समीपस्थ रहनेके कारण आत्मा प्राकृतिक त्रिगुण तथा सुखदुःखादिमें जकड़ा हुआ ही देखनेमें आता है। यही आत्माका औपचारिक बन्धन कहलाता है। सर्वत्र व्याप्त परमात्माका 'अंश' होना असम्भव होने पर भी घटमध्यवर्त्ती आकाश जिस प्रकार व्यापक आकाशसे पृथक् प्रतीत होता है, ऐसा ही जीवको भी परमात्माका अंश समझना चाहिये। वास्तवमें जीवात्मामें न बन्धन ही है और न अंशांशिभावकी कोई सत्यता ही वहां पर है। इस प्रकारसे काल्पनिक बन्धन द्वारा यह आत्मा अपने काल्पनिक विषयभोगके लिये इन्द्रियोंके राजा मनको तथा भोगदेनेवाली पञ्चज्ञानेन्द्रियोंको प्रकृतिसे आकर्षण करता है और इन्हींकी सहायतासे शरीरमें रह कर रूपरसादि विषयोंमें मुग्ध रहता है, पुराने शरीरको छोड़ भोगार्थ नवीन शरीरोंको ग्रहण करता रहता है और मुक्ति पर्यन्त यही लीला जीवकी बनी रहती है। अकृतात्मा विषयी लोग इस भोगरहस्यको नहीं जान पाते हैं। केवल प्रकृति पारावारके परे गये हुए ज्ञानिगण ही उदासीनकी तरह इस अपूर्व रहस्यको देखा करते हैं और स्वयं इनसे पृथक् रह कर मुमुक्षुजनोंको पृथक् होनेका रहस्यमय उपदेश दिया करते हैं। यही इन श्लोकोंमें वर्णित तत्त्व है॥ ७—११॥

अंशका वर्णन करके पूर्णके स्वरूपवर्णनके लिये उसकी विभूतिका वर्णन कर रहे हैं –

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

अन्वय—आदित्यगतं यत् तेजः अखिलं जगत् भासयते (जो तेज सूर्यमें रह कर समस्त जगत्को प्रकाशित करता है) यत् चन्द्रमसि यत् च अग्नौ (चन्द्रमा तथा अग्निमें जो तेज है) तत् तेजः मामकं विद्धि (उसे मेरा ही तेज जानो)। अहं च गां आविश्य ओजसा भूतानि धारयामि (मैं पृथिवीमें प्रवेश करके अपने बलसे चराचर भूतोंको धारण करता हूँ) रसात्मकः सोमः च भूत्वा सर्वाः ओषधीः पुष्णामि (और रसस्वभाव चन्द्र होकर समस्त औषधियोंको पुष्ट करता हूँ)। अहं वैश्वानरः भूत्वा प्राणिनां देहं आश्रितः (मैं वैश्वानर नामक जठराग्नि होकर प्राणियोंके देहको आश्रय करके) प्राणापानसमायुक्तः (जठराग्निवर्द्धक प्राण तथा अपान वायुसे संयुक्त हो) चतुर्विधं अन्नं पचामि (चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय रूपी चार प्रकारके

अन्नको पचाता हूँ) अहं सर्वस्य हृदि सन्निविष्टः (मैं सबके हृदयमें अधिष्ठान करता हूँ) मत्तः स्मृतिः ज्ञानं अपोहनं च (स्मृति, ज्ञान और इनका नाश मुझसे ही होता है) सर्वैः वेदैः च अहं एव वेद्यः (सकल वेदोंके द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ) वेदान्तकृत् वेदवित् च अहं एव (और वेदके अन्तरूपी आत्मज्ञान सम्प्रदायका प्रवर्त्तक तथा वेदतत्त्वका ज्ञाता मैं ही हूँ)।

सरलार्थ—सूर्यमें रह कर निखिल जगत्में प्रभा देने वाला तथा चन्द्रमा और अग्निमें विद्यमान तेज मेरा ही है। पृथिवीमें प्रविष्ट होकर चराचर भूतोंको अपनी शक्तिसे मैं ही धारण करता हूँ, और रसमय सुशीतल चन्द्ररूपसे व्रीहि यवादि ओष-धियोंको मैं ही परिपुष्ट करता हूँ । जीवोंके उदरमें स्थित वैश्वानर नामक जो अग्नि प्राण-अपानके साथ मिलकर चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेय चार प्रकारके अन्नको पचाया करती है, वह अग्नि मैं ही हूँ। सबके हृदयमें मैं ही अधिष्ठित हूँ, स्मृति, ज्ञान और उसका नाश मुझसे ही होता है, सकल वेदोंका वेद्य, सकल वेदोंका वेत्ता तथा वेदान्तकर्त्ता मैं ही हूँ।

चन्द्रिका—पुरुषोत्तमविज्ञान बतानेसे पहिले इनकी विभूतियों-का कुछ वर्णन इन श्लोकोंके द्वारा किया गया है । निखिल वस्तुओंके मूलमें विद्यमान् सभीका प्रकाशक, सभीका सञ्चालक तेज श्रीभगवान्का ही है, इसलिये सूर्य चन्द्र अग्निमें स्थित तेज, पृथिवी सञ्चालक तेज, जलमय चन्द्रका ओषधीपोषक तेज, अन्नपाचनकारी वैश्वानर

नामक तेज सभी कुछ उन्हींका तेज या उन्हींकी शक्ति है। स्मृति-ज्ञानका उद्दीपक दैवतेज भी उन्हींका है और कामक्रोधादिके समय स्मृति-ज्ञान-नाशकारी आसुरीतेज भी उन्हींका है। वेद 'नेति नेति' शब्दोंसे उन्हींके स्वरूपकी ओर इङ्गित करता है, व्यासादि अवताररूपसे वेदान्तरूपी आत्मज्ञानसम्प्रदायका प्रवर्त्तन वे ही करते हैं और अपने ही वाक्य होनेसे वेदके यथार्थ तत्त्वको वे ही जानते हैं। यही सब पुरुषोत्तमकी महिमा है ॥ १२—१५ ॥

अब पुरुषोत्तमका लक्षण बताते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

अन्वय—क्षरः च अक्षरः एव च द्वौ इमौ पुरुषौ लोके (इस लोकमें क्षर और अक्षर दो पुरुष होते हैं) सर्वाणि भूतानि क्षरः कूटस्थः अक्षरः उच्यते (नाशवान् समस्त भौतिक पदार्थ क्षर है और इनकी मूलकारण अव्यक्त प्रकृति अक्षर कहलाती है)। अन्यः तु उत्तमः पुरुषः परमात्मा इति उदाहृतः (इन दोनोंसे विलक्षण पुरुष परमात्मा कहलाता है) यः अव्ययः ईश्वरः लोकत्रयं आविश्य बिभर्त्ति (जो अव्यय ईश्वर तीनों लोकमें रह कर उनकी रक्षा करते हैं)। यस्मात् अहं क्षरं

अतीतः अक्षरात् अपि उत्तमः च (क्योंकि मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम हूँ। अतः लोके वेदे च पुरुषोत्तमः प्रथितः अस्मि (इसलिये लोकव्यवहार तथा वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ)।

सरलार्थ—इस लोकमें क्षर अक्षर नामक दो पुरुष हैं, उनमेंसे विनाशशील पदार्थमात्रको क्षर और मूल प्रकृतिको अक्षर कहते हैं। इन दोनोंसे विलक्षण उत्तम पुरुष परमात्मा है जो त्रिलोकीके भीतर रह कर उसकी रक्षा करता है। क्योंकि क्षरसे अतीत तथा अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इस कारण लोक-व्यवहार तथा वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।

चन्द्रिका—पुरुषोत्तम भगवान्‌की विभूतिका वर्णन पूर्वश्लोकोंमें करके अब इन श्लोकोंद्वारा उनका लक्षण बताया गया है। महत्तत्वसे लेकर स्थूल पृथिवी तक समस्त नाशवान् परिणामशील वस्तुओंको 'क्षर' कहते हैं। और सांख्यदर्शनकी 'मूलप्रकृति' जो क्षरकी कारणरूपिणी तथा 'कूट' अर्थात् प्रपञ्चके मूलमें रहनेवाली है उसको यहां पर 'अक्षर' अर्थात् प्रवाहरूपमें नित्या प्रकृति कहा गया है। ये दोनों ही जड़वर्गके अन्तर्गत होने पर भी 'पुरुष' की उपाधिरूप होनेसे 'पुरुष' कहे गये हैं। वास्तवमें वे पुरुष नहीं हैं। इन दोनोंसे परे विराजमान तथा इनसे उत्तम होनेके कारण परमात्माका नाम 'पुरुषोत्तम' है। यही पुरुषोत्तमका लक्षण है। 'सर्वस्यायमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वमिदं प्रशास्ति' इत्यादि रूपसे श्रुतिमें भी पुरुषोत्तम भगवान्‌का सर्वनियन्तृत्व बताया गया है। किसी किसी टीकाकारने प्रकृतिके भोक्ता 'जीव' को ही 'अक्षर'

कहा है। परमात्मा कर्त्तृत्व भोक्तृत्वसे परे हैं, इस कारण जीवको कर्त्ता भोक्ता कह कर पुरुषोत्तमको इससे परे प्रतिष्ठित कहना यह भी अर्थ हो सकता है ॥१६-१८॥

लक्षण बता कर अब साधनाका फल बताते हुए प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत! ॥१९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ!।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत! ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः।

अन्वय—हे भारत! (हे अर्जुन!) यः एवं असंमूढः पुरुषोत्तमं मां जानाति (जो इस प्रकारसे निश्चितमति होकर मुझे पुरुषोत्तम करके जानता है) सः सर्ववित् मां सर्वभावेन भजति (वह सर्वज्ञ बन सर्वभावसे मेरी ही आराधना करता है)। हे अनघ! भारत! (हे निष्पाप अर्जुन!) इति गुह्यतमं इदं शास्त्रं मया उक्तं (इस तरहसे अतिगुह्य यह शास्त्र तुम्हें मैंने कह दिया) एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् कृतकृत्यः च स्यात् (बुद्धिमान् जन इसे समझ कर कृतकृत्य हो सकते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! इस प्रकार निश्चितरूपसे जो मुझे

पुरुषोत्तम करके जानता है वह सर्वज्ञ होकर सर्वत्र आत्मभावसे ही मुझमें रत रहता है। हे निष्पाप अर्जुन! यही अति गोपनीय अध्यात्मशास्त्र मैंने तुम्हें कह दिया, बुद्धिमान् जन इसे हृदयङ्गम कर कृतकृत्य हो सकते हैं।

चन्द्रिका—निश्चितरूपसे पुरुषोत्तमभगवान्‌को पहचान जाने पर साधक सर्वज्ञ हो जाता है और उस समय सर्वत्र पुरुषोत्तमके अनुभवसे आत्मरमणमें वह रत रहता है, यही संसारतरुका मूलोच्छेद करके पुरुषोत्तमसाधनाका चरम फल है। अर्जुन 'अनघ' है, अतः ऐसी साधनामें अर्जुनका भी अधिकार है, यही श्रीभगवान्‌के मधुर उपदेश तथा सम्बोधनका तात्पर्य है ॥१९–२०॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

पञ्चदश अध्याय समाप्त।

षोड़शोऽध्यायः ।

पूर्वाध्यायमें प्रथमतः संसारतरुका वर्णन करके पश्चात् उसके छेदनार्थ 'असङ्ग' रूपी शस्त्रका उल्लेख किया गया था। और यह भी बताया गया था कि अश्वत्थछेदनकारी साधकका लक्ष्य पुरुषोत्तम भगवान् है । किन्तु किस प्रकृतिके जीव पुरुषोत्तम भगवान्को पा सकते हैं और किस प्रकृतिके जीवका उसमें अधिकार नहीं है इस विषयका विवेचन उस अध्यायमें नहीं किया गया था । इस कारण प्रकृति विवेचनके लिये इस अध्यायका प्रारम्भ होना है। दैवीप्रकृतिके लक्षण-द्वितीय, द्वादश, त्रयोदश आदि अध्यायोंमें मुक्तात्माके लक्षणवर्णनप्रसङ्गमें बहुत कुछ कहे जा चुके हैं, इस कारण इस अध्यायमें आसुरी प्रकृतिके लक्षण ही विशेषरूपसे बताये गये हैं। नवम अध्यायमें दैवी और आसुरी प्रकृतिके लक्षणकी ओर जो इङ्गित किया गया था यह अध्याय उसीका विस्तारमात्र है । इसमें प्रथमतः दैवी और तदनन्तर आसुरी प्रकृतिके लक्षण बता कर अन्तमें कर्त्तव्यका उपदेश कर दिया गया है। अब प्रसङ्गानुसार श्रीभगवान् प्रथमतः दैवी सम्पत्तिके लक्षण बता रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥३॥

अन्वय—हे भारत ! (हे अर्जुन !) अभयं (शरीर या स्त्री-पुत्रादियोंके प्रति मोहके कारण मृत्युमें जो डर लगता है उसका अभाव) सत्त्वसंशुद्धिः (शुद्ध सात्त्विकवृत्ति) ज्ञानयोगव्यवस्थितिः (परमात्माविषयक ज्ञान तथा योगमें निष्ठा) दानं दमः च यज्ञः च स्वाध्यायः तपः आर्जवं (दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तपस्या और सरलता) अहिंसा सत्यं अक्रोधः त्यागः शान्तिः अपैशुनं (अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति तथा परोक्षमें परदोषकीर्त्तन न करना) भूतेषु दया अलोलुप्त्वं मार्दवं ह्री अचापलं (जीवोंके प्रति दया, तृष्णाका अभाव, चित्तकी कठोरताका अभाव, बुरे काममें लज्जा, चञ्चलताका अभाव) तेजः क्षमा धृतिः शौचं अद्रोहः नातिमानिता (तेज अर्थात् आत्माका बल जिससे जीव दीनतासे बच सके, क्षमा अर्थात् शक्ति रहने पर भी दोषी व्यक्तिका दोष सहन करना, धैर्य्य, भीतर बाहर शुचिता, किसीसे द्रोह न करना, अतिमान न रखना) दैवीं सम्पदं अभिजातस्य भवन्ति (ये सब गुण दैवीसम्पत्तिको लेकर जन्म पाये हुए जीवमें होते हैं)।

सरलार्थ—श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! दैवीसम्पत्तिमें जन्मे हुए व्यक्तियोंमें भयशून्यता, शुद्धसात्त्विक वृत्ति, ज्ञान तथा योगमें निष्ठा, दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, वेदादि पाठ, तप, सरलता, शरीरमनवचनसे हिंसाका अभाव, सत्य, अक्रोध, त्याग,

शान्ति, दूसरेके पीछे दूसरेका दोषकथन न करना, जीवदया, निर्लोभता, मृदुता, पापमें लज्जा, चपलताका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य्य, शुचिता, अद्रोह और अतिमानका अभाव ये सब गुण स्वतः उत्पन्न होते हैं ।

चन्द्रिका—संसारमें तीन गुणके अनुसार तीन सम्पत्तियां हैं—दैवी, आसुरी और राक्षसी । दैवी सम्पत्ति सात्विक है, इस लिये इसमें इन्द्रियसंयम, ज्ञान, योग आदि पाये जाते हैं । आसुरी सम्पत्ति राजसिक है, इस लिये इसमें राग, विषयभोग, तृष्णा आदि पाये जाते हैं । राक्षसी सम्पत्ति तामसिक है, इस लिये इसमें द्वेष, हिंसा, ईर्ष्या, हत्या, जिघांसा आदि पाये जाते हैं । संसारमें त्रिगुणमय प्राक्तनके अनुसार तीन प्रकारके जीव ही उत्पन्न होते हैं । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' अर्थात् पुण्यमय प्राक्तनसे पुण्यात्मा पुरुष और पापमय प्राक्तनसे पापी जीव उत्पन्न होते हैं । नवम अध्यायमें राक्षसी सम्पत्तिके कुछ लक्षण कहे गये हैं । अब इस अध्यायमें दैवी तथा आसुरी सम्पत्तियोंके लक्षण बताये जाते हैं, इनमेंसे दैवी सम्पत्तिके लक्षण इन श्लोकोंमें वर्णित किये गये ॥ १—३ ॥

अब आसुरी सम्पत्तिके लक्षण तथा सामान्यतः दोनोंका फल बताते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ॥४॥
दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि भारत ! ॥५॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) दम्भः (वृथा धर्मका आडम्बर धर्मध्वजीकी तरह बताना) दर्पः (धनसम्पत्ति आदिका गर्व) अभिमानः च (और हम बहुत बड़े हैं, इस प्रकारका भाव दिखाते रहना) क्रोधः पारुष्यं च अज्ञानं एव च (क्रोध, रूखा बोलना या निष्ठुरता और अज्ञान (आसुरीं सम्पदं अभि जातस्य (ये सब आसुरी सम्पत्तिमें जन्मे हुएको प्राप्त होते हैं)। दैवी सम्पत् विमोक्षाय, आसुरी निबन्धाय मता (दैवी सम्पत्ति मोक्षदायिनी और आसुरी सम्पत्ति बन्धनकारिणी मानी गई है), हे भारत ! (हे अर्जुन !) मा शुचः (तुम चिन्ता मत करो) दैवीं सम्पदं अभि जातः असि (क्योंकि तुम दैवी सम्पत्तिको लेकर जन्मे हुए हो)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ये सब आसुरी सम्पत्तिमें उत्पन्न व्यक्तिको प्राप्त होते हैं। दैवी सम्पत्तिके द्वारा मोक्ष और आसुरी सम्पत्तिके द्वारा बन्धन होता है। हे अर्जुन ! तुम्हारी उत्पत्ति दैवी सम्पत्तिमें हुई है, इस कारण तुम्हें शोक करनेका कारण नहीं है।

चन्द्रिका—वेदमें लिखा है 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा देवा ज्यायसा असुराः त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त' प्रजापतिकी देवता और असुर ये दो प्रकारकी सन्तानें हैं, उनमेंसे बड़े भाई असुर और छोटे भाई देवता हैं, इस लोकमें तथा देवलोकमें इन दोनोंका संग्राम होता रहता है। मनुष्योंकी प्रवृत्ति स्वभावतः नीचेकी ओर है, मनुष्योंको बुरी बात पहिले ही सूझती है और अच्छी बात पीछे सूझती है, इस लिये

असुरोंको यहां भाई कहा गया है । देवता तथा असुर दैवलोकके जीव हैं और उनके भाव तथा गुणोंसे सम्पन्न मनुष्य मर्त्यलोकमें देवप्रकृति और आसुर प्रकृति जीव या दैवी सम्पत्ति तथा आसुरी सम्पत्तिवाले जीव कहलाते हैं । दैवी सम्पत्ति सत्त्वगुणमयी होनेसे परिणाममें मोक्ष देनेवाली है किन्तु आसुरी सम्पत्ति रजोगुणमयी होनेसे बन्धन करनेवाली है, अतः संसारतरुको काट कर आध्यात्मिक पथमें अग्रसर होनेके इच्छुक मनुष्योंको दैवी प्रकृतिकी ही शरण लेनी चाहिये यही इसमें तत्त्व है ॥ ४—५ ॥

आसुरी सम्पत्तिवाले जीवोंके अब विस्तारित लक्षण बताते हैं—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ ! मे शृणु ॥६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥
असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहेतुकम् ॥८॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) अस्मिन् लोके (इस लोकमें) दैवः आसुरः एव च द्वौ भूतसर्गौ (दैव और आसुर दो प्रकारके जीव होते हैं) दैवः विस्तरशः प्रोक्तः आसुरं मे शृणु (दैवी प्रकृति जीवके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है, अब आसुरी प्रकृति जीवके विषयमें सुनो) । आसुराः जनाः प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च न विदुः (आसुर प्रकृति मनुष्य क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है इसको नहीं जानते हैं) तेषु न शौचं न

आचारः न च अपि सत्यं विद्यते (उनमें शौच, आचार और सत्य कुछ भी नहीं होता है)। ते जगत् (वे जगत्को) असत्यं अप्रतिष्ठं अनीश्वरं (इसके मूलमें कोई सत्य नहीं है, यह निराधार तथा ईश्वरसत्ताशून्य है) अपरस्परसम्भूतं (स्त्रीपुरुषोंके परस्पर संयोगसे उत्पन्न हुआ है) किमन्यत् कामहेतुकं प्राहुः (इसका उत्पत्तिहेतु दूसरा नहीं है, केवल काम ही इसका हेतु है, ऐसा कहते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी जीवसृष्टि है, दैव और आसुर। दैवके लिये बहुत कुछ कहा गया है, अब आसुर जीवके विषयमें सुनो। आसुर प्रकृति जीव कर्त्तव्या-कर्त्तव्यको नहीं जानते हैं और न उनमें शुचिता, आचार तथा सत्य ही होते हैं। वे जगत्को मौलिकसत्यहीन, निराधार, ईश्वर-हीन, केवल स्त्रीपुरुषसंयोगसे उत्पन्न तथा कामहेतुक समझते हैं।

चन्द्रिका—पहिले ही कहा है कि आसुर जीव रजोगुणी तथा विषयप्रवीण होते हैं। इस कारण उनकी चित्तवृत्ति तथा विचार भी विषयमूलक तथा काममूलक ही होते हैं। वे जगत्में तथा उसकी उत्पत्तिमूलमें काम ही काम देखते हैं। सत्य, कर्त्तव्य, आचार, आस्तिकता उनमें कुछ भी नहीं हो सकते, यही इन श्लोकोंका तात्पर्य है ॥६–८॥

उनकी काममयी चित्तवृत्तिके विषयमें और भी वर्णन कर रहे हैं—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

अन्वय—एतां दृष्टिं अवष्टभ्य (इस प्रकार कुविचारको आश्रय करके) नष्टात्मानः अल्पबुद्धयः उग्रकर्माणः अहिताः (नष्टस्वभाव, मन्दबुद्धि, हिंसादि उग्रकर्मरत, अमङ्गलकारी आसुरप्रकृति मनुष्यगण) जगतः क्षयाय प्रभवन्ति (संसारके नाशके लिये उत्पन्न होते हैं) । दुष्पूरं कामं आश्रित्य (अति कठिनाईसे तृप्त होनेवाले कामको आश्रय करके) दम्भमान-मदान्विताः (दम्भ, मान, मदसे युक्त आसुर जीवगण) मोहात् असद् ग्राहान् गृहीत्वा (अविवेकसे असत् निश्चयोंको करते हुए) अशुचिव्रताः प्रवर्त्तन्ते (अपवित्र कार्योंमें लगे रहते हैं)। प्रलयान्तां अपरिमेयां च चिन्तां उपाश्रिताः (मरणान्त अनन्त चिन्तामें रत) कामोपभोगपरमाः एतावत् इति निश्चिताः (कामभोगमें रत होकर उसीको सब कुछ माननेवाले) आशापाशशतैः बद्धाः (शत शत आशारूपी पाशके द्वारा बद्ध) कामक्रोधपरायणाः (कामक्रोधपरा-यण आसुर जीवगण) कामभोगार्थं अन्यायेन अर्थसंचयान् ईहन्ते (कामभोगके लिये अन्यायपूर्वक अर्थसञ्चयकी चेष्टा करते हैं)।

सरलार्थ—इस प्रकार कुविचारको आश्रय करके नष्टात्मा, मन्दबुद्धि, उग्रकर्मा, अमङ्गलकारी आसुरप्रकृति मनुष्यगण जगत-

का क्षय करनेके लिये उत्पन्न होते हैं। दुष्पूर काममें चूर, दम्भ-मान-मदमें उन्मत्त आसुर जीवगण अविवेकसे असत् सङ्कल्प करके अपवित्र कार्योंमें रत रहते हैं। आमरणान्त अगणित चिन्ताओंसे ग्रसे हुए, कामसेवामें निविष्ट, उसीको सब कुछ माननेवाले, सैकड़ों आशा-पाशोंसे जकड़े हुए, कामक्रोध परायण आसुरी लोग कामभोगार्थ अन्यायपूर्वक अर्थसञ्चयकी चेष्टा करते हैं।

चन्द्रिका——रजोगुणके साथ पूर्ण सम्बन्ध रहनेसे आसुरी जीवोंमें धर्ममोक्षकी गन्ध भी नहीं रहती है, केवल अर्थ और कामका भरमार रहता है। वे उसीके लिये ही रात दिन उन्मत्तकी तरह घूमते रहते हैं और अर्थकाममयी दुर्वृत्तिको चरितार्थ करनेके लिये अनेक उपायोंको सोचते रहते हैं। उनकी विषयभरी चिन्ताकी भी सीमा नहीं रहती है और चेष्टाकी भी सीमा नहीं रहती है। घृताहुत अग्निकी तरह काम पर काम बढ़ता ही रहता है। इस प्रकारसे आसुरी जीवगण संसारमें धर्मनाशके हेतु बन कर जगत् तथा उसकी शान्तिके नाशके भी कारण बन जाते हैं। उनके उग्रकर्मोंसे संसारकी वृद्धि न होकर उसका क्षय ही होता है ॥९-१२॥

उनकी पापमयी चिन्ता, चेष्टा तथा उसके परिणाम वर्णन करते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

अन्वय—अद्य मया इदं लब्धं (आज मैंने यह पा लिया) इदं मनोरथं प्राप्स्ये (इस मनोरथको कल सिद्ध करूंगा) इदं अस्ति, पुनः इदं अपि मे धनं भविष्यति (यह मेरा धन है, फिर यह भी धन मेरा होगा)। असौ शत्रुः मया हतः अपरान् च अपि हनिष्ये (इस शत्रुको मैंने मार लिया तथा औरोंको भी मारूँगा), अहं ईश्वरः अहं भोगी अहं सिद्धः बलवान् सुखी (मैं सबसे बड़ा हूँ, भोगी, कृतकृत्य, बलवान् तथा सुखसम्पन्न हूँ) आढ्यः अभिजनवान् अस्मि (मैं धनी और कुलीन हूँ) मया सदृशः अन्यः कः अस्ति (मेरे समान और है कौन ?) यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये (यज्ञके द्वारा दानके द्वारा सबसे बड़ा बना रहूँगा, मौज करूंगा) इति अज्ञानविमोहिताः अनेकचित्तविभ्रान्ताः मोहजालसमावृताः कामभोगेषु प्रसक्ताः (इस प्रकार अज्ञान से

मोहित, अनेकप्रकारकी कल्पनाओंमें भूले हुए, मोहके फन्देमें फंसे हुए, और विषयभोगमें आसक्त आसुरी लोग) अशुचौ नरके पतन्ति (विष्ठामूत्रपूर्ण अपवित्र नरकमें गिरते हैं)। आत्मसम्भाविताः (स्वयं ही अपनी श्लाघा करनेवाले) स्तब्धाः (एंठसे वर्त्ताव करनेवाले) धनमानमदान्विताः ते दम्भेन नामयज्ञैः अविधिपूर्वकं यजन्ते (धन और मानके मदमें चूर ये आसुरी जीव दम्भसे शास्त्रविधि छोड़ केवल नामके लिये यज्ञ करते हैं)। अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः (अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधमें मस्त होकर) आत्मपरदेहेषु मां प्रद्विषन्तः अभ्यसूयकाः (अपनी और पराई देहमें मेरा द्वेष करनेवाले आसुरी जीवगण गुणोंमें भी दोष ही देखते रहते हैं)। अहं द्विषतः क्रूरान् नराधमान् अशुभान् तान् (इस प्रकार द्वेषी, क्रूर तथा अशुभकर्मी, नराधम आसुरी जीवोंको मैं) संसारेषु आसुरीषु योनिषु एव अजस्रं क्षिपामि (संसारमें आसुरी योनियोंमें ही बार बार पटकता हूँ)। हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) मूढ़ाः जन्मनि जन्मनि आसुरीं योनिं आपन्नाः (ऐसे मूर्ख लोग जन्म जन्ममें आसुरी योनिको ही पाकर) मां अप्राप्य एव ततः अधमां गतिं यान्ति (मुझे न पाकर उससे भी अधिक अधोगतिको जाते हैं)।

सरलार्थ—आज मैंने यह मनोरथ पूर्ण कर लिया, कल यह करूंगा, मेरे पास इतना धन है, इतना और भी हो जायगा, इस शत्रुको मैंने मार दिया, दूसरोंको भी मार दूंगा, मैं सबसे बड़ा, भोगी, कृतकृत्य, बलवान, सुखी, धनी तथा कुलीन हूँ, मेरे बराबर और कौन हो सकता है, मैं यज्ञ करूंगा, दान

करूंगा, मौज करूंगा, इस प्रकार अज्ञानसे मुग्ध, कल्पनाओंमें भ्रांत, मोहजालमें आबद्ध, कामभोगमें रत आसुरी जीवगण अपवित्र नरकमें जाते हैं। आत्मप्रशंसापरायण, नम्रताशून्य, धन-मानके मदमें उन्मत्त ऐसे जीव दम्भके साथ केवल नामके लिये अविधिपूर्वक यज्ञ करते हैं। अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोधको आश्रय करनेवाले, अपनी तथा पराई देहमें मेरे प्रति द्वेष करनेवाले, गुणमें भी दोष देखनेवाले, द्वेषदुष्ट, क्रूरप्रकृति उन नराधम, अशुभकर्मी जीवोंको मैं संसारमें पुनः पुनः आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ। हे अर्जुन! वे मुझे न पाकर, किन्तु पुनः पुनः आसुरी योनिको ही पाकर उससे भी अधम दुर्गतिको प्राप्त करते हैं।

चन्द्रिका—ये सब आसुरी जीवोंकी अनन्त वासना तथा अनन्त विषयमयी चेष्टाओंके दृष्टान्त हैं और इन सबका परिणाम नरक तथा पश्वादि हीनयोनि प्राप्ति है। इसीका विस्तृत वर्णन श्रीभगवान्‌ने इन श्लोकोंके द्वारा किया है ॥१३—२०॥

अब इन सब पापोंका मूल तथा छुटकारा पानेका उपाय बता कर प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोड़शोऽध्यायः।

अन्वय—कामः क्रोधः तथा लोभः इदं त्रिविधं नरकस्य द्वारं (काम, क्रोध और लोभ नरकके ये तीन द्वार हैं) आत्मनः नाशनं (ये आत्माके नाश करनेवाले हैं) तस्मात् एततं त्रयं त्यजेत् (इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये)। हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) एतैः त्रिभिः तमोद्वारैः विमुक्तः नरः (नरकसाधन तमोद्वार इन तीनोंसे मुक्त होकर मनुष्य) आत्मनः श्रेयः आचरति, ततः परां गतिं याति (अपने कल्याणके अनुकूल आचरण करता है, फिर परमगतिको पा लेता है)। यः शास्त्र-विधिं उत्सृज्य कामकारतः वर्त्तते (जो शास्त्रोक्त विधिको छोड़ मनमाना करने लगता है) सः सिद्धिं न अवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् (उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न उत्तम गति ही मिलती है)। तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ शास्त्रं ते प्रमाणं (इस लिये कर्त्तव्य अकर्त्तव्यके निर्णयार्थ तुम्हें शास्त्रका ही प्रमाण मानना चाहिये) इह शास्त्रविधानोक्तं ज्ञात्वा कर्म कर्त्तुं अर्हसि (और इस संसारमें शास्त्रमें क्या विधान किया गया है सो जान कर कर्म करना चाहिये)।

सरलार्थ—काम, क्रोध और लोभ ये तीन आत्माके नाशक तथा नरकके तीन द्वार स्वरूप हैं। इसलिये इन्हें त्याग

देना चाहिये। हे अर्जुन! इन नरकद्वारोंसे मुक्त होकर ही मनुष्य आत्मकल्याणमें रत होता है जिससे उसको परम गति प्राप्त हो जाती है। जो व्यक्ति शास्त्रविधिको छोड़ कर मनमाना काम करने लगता है, उसे न सिद्धि, न सुख और न परम गति कुछ भी नहीं प्राप्त होता है। इसलिये कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्द्धारणमें तुम्हें शास्त्रको ही प्रमाण मानना चाहिये और शास्त्र-विधानको जान कर तदनुसार कर्म करना चाहिये।

चन्द्रिका—आसुरी जीवोंमें जितने दुर्गुण होते हैं सभीके मूलमें काम, क्रोध और लोभ ये तीन हैं। इनके उदय होने पर ज्ञान तिरोहित हो जाता है, इस कारण आत्माको उन्नतिपथमें वे कभी जाने नहीं देते हैं। इसी कारण इन्हें नरकद्वार तथा आत्माका नाशक कहा गया है। अतः आध्यात्मिक कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको अति सावधानताके साथ इन तीनोंका त्याग कर देना उचित है। शास्त्रानुसार स्वधर्माचरण करते न रहनेसे न इन शत्रुओंको मनुष्य जीत ही सकता है और न उत्तम गतिलाभ ही कर सकता है। अतः शास्त्रविधिके अनुसार ही कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका विचार करके कर्त्तव्य पथमें सदा अग्रसर होते रहना अर्जुन तथा जगज्जीवोंको सर्वथा उचित है यही अन्तमें श्रीभगवानका अतिमार्मिक उपदेश हुआ॥ २१–२४॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग' नामक सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ।

षोड़श अध्याय समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः ।

पूर्वाध्यायमें दैवीप्रकृतिके जीव तथा आसुरी प्रकृतिके जीवोंके स्वभाव वर्णन प्रसङ्गमें अन्तमें ऐसा ही विचार हुआ था कि शास्त्रविधिके अनुसार काम करनेवाले दैवी प्रकृतिके जीव और शास्त्रविधिको परित्याग करके मनमाना काम करनेवाले आसुरी प्रकृतिके जीव कहलाते हैं। आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य शास्त्रविधिको जानते हुए भी अश्रद्धाके कारण उसे न मान कर मनमाना काम करते हैं, और इस कारण वे अधोगतिको जाते हैं। अब इसमें यह संशय रह जाता है कि जो मनुष्य शास्त्र पर श्रद्धा तो रखते हैं किन्तु आलस्यादिके कारण शास्त्रविधिके अनुसार काम न करके केवल कुलपरम्पराप्राप्त आचारके अनुसार काम करते हैं, उनकी कोटि दैवी है या आसुरी है या तीन गुणोंमेंसे किस गुणकी है। इसी प्रश्नबीज पर यह अध्याय प्रारम्भ होता है। इसमें प्रकृतविषयके साथ गुणभेद वर्णन प्रसङ्गमें आहार, तप, यज्ञ आदिके भी त्रिगुणानुसार भेद बताये गये हैं और अन्तमें त्रिगुणसे परे विराजमान परमात्माके त्रिभावका वर्णन 'ॐ तत् सत्' मन्त्रके रहस्य वर्णन द्वारा उत्तम रीतिसे किया गया है और इसी पर अध्यायका उपसंहार हुआ है। अब अर्जुनकी शंकारूपसे विषयकी अवतारणा करके 'श्रद्धा' आदियों पर विवेचन किया जाता है—

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण ! सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अन्वय—हे कृष्ण! (हे कृष्ण!) ये शास्त्रविधिं उत्सृज्य श्रद्धया तु अन्विताः यजन्ते (जो लोग शास्त्रविधिको छोड़ केवल श्रद्धाके साथ देवपूजादि करते हैं) तेषां निष्ठा का सत्त्वं रजः आहो तमः (उनकी स्थिति कैसी है—सात्त्विक, राजसिक या तामसिक ?)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! आलस्यसे शास्त्रविधिको छोड़ केवल लोकपरम्परासे श्रद्धाभक्तिके साथ जो लोग देवपूजादि करते हैं, उनकी साधनस्थिति सात्त्विक, राजसिक या तामसिक क्या है सो बताइये।

चन्द्रिका—चौदहवें अध्यायमें त्रिगुण पर जो विवेचन किया गया है, उसीको श्रद्धा आदि विषयोंसे मिला कर इस अध्यायमें स्पष्टतररूपसे बताया जायगा। अर्जुनका प्रश्नबीज इसीका सूचक है। श्रीभगवान् 'कृष्ण' अर्थात् भक्तके पापोंको आकर्षण कर नष्ट कर देते हैं, अतः अर्जुनकी शंकाका भी निराकरण करेंगे यही 'कृष्ण' सम्बोधनका तात्पर्य है ॥१॥

शंकानुसार श्रीभगवान् उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत!।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसाः जनाः ॥४॥

अन्वय—देहिनां सात्त्विकी राजसी च एव तामसी च इति त्रिविधा श्रद्धा भवति (प्राणियोंकी सात्त्विक राजसिक तामसिक ये तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है) सा स्वभावजा तां शृणु (यह श्रद्धा पूर्वजन्मार्जित संस्कारके अनुसार होती है, उसका वर्णन सुनो)। हे भारत! (हे अर्जुन!) सर्वस्य श्रद्धा सत्त्वानुरूपा भवति (सबकी श्रद्धा अपने अपने प्रकृतिस्वभावके अनुसार होती है) अयं पुरुषः श्रद्धामयः (मनुष्य श्रद्धामय है) यः यच्छ्रद्धः सः एव सः (जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है)। सात्त्विकाः देवान् यजन्ते राजसाः यक्षरक्षांसि (सात्त्विक स्वभाववाले देवताओंकी और राजसिक स्वभाववाले यक्ष राक्षसोंकी पूजा करते हैं) अन्ये तामसाः जनाः प्रेतान् भूतगणान् च यजन्ते (और तीसरे तामसी स्वभाववाले लोग प्रेत तथा भूतोंकी पूजा करते हैं)।

सरलार्थ—पूर्वजन्मार्जित स्वभावके अनुसार प्राणियोंकी सात्त्विक राजसिक तामसिक ये त्रिविध श्रद्धा होती हैं, उसका वर्णन सुनो। हे अर्जुन! सबकी श्रद्धा अपने अपने प्रकृतिस्वभावके अनुसार होती है, मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है। सात्त्विक स्वभाववाले देवताओंकी, राजसिक स्वभाववाले कुबेरादि यक्ष तथा निर्ऋति आदि राक्षसोंकी और तामसिक स्वभाववाले उल्कामुखादि प्रेतोंकी तथा सप्तमातृकादि भूतोंकी पूजा करते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें श्रद्धाके तीन भेद बताये गये हैं।

पूर्वजन्मार्जित संस्कारके अनुसार मनुष्योंकी प्रकृति भिन्न भिन्न होती है और तदनुसार उनकी श्रद्धा भी सात्त्विक राजसिक तामसिक तीन प्रकारकी होती है। सात्त्विक श्रद्धावाले देवोपासनाको, राजसिक श्रद्धावाले कुबेरादि यक्षरक्षोपासनाको और तामसिक श्रद्धावाले प्रेतोपासनाको पसन्द करते हैं। जीव श्रद्धामय है, इस कारण श्रद्धानुसार ही भिन्न भिन्न उपासनाओंमें जीवोंकी रुचि होती है। इन्हीं दृष्टान्तों द्वारा ही श्रद्धाके रहस्य तथा भेद समझने योग्य हैं ॥२-४॥

अब शास्त्रों पर श्रद्धा न रखने वाले अशास्त्रीय अनुष्ठानरत मनुष्योंके विषयमें कह रहे हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

अन्वय—दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ये अचेतसः जनाः (दम्भ तथा अहंकारसे युक्त, काम और आसक्तिके बलसे बलीयान् जो अविवेकी मनुष्यगण) शरीरस्थं भूतग्रामं अन्तःशरीरस्थं मां च एव कर्षयन्तः (देहस्थित पृथिवी आदि भूतसमूहको तथा देहके भीतर रहने वाले मुझे भी कष्ट देते हुए) अशास्त्रविहितं घोरं तपः तप्यन्ते (शास्त्रगर्हित घोर तपका अनुष्ठान करते हैं) तान् आसुरनिश्चयान् विद्धि (उन्हें आसुरी बुद्धिवाले जानो)।

सरलार्थ—दम्भाहंकारसे युक्त, काम तथा आसक्तिके बलसे

बली जो अविवेकिगण देहके भूतोंको तथा देहमध्यवर्ती मुझको कष्ट देते हुए शास्त्रगर्हित अपने तथा दूसरेके भी दुःखदायक तपका अनुष्ठान करते हैं उन्हें आसुरी निष्ठा सम्पन्न जानो।

चन्द्रिका—शास्त्रोंके प्रति श्रद्धायुक्त त्रिविधप्रकृति मनुष्योंके विषयमें कह कर अब अश्रद्धालु, शास्त्रगर्हित आचरण करनेवाले आसुरी-प्रकृतिवाले मनुष्योंके विषयमें कहते हैं। ऐसे मनुष्य परपीड़न दम्भाहङ्कार प्रदर्शन, असीम धन सम्पत्ति कामादिका लाभ इत्यादि स्वार्थसिद्धिके लिये तप्त शिला पर चढ़ना, वर्षों उपवास करते रहना आदि कठिन तपस्या करते हैं। और तपस्यामें सिद्धि लाभ करके उसके बलसे त्रिलोकीके जीवोंको सताया करते हैं। अतः इन घोर तपस्याओंसे अपने शरीरके पञ्चभूत, शरीर मध्यवर्ती अन्तर्यामी तथा संसारके प्राणी सभीको क्लेश पहुँचता है। रावण, वृत्रासुर आदि राक्षस, असुरोंकी ऐसी तपस्या प्रसिद्ध ही है। ऐसी प्रकृतिवाले जीव असुर कहलाते हैं यही श्रीभगवान्के कहनेका तात्पर्य है ॥ ५–६ ॥

प्रकृतिभेदानुसार श्रद्धाके भेद बता कर अब प्रकृतिभेदानुसार आहारादिके भी भेद कैसे कैसे होते हैं सो बता रहे हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अन्वय—सर्वस्य आहारः तु अपि त्रिविधः प्रियः भवति (सबका आहार भी तीन प्रकारसे रुचिकर होता है), यज्ञः तपः तथा दानं तेषां इमं भेदं शृणु (ऐसे ही यज्ञ, तप और दानके विषयमें भी हैं, इनके भेदोंको सुनो) आयुःसत्त्वबलारोग्यसुख-प्रीतिविवर्द्धनाः (आयु-सात्त्विकवृत्ति-बल-आरोग्य-चित्तप्रसाद-रुचि बढ़ानेवाले) रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः (मधुररसप्रधान, स्नेहयुक्त, सारवान्, हृदयके प्रिय) आहाराः सात्त्विकप्रियाः (ऐसे आहार सात्त्विकजनोंके प्रिय होते हैं) । कटु-अम्ल-लवण अत्युष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः (नीम जैसे कडुए, खट्टे, खारे, अति उष्ण, लालमिर्च जैसे तीखे, स्नेहहीन रूखे, सर्सों जैसे दाह-कारी) दुःखशोकामयप्रदाः (तत्काल दुःखदायी, पीछे से शोक रोग उत्पन्न करनेवाले) आहाराः राजसस्य इष्टाः (ऐसे आहार राजसिक जनोंके प्रिय होते हैं) । यातयामं (कुछ कालका रक्खा हुआ ठण्डा), गतरसं, पूति, पर्य्युषितं, उच्छिष्टं, अमेध्यं अपि च (सार निचोड़ा हुआ, दुर्गन्धपूर्ण, बासी, जूंठा तथा पियाज लहसुन जैसा अपवित्र) भोजनं तामसप्रियम् (ऐसा आहार तामसिक जनोंको प्रिय होता है) ।

सरलार्थ—मनुष्योंका रुचिकर आहार भी तीन प्रकारका होता है और यज्ञ, तप, दान भी ऐसा ही त्रिविध होता है, इनके भेदोंको सुनो । आयु, सात्त्विकता, बल, आरोग्य, चित्त प्रसन्नता तथा दृष्टिमात्रसे रुचिको बढ़ानेवाले मधुररसप्रधान,

स्नेहयुक्त, सारवान और मनके प्रिय आहार सात्त्विक जनोंके प्रिय होते हैं। अति कड़ुए, खट्टे, खारे, उष्ण, तीखे, रूखे और दाहकारी दुःख-शोक-रोग उत्पन्न करनेवाले आहार राजसिक जनोंके प्रिय होते हैं। ठण्डे, सारहीन, दुर्गन्धित, बासी, उच्छिष्ट और अपवित्र भोजन तामसिक जनोंके प्रिय होते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें श्रीभगवान्ने प्रकृतिके अनुसार आहारका विवेचन किया है। इससे यह विज्ञान भी स्पष्ट होता है कि जैसा आहार मनुष्य करेगा उसकी मनबुद्धिभी वैसी ही अवश्य बनेगी। वेदमें लिखा है—'दध्नः सौम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स उद्ध्वः समुदीपति तत् सर्पिर्भवति। एवमेव खलु सौम्यान्नस्य योऽणिमा स उद्ध्वः समुदीपति तन्मनो भवति'। जिस प्रकार दधिके मथने पर उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकर घृत बनता है, उसी प्रकार अन्नके सूक्ष्मांश से मनकी पुष्टि होती है। 'अन्नमयं हि खलु सौम्येदं मनः' मन अन्नमय ही है। अतः सात्त्विक आहारसे अन्तःकरणका भी सात्त्विक बनना तथा राजसी तामसी आहारसे अन्तःकरणका ऐसा ही बनना निश्चय है। इतने ज्ञानी भीष्मपितामहकी बुद्धि भी पापी दुर्योधनके तामसी अन्नके प्रभावसे कुण्ठित हो गई थी यह विषय महाभारतमें प्रसिद्ध है। अतः राजसिक, तामसिक आहारको परित्याग करके गोदुग्ध, गव्यघृत आदि सात्त्विक भक्ष्य भोज्य वस्तुओंका ग्रहण मनुष्योंको अवश्य ही करना चाहिये, अन्यथा चित्तशुद्धि, मनः संयम, इन्द्रियसंयम, आध्यात्मिक उन्नति आदि कुछ भी नहीं हो सकता यही सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। इसी कारण श्रुति भी कहती है—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिशुद्धौ सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' शुद्ध आहारके द्वारा पवित्र सत्त्वगुणलाभ, उससे शास्त्र विषयिणी अमोघ

स्मृति और उससे संसारबन्धनका नाश होता है । यही प्रकृतिभेदानुसार खाद्याखाद्यविवेचनका तत्त्व है ॥७-१०॥

अथ प्रसङ्गतः प्राप्त त्रिविध यज्ञ पर विचार किया जाता है—

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

अन्वय—अफलाकांक्षिभिः (फलकामनारहित पुरुषोंके द्वारा) यष्टव्यं एव इति (यज्ञ करना हमारा कर्त्तव्य है इस भावसे) मनः समाधाय विधिदिष्टः यः इज्यते (एकाग्र मनके साथ शास्त्रविधिके अनुसार जो यज्ञानुष्ठान होता है) सः सात्त्विकः (उसे सात्त्विक यज्ञ कहते हैं)। हे भरतश्रेष्ठ ! (हे अर्जुन !) फलं अभिसन्धाय तु (किन्तु फलकी कामना करके) दम्भार्थं अपि च एव (अथवा ऐश्वर्यादिके दम्भ दिखानेके लिये भी) यत् इज्यते (जो यज्ञ किया जाता है) तं यज्ञं राजसं विद्धि (उस यज्ञको राजसिक यज्ञ जानो)। विधिहीनं असृष्टान्नं (जिसमें न शास्त्रीय विधि है और न ब्राह्मणादिको अन्नदान दी है) मन्त्रहीनं अदक्षिणं (जिसमें स्वरसे और वर्णसे मन्त्रोच्चारण नहीं होता है और ऋत्विक्‌को दक्षिणा नहीं दी जाती है) श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते (श्रद्धासे शून्य ऐसे यज्ञको तामसिक यज्ञ कहते हैं)।

सरलार्थ—फलकामना छोड़ कर केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे शास्त्रीयविधिके अनुसार एकाग्रचित्त हो जो यज्ञ किया जाता है उसको सात्त्विक यज्ञ कहते हैं। किन्तु हे अर्जुन! फलकी इच्छासे या दम्भ बतानेके अर्थ जो यज्ञ किया जाता है उसे राजसिक यज्ञ कहते हैं। शास्त्रविधिहीन, अन्नदानहीन, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन तथा श्रद्धाहीन यज्ञको तामसिक यज्ञ कहा जाता है।

चन्द्रिका—ये तीनों भेद भी गुणोंके प्रकृतिभेदानुसार ही हैं यथा सात्विकयज्ञमें फलाकांक्षाका अभाव, राजसिक यज्ञमें फलाकांक्षा और तामसिक यज्ञमें जड़ता तथा मूढ़ता है, इस कारण सात्विक यज्ञ द्वारा मोक्षकी ओर उन्नति, राजसिक यज्ञ द्वारा ऐहलौकिक, पारलौकिक उन्नति और तामसिक यज्ञ द्वारा उन्नतिके स्थल पर अधोगति ही होती है। प्रथम दोनोंमें शास्त्रीय विधिके रहनेसे यज्ञ द्वारा 'अपूर्व' की प्राप्ति होती है, किन्तु तामसिक यज्ञमें विधिके न रहनेसे कुछ भी 'अपूर्व' नहीं है। द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि और मन्त्रशुद्धि तीनोंके द्वारा यज्ञमें फललाभ होता है। किन्तु तामसिक यज्ञमें किसी प्रकारकी भी शुद्धि न रहनेसे यह यज्ञ अधोगतिका ही कारण बन जाता है ॥११-१३॥

प्रसङ्गोपात्त तपके भी त्रिभेद बताते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

अन्वय—देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं (देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानोंकी सेवा पूजा करना) शौचं आर्जवं ब्रह्मचर्यं अहिंसा च (शुचितासे रहना, सरलभावसे बर्त्ताव करना, निषिद्ध मैथुन त्याग और शरीरसे किसीको बुराई न करना) शारीरं तपः उच्यते (शारीरिक तप कहलाता है)। अनुद्वेगकरं सत्यं प्रियहितं च यत् वाक्यं (किसीके मनमें जिससे उद्वेग उत्पन्न न हो ऐसा तथा सत्य प्रिय और हितकारी वाक्य कहना) स्वाध्यायाभ्यसनं च एव वाङ्मयं तप उच्यते (और वेदादिका स्वाध्याय करना वाचनिक तप कहलाता है)। मनःप्रसादः (मनकी प्रसन्नता) सौम्यत्वं (सौम्यभाव, अक्रूरता) मौनं (मुनिवृत्ति) आत्मविनिग्रहः (मनका निग्रह या निरोध) भावसंशुद्धिः (सकल विषयोंमें शुद्ध भावना) इति एतत् मानसं तपः उच्यते (यह सब मानसिक तप कहलाता है)।

सरलार्थ—देवद्विजगुरु विद्वानोंकी पूजा, शौच, सरल-बर्त्ताव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शारीरिक तप है। अनुद्वेग-कारी, सत्य, प्रिय और मङ्गलजनक वाक्य कथन तथा वेदादि पाठ वाचनिक तप है। मनकी शान्ति, सौम्यता, मुनिवृत्ति, मनोनिरोध और शुद्धभावना यह सब मानसिक तप है।

चन्द्रिका—स्वभावतः निरङ्कुश रहनेवाले शरीरादिको नियम तथा संयमके भीतर रखनेका नाम तप है। शरीरमें स्वभावतः ही हिंसादि

उत्पात मचानेकी प्रवृत्ति है, वागेन्द्रियमें स्वभावतः ही अप्रिय, असत्यादि बोलनेकी प्रवृत्ति है और मनमें स्वभावतः ही चञ्चल तथा विषयासक्त होनेकी प्रवृत्ति है । इन प्रवृत्तियोंको रोक कर इन्हें संयत रखनेको तप कहते हैं । देवपूजन, शौच आदिके द्वारा शरीरका संयम, सत्यप्रियादि कहते रहनेसे वागेन्द्रियका संयम और मुनि जैसी वृत्ति, मनोनिरोध आदि द्वारा मनःसंयम होता है । इसी कारण इन तीनोंको यथाक्रम श्रीभगवान्ने शारीरिक, वाचनिक तथा मानसिक तप कहा है ॥१४-१६॥

इन तपोंके गुणानुसार भेद बताते हैं—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

अन्वय—अफलाकांक्षिभिः युक्तैः नरैः परया श्रद्धया तप्तं (फलकामना छोड़ योगयुक्त बुद्धिसे परम श्रद्धाके साथ मनुष्य यदि इन तपोंका अनुष्ठान करें तो) तत् त्रिविधं तपः सात्त्विकं परिचक्षते (ये त्रिविध तप सात्त्विक कहे जाते हैं) । सत्कार-मानपूजार्थं दम्भेन च एव यत् तपः क्रियते (सत्कार, मान, पूजाके लिये या दम्भसे जो तप किया जाता है) इह चलं अध्रुवं तत् राजसं प्रोक्तम् (चञ्चल क्षणिकफलप्रद ऐसे तपको शास्त्रमें

राजसिक तप कहा जाता है)। मूढ़ग्राहेण आत्मनः पीड़या परस्य उत्सादनार्थं वा (मूढ़ताजन्य दुराग्रहसे, अपनेको पीड़ा देकर अथवा दूसरेके नाशके लिये) यत् तपः क्रियते, तत् तामसं उदाहृतम् (जो तप किया जाता है, उसे तामसिक तप कहते हैं)।

सरलार्थ—पूर्वोक्त शारीरिक, वाचनिक, मानसिक तीन प्रकारके तपोंको फलकामनाशून्य होकर योगयुक्त बुद्धिसे परम श्रद्धाके साथ यदि मनुष्य अनुष्ठान करें तो वे सात्त्विक कहाते हैं। सत्कार, मान, पूजाके लिये अथवा दम्भसे इन तपोंके करने पर क्षणिकफलप्रद ऐसे चञ्चल तप राजसिक कहे जाते हैं। मूढ़ताजन्य दुराग्रहसे, अपनेको कष्ट देकर अथवा दूसरेके नाशके लिये अभिचारादि रूपसे अनुष्ठित ऐसे तप तामसिक कहाते हैं।

चन्द्रिका—भाव तथा सङ्कल्पके भेदानुसार एक ही वस्तुकी इस प्रकार अनेक संज्ञा होती हैं। सत्त्वगुणमें कामनाराहित्य तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छा, रजोगुणमें ऐहलौकिक सुखभोगादिकी इच्छा और तमोगुणमें अज्ञान, अविवेक तथा दूसरेको वृथा सतानेकी इच्छा रहती है। इसीके अनुसार तपोंके फल भी मिलते हैं, यही तत्त्व समझने योग्य है ॥१७–१९॥

प्रसङ्गोपात्त दानके भी भेद बताये जाते हैं—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अन्वय—दातव्यं इति यत् दानं (देना चाहिये इस बुद्धिसे जो दान) अनुपकारिणे (प्रत्युपकार न करनेवाले मनुष्यको) देशे काले च पात्रे च (देश, काल तथा पात्रके विचारसे) दीयते तत् दानं सात्त्विकं स्मृतम् (दिया जाता है, उसे सात्त्विक दान कहते हैं)। यत् तु प्रत्युपकारार्थं, फलं उद्दिश्य वा पुनः (प्रत्युपकार पानेकी इच्छा अथवा किसी फल कामनासे जो दान) परिक्लिष्टं दीयते, तत् दानं राजसं स्मृतम् (खिन्नचित्तके साथ दिया जाता है, उसे राजसिक दान कहते हैं)। यत् दानं अदेशकाले अपात्रेभ्यः च (जो दान अयोग्य देशकाल तथा पात्रमें) असत्कृतं अवज्ञातं दीयते (सत्कारशून्यता तथा अवज्ञाके साथ दिया जाता है) तत् तामसं उदाहृतम् (उसको तामसिक दान कहते हैं)।

सरलार्थ—योग्य देश काल पात्रमें 'देना कर्त्तव्य है' इस बुद्धिसे ऐसे व्यक्तिको जो दान दिया जाय, जिससे प्रत्युपकारकी आशा न हो, वह दान सात्त्विक कहलाता है। प्रत्युपकार तथा फलकी आशासे क्लेशके साथ प्रदत्त दान राजसिक है। अयोग्य देश काल पात्रमें सत्कारशून्य तथा अवज्ञाभावसे दिया हुआ दान तामसिक है।

चन्द्रिका—पहिलेकी तरह इन सबमें भी भावानुसार ही भेद होते हैं यथा सात्विक भावमें कामनाशून्यता, राजसिक भावमें कामनाकी पूर्णता और तामसिक भावमें मूढ़ता तथा अज्ञानता रहती है। इसलिये सात्विक भावसे दिया हुआ एक पैसा भी दाताके लिये मोक्षका कारण बन सकता है, किन्तु राजसिक भावसे प्रदत्त लक्ष लक्ष रुपया भी केवल इहलोकमें ही यश आदि उत्पन्न करता है। और अयोग्य पात्रमें तामसी दानके फलसे कदाचित नरक भी मिल सकता है। पुण्यतीर्थ या दुर्भिक्ष-प्रपीड़ित देश योग्य देश है, ग्रहणादि काल या महामारी दुर्भिक्ष आदिका काल ही योग्य काल है, तपस्वी ज्ञानी ब्राह्मण या निर्धन भिखारी आदि ही योग्य पात्र है। इन्हीं देशकालपात्रको विचार कर दान ही सात्त्विक दान है और न विचार कर दान ही तामसिक दान है। राजसिक दानमें कामना रहनेके कारण 'मेरे दानसे उस कामनाकी सिद्धि होगी या नहीं' इस प्रकारका सन्देह राजसिक दानमें रहता है, यही 'परिक्लिष्ट' कहनेका तात्पर्य है। मूढ़ता और अविवेक ही तामसिकदानमें 'असत्कृत' 'अवज्ञात' भावसे देनेका कारण है॥ २०–२२॥

दान तपादि यज्ञोंका भावानुसार त्रिविध भेद बता कर, अब किस अद्वितीय मौलिक भावके द्वारा ये सभी सार्थक तथा परिपूर्ण बन सकते हैं उसीका उल्लेख कर रहे हैं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥२४॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ! युज्यते ॥२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

अन्वय—ॐ तत् सत् इति ब्रह्मणः त्रिविधः निर्देशः स्मृतः (ॐ, तत् और सत्-इन तीनोंके द्वारा शास्त्रमें ब्रह्मका निर्देश किया जाता है) तेन पुरा ब्राह्मणाः वेदाः च यज्ञाः च विहिताः (उसी निर्देशके अनुसार सृष्टिकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ प्रकट किये गये थे)। तस्मात् ॐ इति उदाहृत्य (इस लिये ॐ का उच्चारण करके) ब्रह्मवादिनां विधानोक्ताः यज्ञदानतपःक्रियाः प्रवर्त्तन्ते (वेदज्ञ पुरुषोंकी शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तप क्रिया चलती है)। तत् इति ('तत्' का उच्चारण करके) फलं अनभिसन्धाय (फलाकाङ्क्षाको छोड़) मोक्षकाङ्क्षिभिः विविधाः यज्ञतपःक्रियाः दानक्रियाः च क्रियन्ते (मुमुक्षुगण अनेकप्रकारकी यज्ञदान-तप क्रिया करते हैं)। हे पार्थ! (हे अर्जुन!) सद्भावे साधुभावे च 'सत्' इति एतत् प्रयुज्यते (सत्ता और साधुताके निर्देशमें 'सत्' का प्रयोग होता है), तथा प्रशस्ते कर्मणि सत् शब्दः युज्यते (इस प्रकार माङ्गलिक कार्यमें भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है)। यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः 'सत्' इति च उच्यते (यज्ञ तप और दानमें एकान्त निष्ठा को 'सत्' कहते हैं) तदर्थीयं कर्म च एव

'सत् इति अभिधीयते एव (यज्ञ दान तप सम्बन्धोय कर्मको भी 'सत्' ही कहा जाता है)।

सरलार्थ—शास्त्रमें ब्रह्मके 'ॐ तत् सत्' ये तीन प्रकारके निर्देश किये गये हैं। इन्ही निर्देशोंसे ही सृष्टिकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ प्रकट हुए थे। इसी कारण वेदवादिगण 'ॐ' उच्चारण करके शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तप क्रिया करते हैं। निष्काम मुमुक्षुगण 'तत्' उच्चारण करके अनेक प्रकारके यज्ञ तप दान क्रिया करते हैं। हे अर्जुन! सत्ता और साधुताके निर्देशमें 'सत्' का प्रयोग होता है, माङ्गलिक कार्यमें भी यही शब्द कहा जाता है। यज्ञ दान तपमें एकान्तिक निष्ठाको 'सत्' कहते हैं और उस विषयका कर्म भी 'सत्' ही कहाता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें 'ॐ तत् सत्' मन्त्र द्वारा पूर्व वर्णित यज्ञ दानादि समस्त कार्योंको आप्यायित तथा परिपूर्ण और पूर्णफलप्रद बनानेका गूढ़ रहस्य बताया गया है। ॐ, तत्, सत् ये तीन मन्त्र ही परमात्माके बोधक या वाचक नाम हैं। 'ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा ॐ, तत्, सत् तीनोंको ही ब्रह्मका बोधक कहा गया है। 'ॐ' से परमात्माके अध्यात्म भावका 'तत्' से परमात्माके अधिदैव भावका और 'सत्' से परमात्माके अधिभूत भावका निर्देश होता है। सृष्टि यज्ञ द्वारा होती है, यज्ञ वेदविहित है और यज्ञके ऋत्विक ब्राह्मण ही होते हैं, इस कारण सबके मूलभूत ब्रह्मका 'ॐ तत् सत्' नाम उच्चारण करके ही प्रजापतिने यज्ञ, वेद, ब्राह्मणको सृष्टिकालमें उत्पन्न किया था, यही प्रथम श्लोकका तात्पर्य है। ब्रह्म जब सबका मूल

तथा प्रपञ्चके मूलमें अवस्थित 'सत्' पदार्थ है, तो इसी मौलिक 'सत्' पदार्थके साथ सम्बन्ध जोड़ कर जो कुछ स्थूल कार्य जिस भावसे भी किया जायगा वह सभी आप्यायित तथा सफल होगा इसमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। उनका 'ॐ' शब्द द्वारा वाच्य अध्यात्मभाव 'ब्रह्म' है, 'तत्' शब्द द्वारा वाच्य अधिदैव भाव ईश्वर है और 'सत्' शब्द द्वारा वाच्य अधिभूत भाव विराट है। इस कारण 'माङ्गलिक' समझ कर ब्रह्मवादिगण 'ॐ' कह कर यज्ञादि करते हैं, कामनाशून्य मुमुक्षुगण ईश्वर प्राप्तिके लक्ष्यसे 'तत्' कह कर यज्ञादि करते हैं और इहलोकमें उन्नति लाभेच्छु मनुष्यगण 'सत्' कह कर विवाहादि माङ्गलिक कार्योंको करते हैं। परमात्माकी अद्वितीय 'सत्' सत्ता पर ही समस्त आधिभौतिक सृष्टि अवलम्बित है, इस कारण सत्ता, साधुता, माङ्गलिक कार्य, यज्ञादिमें निष्ठा, तथा यज्ञादि कार्य सभीको 'सत्' मय कहा गया है। यही सब इन वर्णनोंका तात्पर्य है ॥२३-२७॥

अब सत्-भावकी पुष्टिके लिये असत्-भावकी निन्दा करते हुए प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ! न च तत् प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।

अन्वय—अश्रद्धया हुतं दत्तं तप्तं तपः यत् कृतं च असत् इति उच्यते (अश्रद्धासे जो कुछ हवन किया जाय, दिया जाय,

तप किया जाय और कार्य किया जाय वह असत् ही कहलाता है) हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) न च तत् प्रेत्य नो इह (उससे परलोक इहलोक कहीं भी कल्याण नहीं होता है)।

सरलार्थ—अश्रद्धासे अनुष्ठित हवन, दान, तप, कर्म सभी असत् कहलाता है। हे अर्जुन ! उससे इहलोक, परलोक कहीं भी कल्याण नहीं होता है।

चन्द्रिका—'श्रद्धा' पर अध्यायका प्रारम्भ करके श्रद्धा पर ही उपसंहार किया गया है। श्रद्धाकृत कार्य ही सात्त्विक है, श्रद्धारहित कार्य तामसिक है। अतः राजसिक तामसिक भावको छोड़ सात्त्विक भावके साथ ही 'ॐ तत् सत्' मन्त्रोच्चारणपूर्वक समस्त कृत्योंको आप्यायित करते हुए वर्णाश्रमानुकूल कर्त्तव्योंका अनुष्ठान करना चाहिये यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥ २८ ॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसम्वाद्का 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तदश अध्याय समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः।

इस अन्तिम अध्यायमें समस्त अध्यायोंका उपसंहार है, इस कारण इसमें सबका निचोड़ भर दिया गया है। इसमें प्रथम छः अध्यायोंमें कथित कर्मयोगसिद्धान्त, बीचके छः अध्यायोंमें कथित उपासनायोगसिद्धान्त और अन्तिम अध्यायोंमें कथित ज्ञानयोगसिद्धान्त—एकाधारमें सभी सिद्धान्तोंके समावेश किये गये हैं और अन्तमें अपने भक्तको अनन्यशरण बना कर श्रीभगवान्ने अपवर्गका सिंहद्वार दिखा दिया है। अब प्रसङ्गानुसार प्रथमतः कर्मयोगके विषयमें प्रश्नोत्तररूपसे विवेचन कर रहे हैं—

अर्जुन उवाच—

सन्न्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक् केशिनिसूदन ! ॥१॥

अन्वय—हे केशिनिसूदन ! महाबाहो ! हृषीकेश ! (हे केशिहन्ता विपुलबाहु इन्द्रियाधिष्ठाता भगवन् !) सन्न्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथक् वेदितुं इच्छामि (मैं सन्न्यास तथा त्यागके रहस्यको पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे केशिघातक विपुलबाहो हृषीकेश भगवन् ! सन्न्यास और त्यागके तत्त्वको मैं पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ।

चन्द्रिका—सम्बोधनोंके द्वारा श्रीभगवान्के प्रति परम अनुराग प्रकट किया गया है। केशिनामक अश्वाकृति दैत्यके मुख में हाथ डाल

कर तत्क्षणात् हाथको प्रचण्ड बनाते हुए श्रीभगवान्‌ने उसे मार दिया था इस कारण वे 'केशिमथन महाबाहु' कहलाते हैं । 'हृषीकेश' होनेसे भगवान् सबके चालक हैं ही, अतः अर्जुनको भी कर्त्तव्यपथ दिखावेंगे यही प्रार्थना है ॥ १ ॥

अब 'सन्न्यास' तथा 'त्यागका' स्वरूप क्या है उसी पर पृथक् पृथक् विवेचनार्थ अर्जुनका प्रश्न होता है ।

प्रश्नानुरूप उत्तर श्रीभगवान् देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः ॥४॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

अन्वय—कवयः काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं विदुः (ज्ञानिगण सकामकर्मोंके न्यास अर्थात् त्यागको ही सन्न्यास समझते हैं) विचक्षणाः सर्वकर्मफलत्यागं त्यागं प्राहुः (पण्डितगण सकल कर्मोंके फलत्यागको ही त्याग कहते हैं) । एके मनीषिणः

कर्म दोषवत् इति त्याज्यं प्राहुः (कुछ पण्डितोंका यह कथन है कि कर्म दोषयुक्त है इसलिये कर्मको त्याग देना चाहिये) अपरे यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं इति (दूसरे कहते हैं कि यज्ञ दान तप रूपी कर्मोंको त्यागना नहीं चाहिये)। हे भरतसत्तम! (हे अर्जुन!) तत्र त्यागे मे निश्चयं शृणु (त्यागके विषयमें मेरे निश्चित मतको सुनो) हे पुरुषव्याघ्र! (हे अर्जुन!) त्यागः हि त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः (त्याग तीन प्रकारका कहा गया है)। यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं तत् कार्यं एव (यज्ञ दान तपरूपी कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, किन्तु इसे करना ही चाहिये) यज्ञः दानं तपः च मनीषिणां पावनानि एव (यज्ञ दान तप विवेकियोंके लिये चित्तशुद्धिकारक होता है)। हे पार्थ! (हे अर्जुन!) एतानि कर्माणि अपि तु सङ्गं फलानि च त्यक्त्वा (यज्ञ दान तप रूपी कर्मोंको आसक्ति तथा फलकामना छोड़ कर) कर्त्तव्यानि इति मे निश्चितं उत्तमं मतम् (करना चाहिये यही मेरा निश्चित मत श्रेष्ठ है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—ज्ञानिगण सकाम कर्मके न्यासको सन्न्यास समझते हैं और सकल कर्मोंके फलत्यागको त्याग कहते हैं। कर्म दोषयुक्त होनेके कारण त्याज्य है ऐसा किसी किसी मनीषिका कथन है, और यज्ञ दान तप कार्य नहीं त्यागना चाहिये ऐसी ही दूसरोंकी राय है। हे भरतसत्तम पुरुषव्याघ्र अर्जुन! इस विषयमें मेरे निश्चित मतको सुनो, त्याग तीन प्रकारके कहे गये हैं। यज्ञ दान तप कार्यको त्यागना नहीं चाहिये, किन्तु करना ही चाहिये, क्योंकि इनके द्वारा

मुमुक्षु साधक चित्तशुद्धि लाभ करते हैं। हे अर्जुन! यज्ञ दान तपरूपी कर्मोंको आसक्ति तथा फलकामना छोड़ कर करते रहना चाहिये यही मेरा निश्चित मत उत्तम है।

चन्द्रिका—जैसा कि पहिले कहा गया है, इन श्लोकोंमें प्रथम छः अध्यायोंमें वर्णित कर्मयोगविज्ञान पर ही विचार किया गया है। सन्न्यास या त्यागमें कर्मोंका पूर्ण त्याग कदापि विवक्षित नहीं है, किन्तु केवल फलकामनाका त्याग करके निष्कामरूपसे स्वधर्मानुष्ठान करना ही विवक्षित है। 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः स संन्यासी' यही विज्ञान श्रीभगवान्‌ने प्रकारान्तरसे सर्वत्र ही प्रकाशित किया है। केवल निष्काम कर्मयोगकी सिद्धावस्थामें जब योगीको 'आत्मरति' प्राप्त हो जाय, तब कर्त्तव्यरूपसे कर्मानुष्ठान नहीं रहता है, किन्तु प्रारब्धक्षय या विराट केन्द्रद्वारा चालित होकर 'अनायास' करना रूप कार्य रहता है। इस कारण 'कर्म करना या कर्म त्यागना' इस विषयमें मतभेद रहने पर भी कर्म करना ही श्रेय है यही श्रीभगवान्‌का निश्चित मत है। अब रहा 'कैसा कर्म करना चाहिये' इसके लिये श्रीभगवान्‌ने यज्ञ दान तप रूपी धर्मके प्रधान तीन अङ्ग बताये हैं। इन तीन अङ्गोंके भी चौबीस भेद होते हैं यथा कर्मयज्ञके छः भेद, उपासना यज्ञके नौ भेद, ज्ञानयज्ञके तीन भेद, दानके तीन और तपके तीन भेद। ये चौबीस भेद भी त्रिगुणके तारतम्यानुसार ७२ प्रकारके हो जाते हैं और धृति, क्षमा, दया आदि उपाङ्ग तो अनन्त ही होते हैं। अतः अपने अपने वर्णाश्रमानुसार यज्ञ दान तप अथवा इनमेंसे किसी भी अङ्गका निष्कामभावसे अनुष्ठान करना ही परम मङ्गलजनक तथा चित्तशुद्धिकर है, यही अर्जुन तथा जगज्जीवोंके प्रति श्रीभगवान्‌का उपदेश है। 'पुरुषव्याघ्र' और 'भरतसत्तम' इन

सम्बोधनोंका तात्पर्य यह है कि उत्तमपुरुषार्थ शक्ति तथा उत्तम कुलमें जन्म होनेके कारण अर्जुन इन रहस्योंको यथार्थतः समझ कर तदनुसार स्वधर्मपालन कर सकेंगे ॥ २–६ ॥

अब पूर्वप्रस्तावानुसार त्यागके तीन भेद बताते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥७॥
दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन!।
त्यक्त्वा सङ्गं फलञ्चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

अन्वय—नियतस्य कर्मणः तु सन्न्यासः न उपपद्यते (अपने वर्णाश्रमानुसार नियत कर्मका त्याग करना उचित नहीं है) मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्त्तितः (अविवेकसे उसका त्याग तामसिक त्याग कहाता है)। दुःखं इति एव कायक्लेशभयात् यत् कर्म त्यजेत् (इसमें दुःख होगा इस प्रकार शारीरिक कष्टके भयसे जो कर्मको त्याग देता है) सः राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं न एव लभेत् (वह ऐसे राजसिक त्यागके द्वारा त्यागफलको नहीं पाता है)। हे अर्जुन! (हे अर्जुन!) कार्यं इति एव यत् नियतं कर्म (करना चाहिये इस कर्त्तव्यबुद्धिसे जो वर्णाश्रमानुसार निर्दिष्ट कर्म) सङ्गं फलं च एव त्यक्त्वा क्रियते (आसक्ति तथा फलकामनाको छोड़ कर किया जाता है) सः त्यागः सात्त्विकः मतः (उसीको सात्त्विक त्याग कहते हैं)।

सरलार्थ—वर्णाश्रमानुसार निर्दिष्ट कर्मको त्यागना उचित नहीं है। अविवेकसे ऐसा त्याग करना तामसिक त्याग कहलाता है। इसमें दुःख होगा इस प्रकार शारीरिक क्लेशके भयसे कर्मत्याग राजसिक है, ऐसा त्यागनेवाला त्यागके फलको नहीं पाता है। हे अर्जुन! केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे आसक्ति तथा फलकामनाशून्य होकर वर्णाश्रमविहित कर्मानुष्ठानको सात्त्विक त्याग कहते हैं।

चन्द्रिका—इन वर्णनोंसे भी यही निष्कर्ष प्रकट होता है, कि स्वधर्मानुसार कर्त्तव्यको निष्काम भावसे करना ही यथार्थ त्याग है, कर्मको एकबारगी छोड़ देना त्याग नहीं है। वर्णाश्रम विहित कर्त्तव्यको अविवेकसे छोड़नेवाला तामसिक त्यागी और शारीरिक कष्टके भयसे छोड़नेवाला राजसिक त्यागी कहलाता है। ऐसे त्याग निष्फल, आध्यात्मिकपतनकारी तथा झूठे त्याग कहलाते हैं। विवेकी जनोंके लिये ऐसा करना सर्वथा अकर्त्तव्य है ॥ ७–९ ॥

अब यथार्थ त्यागी कैसे होते हैं सो बतलाते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अन्वय—मेधावी (बुद्धि विवेक युक्त अतः तामसिक त्याग न करनेवाला) छिन्नसंशयः (संशयादि रजोगुणकृत दोषशून्य)

सत्त्वसमाविष्टः त्यागी (सत्त्वगुणी सात्त्विक त्यागशील पुरुष) अकुशलं कर्म न द्वेष्टि (अकल्याणजनक कर्मके प्रति द्वेष नहीं रखता है) कुशले न अनुषज्जते (कल्याणजनक कर्ममें अनुराग-बद्ध भी नहीं हो जाता है)। देहभृता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न हि शक्यम् (शरीरधारी जीवके लिये एकबारगी सब कर्म त्याग देना सम्भव नहीं है) यः तु कर्मफलत्यागी, सः त्यागी इति अभिधीयते (इसलिये जो कर्मका फल त्यागता है, वही यथार्थ त्यागी कहलाता है)। अत्यागिनां प्रेत्य (फलाकांक्षाके न छोड़ने वालोंको मृत्युके अनन्तर) अनिष्टं इष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलं भवति (अनिष्ट, इष्ट और इष्टानिष्ट तीन प्रकारके कर्मफल मिलते हैं) तु सन्न्यासिनां क्वचित् न (किन्तु सात्त्विक त्यागीको कुछ नहीं मिलता अर्थात् ये कर्म बन्धनदायक नहीं होते)।

सरलार्थ—बुद्धिमान्, संशयरहित, सात्त्विक त्यागी अकुशल कर्ममें द्वेष या कुशलकर्ममें आसक्ति नहीं रखते हैं। देहधारी जीवके लिये एकबारगी सब कर्म त्यागना असम्भव है, अतः कर्मफलत्यागी ही यथार्थ त्यागी कहलाता है। अत्यागी पुरुषको ही मरणानन्तर इष्ट, अनिष्ट और इष्टानिष्ट त्रिविध कर्मके फल भोगने पड़ते हैं, किन्तु सात्त्विक त्यागी पुरुषको ये कर्म बाधा नहीं दे सकते।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें सात्त्विक त्यागशील पुरुषकी उत्तमता बताई गई है। वे कर्त्तव्यबुद्धिसे निष्काम होकर कार्य करते हैं, इस कारण सुखजनक कार्यमें राग या दुःखजनक कार्यमें द्वेष कुछ ही इन्हें नहीं

होता है। इनकी कर्मप्रवृत्तिके मूलमें वासनाबीजके न रहनेके कारण मृत्युके अनन्तर भी अच्छे, बुरे या मिलेजुले किसी कर्मके भी फलभोग इन्हें नहीं करने पड़ते हैं। ये सकल कर्म भगवान्‌को सौंप कर अन्तमें भगवान्‌को ही पाते हैं ॥१०—१२॥

अब कर्मका रहस्यवर्णन करते हुए इसी तत्त्वका प्रतिपादन कर रहे हैं—

पञ्चैतानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥
तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अन्वय—हे महाबाहो ! (हे अर्जुन !) कृतान्ते सांख्ये (कर्म-सिद्धान्तनिर्णयकारी सांख्य शास्त्रमें) सर्वकर्मणां सिद्धये (सकल कर्मोंकी सिद्धिके लिये) प्रोक्तानि इमानि पञ्चकारणानि (कहे हुए ये पांच कारण) मे निबोध (मुझसे जानो)। अधिष्ठानं (जिस स्थान या आधारमें कार्य होता है वह) तथा कर्त्ता (जो कार्य करता है वह) पृथग्विधं करणं च (जिन भिन्न भिन्न साधनोंके

द्वारा कर्म किया जाता है वे) विविधाः पृथक् चेष्टाः च (कर्म सिद्धिके लिये अनुष्ठित अनेक प्रकारके पृथक् पृथक् व्यापार) अत्र पञ्चमं दैवं च एव (और पांचवां 'अदृष्ट' जो देवताके अधीन है)। नरः शरीरवाङ्मनोभिः यत् न्याय्यं वा विपरीतं वा कर्म प्रारभते (शरीर, मन, वचनके द्वारा अच्छा बुरा जो कुछ कार्य मनुष्य करता है) एते पञ्च तस्य हेतवः (ये पांच उसके कारण हैं)। एवं सति तत्र (वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी उसमें) अकृतबुद्धित्वात् यः केवलं आत्मानं कर्त्तारं पश्यति (असंस्कृतबुद्धिके कारण जो केवल आत्माको ही कर्त्ता देखता है) सः दुर्मतिः न पश्यति (वह दुर्मति ठीक नहीं देखता है)। यस्य अहंकृतः भावः न (जिसका 'मैं करता हूँ' इस प्रकार अहन्ताका भाव नहीं है) यस्य बुद्धिः न लिप्यते (जिसकी बुद्धि कर्ममें लिप्त नहीं होती है) सः इमान् लोकान् हत्वा अपि न हन्ति न निबध्यते (वह सबको मार भी डाले तो भी न किसीको मारता है और न उससे बन्धनको प्राप्त होता है।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! कर्मसिद्धान्तप्रतिपादक सांख्य-शास्त्रमें सकल कर्मोंकी सिद्धिके लिये जो पांच कारण कहे गये हैं सो मुझसे सुनो। अधिष्ठान, कर्त्ता, अलग अलग साधन, विविध व्यापार और पांचवां दैव—ये ही पांच कारण होते हैं। शरीर मन वचनसे अच्छा बुरा जो कुछ काम मनुष्य करता है उसके ये ही पांच कारण हैं। वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी असंस्कृत बुद्धिके कारण जो मन्दमति आत्माको ही कर्त्ता

समझता है वह कुछ नहीं समझता है। जिसमें 'मैं करता हूँ' इस प्रकार अहम्भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्ममें लिप्त नहीं होती है, वह सबको मार डालने पर भी न मारता ही है और न कर्मबन्धनको ही प्राप्त करता है।

चन्द्रिका—सांख्यमें त्रिगुण विचारसे कर्मोंका सिद्धान्त बताया गया है, इस कारण सांख्य 'कृतान्त' है। 'कृत' अर्थात् किया गया है, 'अन्त' अर्थात् निर्णय जिसमें वह कृतान्त है। इसी सांख्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार कर्मसिद्धिके पांच हेतु होते हैं। शरीर, बद्धात्माका अहम्भाव, इन्द्रियादि करण अर्थात् साधनसामग्री, नानाप्रकारके स्थूल तथा प्राणादियोंके व्यापार और अदृष्ट ये ही पांच हेतु हैं। अच्छे, बुरे प्राक्तनके अनुसार शुभाशुभ अदृष्ट बनते हैं, जिनके चालक देवतागण हैं। इस कारण इसका नाम 'दैव' है। दैव अशुभ होने पर कार्यसिद्धिमें देर लगती है और दैव शुभ होने पर थोड़े ही परिश्रमसे अधिक सफलता मिलती है। अतः कर्मसिद्धिमें दैव भी एक बलवान् हेतु है। अभिमानिक आत्मा इन हेतुओंको अपने ऊपर आरोपित करके अपने ही को कर्त्ता भोक्ता मानता है यही आत्माका काल्पनिक बन्धन है। किन्तु तत्त्वज्ञान-द्वारा अहम्भावका नाश होने पर ज्ञानीको जब पता लग जाता है, कि आत्मा कर्त्ता भोक्ता नहीं है, प्रकृति ही सब कुछ करती है, तब पुनः वह कर्मबन्धनमें नहीं फंसता है। उस समय प्रारब्ध वेगसे या विराटकेन्द्रके इङ्गितसे अनायास 'हत्या' भी ऐसे मुक्तात्माके द्वारा हो जाय, तौभी वह कर्म या उसका फलाफल उसे स्पर्श नहीं करेगा। युधिष्ठिरसे असत्य कहलाना, दुर्योधनको नग्न होकर माताके पास जानेके समय धोका देना,

रासलीला आदि व्यापारोंका फलाफल कुछ भी जो श्रीकृष्ण भगवान्‌को प्राप्त नहीं हुआ था, इसका यही कारण है। श्रीमद्भागवतमें लिखा भी है—

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेन चाऽनर्थो निरहंकारिणां प्रभो॥

कर्मके प्रति अहंभावके न रहनेके कारण श्रीकृष्ण जैसे मुक्तात्माओंको अच्छे बुरे कर्मका फलाफल स्पर्श नहीं कर सकता है। अतः इस उक्त अवस्था पर पहुंचनेके लिए बलात् कर्मत्याग न करके सात्त्विकत्यागके सिद्धान्तानुसार निष्काम भावसे वर्णाश्रमानुकूल कर्त्तव्यका अनुष्ठान करना ही श्रेयस्कर है, यही श्रीभगवान्‌का अतिगूढ़ उपदेश है। इस विषयमें और भी तत्त्व निरूपण द्वितीयाध्यायमें किया जा चुका है, अतः यहां पर पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है॥१३—१७॥

कर्मसिद्धिके विषयमें विचार करके अब कर्मोत्पत्तिके विषयमें विचार कर रहे हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥१८॥

अन्वय—ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता (ज्ञान, जानने योग्य वस्तु और जाननेवाला) त्रिविधा कर्मचोदना (कर्मप्रवृत्तिमें ये तीन हेतु होते हैं) करणं कर्म कर्त्ता (कार्यमें सहायक वस्तु, कार्य और करनेवाला) इति त्रिविधः कर्मसंग्रहः (कार्यके होनेमें ये तीन हेतु होते हैं)।

सरलार्थ—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता कर्मप्रवृत्तिमें ये तीन हेतु तथा करण, कर्म, कर्त्ता कर्मसंग्रहमें ये तीन हेतु होते हैं।

चन्द्रिका—पहिलेके वर्णनोंमें कर्मसिद्धिके पांच हेतु बताये गये थे । अब कर्मकी प्रवृत्ति तथा कर्मके होनेमें तीन हेतु बताये जाते हैं । किसी कार्यके करनेसे पूर्व प्रथमतः करनेवाला करने योग्य वस्तुके विषयमें चित्तमें विचार लेता है । वह विचार लेना 'ज्ञान', जिस विषयमें विचारा वह 'ज्ञेय' और विचारने वाला 'ज्ञाता या परिज्ञाता' कहलाता है । अतः कर्मचोदना अर्थात् कर्मप्रेरणा या कर्मप्रवृत्तिमें ये तीन हेतु हुए । इस तरह कर्मप्रवृत्ति होनेके बाद जब कर्म किया जाता है तो जिन साधन सामग्रियोंसे कर्म होगा वे 'करण', इन साधनोंको काममें लाने वाला 'कर्त्ता' और जो कुछ किया जायगा वह 'कर्म' कहाता है । अतः कर्म-संग्रह अर्थात् कर्मके होनेमें ये तीन हेतु हुए । कर्मसिद्धिसे पूर्व इस तरह 'कर्मसंग्रह' और कर्मसंग्रहसे भी पूर्व 'कर्मचोदना' होती है ॥१८॥

अब प्रसङ्गोपात्त कर्म, कर्त्ता, ज्ञान आदि विषयों पर त्रिगुणानुसार विचार करके आत्माका अकर्तृत्व तथा सात्त्विक त्यागका रहस्य और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अन्वय—गुणसंख्याने (त्रिगुणविवेचनकारी सांख्य शास्त्रमें) ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च गुणभेदतः त्रिधा एव प्रोच्यते (ज्ञान, कर्म और कर्त्ता त्रिगुणभेदसे तीन प्रकारके कहे जाते हैं) तानि अपि यथावत् शृणु (उन्हें भी ज्योंके त्यों सुन लो) येन विभक्तेषु सर्वभूतेषु अविभक्तं एकं अव्ययं भावं ईक्षते (जिस ज्ञानके द्वारा भिन्न भिन्न सकल भूतोंमें अभिन्न, अद्वितीय अव्यय एक ही भाव अनुभवमें आ जाता है) तत् ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि (उसको सात्त्विक ज्ञान जानो)। पृथक्त्वेन तु यत् ज्ञानं सर्वेषु भूतेषु पृथग्विधान् नानाभावान् वेत्ति (किन्तु जिस ज्ञानके द्वारा पृथक् रूपसे सब भूतोंमें पृथक् पृथक् अनेक भाव देखनेमें आवें) तत् ज्ञानं राजसं विद्धि (उसे राजसिक ज्ञान जानो)। यत् तु एकस्मिन् कार्ये (पुनः जो ज्ञान एक ही विषयमें) कृत्स्नवत् सक्तं अहैतुकं अतत्त्वार्थवत् अल्पं च (सब कुछ मान कर आसक्त, हेतु और तत्त्व पदार्थसे शून्य तथा तुच्छ होवे) तत् तामसं उदाहृतम् (उसे तामसिक ज्ञान कहते हैं)।

सरलार्थ—सांख्यशास्त्रमें ज्ञान, कर्म और कर्त्ता त्रिगुणभेदानुसार तीन प्रकारके कहे गये हैं, उन्हें यथावत् सुनो। जिस ज्ञानके द्वारा भिन्न भिन्न सकलभूतोंमें अभिन्न, अव्यय एकही भाव अनुभवमें आवे उसको सात्त्विक ज्ञान कहते हैं। किन्तु जिस ज्ञानके द्वारा अलग अलग भूतोंमें अलग अलग ही सब भाव दीखे उसे राजसिक ज्ञान समझना चाहिये। पुनः जो अकिञ्चित्कर ज्ञान एक ही में सब कुछ दिखा कर जीवके

फंसा देवे और जिसके मूलमें न तत्त्व है, न युक्ति है, उसको तामसिक ज्ञान कहा जाता है।

चन्द्रिका——त्रिगुणानुसार भेद वर्णनमें प्रथमतः ज्ञानके तीन भेद इन श्लोकोंमें बताये गये हैं । अनेकके मूलमें एकको ही देखना, समस्त प्रपञ्चके मूलमें अद्वितीय ब्रह्मभावकी उपलब्धि करना सात्त्विक ज्ञानका लक्षण है । 'यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति' इत्यादि कह कर पहिले ही श्रीभगवान्‌ने आत्मानुभूतिका लक्षण बता दिया है। सात्त्विकज्ञानके फलसे यही अनुभूति प्राप्त होती है। राजसिक ज्ञान इससे छोटे अधिकारका है, इसमें अद्वैतबोध नहीं होता है, किन्तु स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि पृथक् पृथक् पदार्थमें पृथकता ही इसके द्वारा देखनेमें आती है । और तामसिक ज्ञान सात्त्विक ज्ञानसे ठीक विपरीत है, इस कारण इसके द्वारा अनेकमें एकत्व-बोध न होकर एकमें ही झूटमूट अनेकत्व माना जाता है । हमारे बाल बच्चे धन धान्य ही सब कुछ हैं, हमें अपने शरीर इन्द्रियोंका भोग मिला तो सब कुछ हो गया, शरीर ही सब कुछ है, इस तरहका युक्तिशून्य, निःसार, अकिञ्चित्कर ज्ञान तामसिक कहलाता है । यही त्रिगुणानुसार ज्ञानके तीन भेद हैं ॥१९–२२॥

अब कर्मके तीन भेद बताते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

अन्वय—अफलप्रेप्सुना (फलाकांक्षारहित व्यक्तिके द्वारा) नियतं सङ्गरहितं अरागद्वेषतः कृतं यत् कर्म (स्वधर्मानुसार निर्दिष्ट जो कर्म बिना आसक्ति तथा रागद्वेषके किया जाता है) तत् सात्त्विकं उच्यते (उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं)। यत् तु पुनः कर्म कामेप्सुना साहंकारेण वा बहुलायासं क्रियते (किन्तु जो कर्म सकाम अथवा अहंकारी मनुष्यके द्वारा विशेष परिश्रमके साथ अनुष्ठित होता है) तत् राजसं उदाहृतम् (उसे राजसिक कर्म कहते हैं)। अनुबन्धं (भावी फलाफल) क्षयं हिंसां पौरुषं च अनपेक्ष्य (शक्तिनाश, जीवनाश तथा अपनी सामर्थ्यका विचार न करके) मोहात् यत् कर्म आरभ्यते (केवल अविवेकसे जो कर्म आरम्भ किया जाता है) तत् तामसं उच्यते (उसे तामसिक कर्म कहते हैं)।

सरलार्थ—फलाकांक्षारहित मनुष्य आसक्ति तथा रागद्वेष छोड़कर जो स्वधर्मानुसार निर्दिष्ट कर्मको करता है उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं। किन्तु जो कर्म सकाम अथवा अहंकारी मनुष्यके द्वारा विशेष परिश्रमसे किया जाता है उसे राजसिक कर्म कहते हैं। जो कर्म अज्ञानसे प्रारम्भ किया जाता है और जिसमें भावी शुभाशुभ, शक्तिक्षय, प्राणिहिंसा तथा अपनी सामर्थ्यका विचार नहीं रहता है उसे तामसिक कर्म कहते हैं।

चन्द्रिका—गुणविभागमें वही पूर्ववर्णित सिद्धान्त इसमें भी बताया गया है। यथा—सात्त्विक कर्ममें कामना नहीं है, उसकी प्रवृत्ति राग या द्वेषजन्य नहीं है, राजसिक कर्ममें कामना या दम्भ दिखाना कर्मप्रवृत्तिका हेतु है और तामसिक कर्ममें विचारशून्यता तथा अविवेक ही हेतु है ॥२३-२५॥

अथ कर्त्ताके तीन भेद बताते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अन्वय—मुक्तसङ्गः (आसक्तिरहित) अनहंवादी (मैं कर्त्ता हूं ऐसा न कहने वाला) धृत्युत्साहसमन्वितः (धैर्य्य तथा उत्साहसे युक्त) सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः (सफलता या विफलतामें विकाररहित अर्थात् हर्षविषादशून्य) कर्त्ता सात्त्विकः उच्यते (कर्त्ता सात्त्विक कहलाता है)। रागी (विषयासक्त) कर्मफलप्रेप्सुः (कर्मफलका चाहनेवाला) लुब्धः हिंसात्मकः अशुचिः हर्षशोकान्वितः (लोभी, परपीड़नकारी, अशुचि, सिद्धिमें हर्ष तथा असिद्धिमें विषादसे युक्त) कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः (कर्त्ता राजसिक कहलाता है)। अयुक्तः (युक्तबुद्धिशून्य) प्राकृतः (गँवार) स्तब्धः (अनम्र) शठः (ठग) नैष्कृतिकः (अनिष्टकारी) अलसः (उद्यमहीन) विषादी (अप्रसन्नचित्त) दीर्घसूत्री च (और दीर्घसूत्री अर्थात् थोड़ी देरका काम घण्टोंमें करनेवाला) कर्त्ता तामसः उच्यते (कर्त्ता तामसिक कहलाता है)।

सरलार्थ—आसक्ति तथा अहम्भावरहित, धीरता और उत्साहसे युक्त, सिद्धि असिद्धिमें एकरस कर्त्ता सात्त्विक है।

विषयी, कर्मफलकामी, लोभी, हिंसास्वभाव, शुचिताशून्य, सिद्धि असिद्धिमें हर्षखेदयुक्त कर्त्ता राजसिक है । चञ्चलचित्त, गंवार, अनम्र, शठ, परानिष्टकारी, उद्यमहीन, विषादग्रस्त, दीर्घसूत्री कर्त्ता तामसिक है ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें भी पहिलासा भाव है । सात्त्विक कर्त्तामें अहन्ता, ममता या आसक्ति नहीं है । वे केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे भगवान्को स्मरण करके कर्मयोगविज्ञानके अनुसार कार्य करते हैं । इन्हें न सिद्धिमें ही हर्ष है और न असिद्धिमें ही विषाद है । इससे ठीक विपरीत भाव राजसिक कर्त्तामें, तथा अज्ञान अविवेक और मोहकी प्रधानता तामसिक कर्त्तामें रहती है । यही तत्त्व जानना चाहिये ॥ २६—२८ ॥

अब बुद्धि तथा धृतिके तीन तीन भेद बता रहे हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ! ॥ २९ ॥
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥३२॥
धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ! ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥३५॥

अन्वय—हे धनञ्जय ! (हे अर्जुन !) बुद्धेः धृतेः च गुणतः एव त्रिविधं (बुद्धि और धृतिके त्रिगुणानुसार तीन प्रकारके) पृथक्त्वेन अशेषेण प्रोच्यमानं भेदं शृणु (अलग अलग विस्तारितरूपसे कथित भेदको सुनो)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये बन्धं मोक्षं च (प्रवृत्ति निवृत्ति, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, भय अभय तथा बन्धन और मुक्तिके रहस्यको) या बुद्धिः वेत्ति सा सात्त्विकी (जो बुद्धि जानती है वह सात्त्विकी है)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) यया धर्मं अधर्मं च कार्यं च अकार्यं एव च (जिस बुद्धिके द्वारा धर्म, अधर्म तथा कर्त्तव्य अकर्त्तव्यको) अयथावत् प्रजानाति (यथार्थरूपसे मनुष्य जान न सके) सा राजसी बुद्धिः (उसको राजसी बुद्धि कहते हैं)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) या अधर्मं धर्मं इति मन्यते (जो बुद्धि अधर्मको धर्म समझती है) सर्वार्थान् विपरीतान् च (सकल विषयोंमें उल्टी समझ कर देती है) तमसावृता सा बुद्धिः तामसी (तमोगुणसे आच्छन्न वह बुद्धि तामसी है)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) योगेन (समाहितचित्तकी सहायतासे) यया अव्यभिचारिण्या धृत्या (जिस न डिगनेवाली धृतिके द्वारा) मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः धारयते (मन, प्राण और इन्द्रियोंके व्यापारोंको कुपथमें जानेसे

रोका जाता है) सा धृतिः सात्त्विकी (उसका नाम सात्त्विकी धृति है)। हे पार्थ ! अर्जुन ! (हे अर्जुन !) प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी (धर्म, अर्थ, कामके प्रसङ्ग अर्थात् सम्बन्धसे फलकी आकाङ्क्षा करके) यया तु धृत्या धर्मकामार्थान् धारयते (जिस धृतिके द्वारा मनको धर्म, काम, अर्थमें लगा रक्खा जाता है) सा धृतिः राजसी (उसको राजसी धृति कहते हैं)। दुर्मेधाः (दुष्टबुद्धि मनुष्य) यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदं एव च न विमुञ्चति (जिस धृतिके द्वारा निद्रा भय शोक विषाद तथा मदको नहीं छोड़ता है) सा धृतिः तामसी मता (वह तामसी धृति मानी गई है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! बुद्धि और धृतिके पृथक् पृथक् विस्तारितरूपसे वर्णित त्रिगुणानुसार तीन तीन भेद सुनो। जिस बुद्धिके द्वारा प्रवृत्ति निवृत्ति, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, भय अभय और बन्धन मुक्तिके रहस्य ठीक ठीक जाने जांय वह सात्त्विक बुद्धि है। धर्म अधर्म, कर्त्तव्य अकर्त्तव्यको जिस बुद्धिके द्वारा ठीक ठीक नहीं जाना जा सकता है वह राजसिक बुद्धि है। और जो तमोगुणसे आवृत बुद्धि अधर्मको धर्म और सभी विषयोंमें उल्टी समझ कर देखे उसे तामसी बुद्धि कहते हैं। हे अर्जुन ! समाहितचित्तताकी सहायतासे जिस अचञ्चल धृतिके द्वारा मन, प्राण तथा इन्द्रियोंके व्यापारको कुमार्गसे रोका जाता है, उसका नाम सात्त्विकी धृति है। जिस धृतिके द्वारा धर्म, काम, अर्थमें चित्त लगा रहता है और उसी सम्बन्धसे फलकी आकाङ्क्षा भी रहती है उसे राजसिक धृति कहते हैं।

मन्दबुद्धि मनुष्य जिस धृतिके वशमें होकर निद्रा, भय, शोक, विषाद और मदको छोड़ता नहीं है उसका नाम तामसी धृति है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें बुद्धि और धृतिके लक्षणभेद बताये गये हैं। आत्माकी झलकसे युक्त सात्त्विक बुद्धिके द्वारा यथार्थ निर्णय, चञ्चल राजसी बुद्धिके द्वारा अयथार्थ निर्णय और अज्ञानमयी तामसी बुद्धिके द्वारा उलटा ही विचार होता है। संसारमें पुनः पुनः जन्ममरण भयका कारण है और निवृत्तिके परिणामरूप मोक्ष ही अभय है, उसी निमित्त कार्य ही कार्य है, बाकी सब अकार्य हैं, इत्यादि तत्त्वनिर्णय सात्त्विक बुद्धिके द्वारा होता है। राजसी बुद्धिमें ये सब निर्णय ठीक ठीक नहीं हो पाते हैं और तामसी बुद्धि विपरीत ही निर्णय कर देती है। इस प्रकारसे बुद्धिके तीन भेद हुए। ऐसे ही धृतिके भी तीन भेद हैं। चित्तकी एकाग्रतारूप योगकी सहायतासे सात्त्विक धृतिके द्वारा मनके असत्‌सङ्कल्प, प्राण तथा इन्द्रियोंके चाञ्चल्य इतने रोके जाते हैं कि विकारके कारण सामने आने पर भी अन्तःकरणमें विकार उत्पन्न नहीं होता है, यही सात्त्विकी धृतिकी परीक्षा है। राजसी धृतिमें रजोगुणमें ही मन लगा रहता है। इस दशामें राजसी धर्म, काम तथा अर्थके धुनमें जीव फंसा रहता है। और तामसी धृति तो अज्ञानसे किसी कुवृत्तिमें फंसे रहनेको ही कहते हैं। ऐसे मन्दमति जीव निद्रा, भय, शोक आदि तामस भावमें ही मग्न रहते हैं और उन्हें छोड़ नहीं सकते। ये ही गुणानुसार त्रिविध धृतिके लक्षण हैं॥ २९—३५॥

अब सुखके त्रिविध भाव बताते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

अन्वय—हे भरतर्षभ! (हे अर्जुन!) इदानीं त्रिविधं सुखं तु मे शृणु (अब तीन प्रकार सुखके लक्षण मुझसे सुनो) यत्र अभ्यासात् रमते (जिसमें पुनःपुनः अभ्यास द्वारा रति होती है) दुःखान्तं च निगच्छति (तथा दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति जिसमें हो जाती है) यत्तत् अग्रे विषं इव परिणामे अमृतोपमं (जो सुख पहिले विषकी तरह और पीछे अमृतकी तरह मालूम पड़े) आत्मबुद्धिप्रसादजं तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् (आत्मनिष्ठ बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न वह सुख सात्त्विक कहलाता है)। विषयेन्द्रियसंयोगात् (विषय तथा इन्द्रियोंके संयोगसे) यत् तत् अग्रे अमृतोपमं परिणामे विषं इव (जो सुख प्रथम अमृतके तुल्य किन्तु परिणाममें विषके तुल्य मालूम होता है)। तत् सुखं राजसं स्मृतम् (उसको राजसिक सुख कहा जाता है)। यत् सुखं अग्रे च अनुबन्धे च आत्मनः मोहनं(जो सुख आरम्भ तथा परिणाममें भी आत्माको मोहमें फंसाता है) निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसं उदाहृतम् (निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे उत्पन्न वह सुख तामसिक कहलाता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! अब त्रिविध सुखके लक्षणको सुनो ।

बार बार साधनादि प्रयत्नके द्वारा जिस सुखमें रति उत्पन्न होती है, दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति जिससे होती है, जो पहिले विषतुल्य किन्तु परिणाममें अमृततुल्य प्रतीत होता है, आत्म-निष्ठ बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न वह सुख सात्त्विक है । विषय तथा इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न जो सुख पहिले अमृततुल्य किन्तु परिणाममें विषतुल्य प्रतीत होता है, उसे राजसिक सुख कहते हैं । जिस सुखसे आदि अन्त सभी समय आत्मा मोह-ग्रस्त हो जाता है, निद्रा, आलस्य, प्रमादसे उत्पन्न वह सुख तामसिक कहा गया है ।

चन्द्रिका—सात्त्विक सुख आनन्दमय आत्माके सम्बन्धसे प्राप्त होता है, इस कारण शमदमादि साधना द्वारा धीरे धीरे आत्मा पर प्रतिष्ठित होते होते तभी इसका मधुर आस्वादन मिल सकता है । यही 'अभ्यासात् रमते' का तात्पर्य है । आत्मा 'आनन्दमय' है, उसमें दुःखका लवलेश नहीं, इसलिये आत्मा पर प्रतिष्ठित सात्त्विक सुखी 'दुःखान्त' को ही पाते हैं । स्वभावतः चञ्चल मन तथा इन्द्रियोंको रोकना पहिले पहिले बड़ा ही कठिन होता है, इसमें साधकको बड़ा ही कष्ट अनुभव होता है, किन्तु इस कष्टके किये बिना सात्त्विक सुखका पथ सरल नहीं हो सकता, इसी कारण इसे 'अग्रे विषमिव' कहा गया है । आत्मामें रत शान्त, निश्चल, शुद्ध सात्त्विक बुद्धिमें आनन्दमय आत्माकी झलकसे जो उत्तम आनन्दका अनुभव होता है, इसीको 'आत्मबुद्धिप्रसाद' कहते हैं । विषय-भोगजनित आनन्दसे यह आनन्द शतसहस्रगुण अधिक तथा परम पवित्र है । क्योंकि विषयी भी जलप्रतिबिम्बित सूर्यकी तरह प्रकृतिमें प्रति-

विम्बित आत्माके ही सुखको विषयमें चित्त एकाग्र करके लाभ करते हैं । किन्तु वह सुख क्षणभङ्गुर, प्रतिविम्बित छायासुखमात्र और परिणाममें दुःखद है । और सात्त्विक सुख नित्य आत्माके सम्बन्धसे प्राप्त होनेके कारण नित्य, प्रतिविम्बित छायासुख न होकर यथार्थ आनन्द और परिणाममें दुखदायी न होकर निरन्तर आनन्दमय तथा क्रमशः वृद्धिको पानेवाला है । प्रतिविम्बित सूर्यके साथ वास्तविकका बहुत ही प्रभेद है, इसको कौन नहीं जानता । इसी कारण महाभारतमें कहा है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम् ॥

इस लोकका काम सुख और स्वर्गलोकका दिव्य विषय सुख, वासनाक्षय द्वारा आत्मामें प्रतिष्ठित होकर जो अनुपम सुख मिलता है, इसके सोलह अंशका भी एकांश नहीं है । यही सात्त्विक सुखके विषयमें श्रीभगवान्‌के मधुर उपदेशका तात्पर्य है । राजसिक सुख विषयसेवासे मिलता है । विषयके साथ जीवका अध्यास जन्मजन्मान्तरका है । इसलिये स्वभावतः जीवका चित्त विषयसुखमें ही मग्न हो जाता है, इस तरह सीधा, स्वाभाविक होनेके कारण राजसिक सुख पहिले 'अमृतकी तरह' किन्तु परिणाममें रोगशोकप्रद और परलोकमें नरकप्रद होनेके कारण 'विषकी तरह' है । तामसिक जड़तादिमें जैसा कि निद्रा या आलस्यकी दशामें मनके स्थिर होने पर तामसिक सुखबोध होता है । किन्तु तमोगुण अविद्याका भण्डार है, आत्माको मुग्ध करके उसके प्रकाश तथा चैतन्यको डुबा देनेवाला है, मनुष्यको पत्थर बना देनेवाला है, अतः यह सुख बहुत ही निन्दनीय है । राजसिक सुखकी क्षणभङ्गुरता, परिणाम दुःखता और तामसिक सुखकी जड़ताको त्याग करके सात्त्विक सुखकी ही साधना करनी चाहिये यही तत्त्व है ॥ ३६—३९ ॥

अब उपसंहाररूपसे सामान्यतः इसी तत्त्वको बताते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

अन्वय—पृथिव्यां दिवि वा देवेषु वा पुनः तत् सत्त्वं न अस्ति (मनुष्यलोक, देवलोक या देवताओंमें भी ऐसा कोई प्राणि नहीं है) यत् एभिः प्रकृतिजैः त्रिभिः गुणैः मुक्तं स्यात् (जो प्रकृतिके इन तीन गुणोंसे मुक्त हो) ।

सरलार्थ—मनुष्यलोक, देवलोक यां देवताओंमें भी ऐसा कोई प्राणि नहीं है जो इन तीन गुणोंसे छुटा हुआ हो ।

चन्द्रिका—कर्त्ता, कर्म, बुद्धि, धृति, सुख आदिके पृथक् पृथक् तीन भेद बता कर श्रीभगवान्‌ने अन्तमें सारतत्त्व यही कह दिया कि त्रिगुणकी लीला सर्वत्र ही है, प्राकृतिक कोई भी जीव, चाहे वह कितना ही उन्नत क्यों न हो, इससे छुटकारा नहीं पा सकता । केवल प्रकृतिसे परे विराजमान ब्रह्म और ब्रह्ममें प्रतिष्ठित मुक्तात्मा पुरुष ही त्रिगुणसे अतीत होते हैं ॥ ४० ॥

अब त्रिगुणानुसार वर्णधर्मका विवेचन करते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ! ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

अन्वय—हे परन्तप ! (हे अर्जुन !) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च कर्माणि (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म-समूह) स्वभावप्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि (प्रकृतिसिद्ध गुणोंके अनुसार बंटे हुए हैं)। शमः दमः तपः शौचं क्षान्तिः आर्जवं ज्ञानं विज्ञानं आस्तिक्यं (भीतरी बाहरी इन्द्रियोंका रोकना, तपस्या, पवित्रता, क्षमा, सरलता शास्त्रीय ज्ञान, अनुभव और आस्तिकता) स्वभावजं ब्रह्मकर्म (स्वभावसे उत्पन्न सत्त्वप्रधान ब्राह्मणोंका कर्म है)। शौर्य्यं तेजः धृतिः दाक्ष्यं युद्धे च अपि अपलायनं (शूरता, तेजस्विता, धैर्य्य, दक्षता, युद्धसे न भागना) दानं ईश्वरभावः च स्वभावजं क्षात्रं कर्म (दान और प्रभुता अर्थात् हुकूमत करनेकी शक्ति यह सब स्वभावसे उत्पन्न रजः-सत्त्वप्रधान क्षत्रिय कर्म है)। कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं स्वभावजं वैश्यकर्म (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य स्वभावसे उत्पन्न रजस्तमः-प्रधान वैश्य कर्म है) शूद्रस्य अपि परिचर्यात्मकं कर्म स्वभाव-जम् (शूद्रका भी तमःप्रधान सेवात्मक कर्म स्वाभाविक है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंके कर्म पूर्वजन्मार्जित स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार विभक्त हुए हैं। शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, शास्त्रीयज्ञान, अनुभव और आस्तिकता—ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं। शूरता, तेजस्विता, धैर्य्य, दक्षता, युद्धमें पीठ न बताना, दान

और प्रजा पर आधिपत्य जमानेकी शक्ति—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं । वैश्यका स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और शूद्रका स्वाभाविक कर्म त्रिवर्णकी सेवा है ।

चन्द्रिका—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' इत्यादि उपदेशके द्वारा श्रीभगवान्‌ने 'गुणकर्म' के साथ वर्णका उत्पत्तिसम्बन्ध पहिले ही बता दिया है । अब इन श्लोकोंमें विशेष रूपसे यही दर्शाया गया है कि ये सब गुणकर्म 'स्वभावप्रभव' या 'स्वभावज' हैं अर्थात् जीवके पूर्वकर्मानुसार जो स्वभाव या प्रकृति बनती है उसीके अनुकूल जातिमें जीवका जन्म होता है और कर्म भी उसीके अनुसार स्वभावतः उसे प्राप्त होता है । यही कारण है कि सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मणको शम, दम, तपस्या, ज्ञानचर्चा, आत्मानुभव आदि कर्म स्वभावसे ही प्राप्त होते हैं । शूरता, अर्थात् पराक्रम जिससे शत्रुसे डरे नहीं, तेजस्विता जिससे विपक्षी से दबें नहीं धृति जिससे कठिन संकटकालमें भी घबड़ावे नहीं, दक्षता जिससे युद्धादि कर्मको कौशलसे कर सके, दान अर्थात् चित्तकी इतनी उदारता कि धर्मके लिये हर समय प्राण तक देनेमें संकोच न हो और ईश्वरभाव अर्थात् सबके प्रभु ईश्वरकी तरह प्रजा पर प्रभुता जमाये रहना—ये सब कर्म रजःसत्त्वप्रधान क्षत्रियको स्वभावसे ही प्राप्त होते हैं । रजोगुणके द्वारा ये सब कर्म होते हैं और सत्त्वगुणका मिलाव रहनेसे ये सभी कर्म धर्मानुकूल होते हैं, यही धार्मिक प्रजापालक क्षत्रियका स्वाभाविक धर्म है । कृषि, पशुपालन और विशेषतया गोपालन, तथा वाणिज्य सम्पत्तिके ये तीन प्रधान उपाय हैं । इसलिये रजस्तमप्रधान वैश्यजातिके ये स्वाभाविक कर्म हैं । रजोगुण, तमोगुण दोनों ही में अनर्थ होनेकी आशंका रहती है । इसलिये गोरक्षा, पशुपालन आदि धर्मकार्यको साथ लगा कर वैश्यजातिकी उन्नतिका विधान

किया गया है। नीरे तमोगुणमें उल्टा ही सूझता है, ऐसा मनुष्य स्वतन्त्र होकर काम करे तो बुरा ही करेगा, इस कारण शूद्रवर्णको उन्नतिशील रखनेके अर्थ कर्मकी स्वतन्त्रता नहीं दी गई है, किन्तु त्रिवर्णके अधीन रह कर उन्हींकी सेवा सम्बन्धीय कलाकौशल, मकान बनाना आदि कृत्य बताया गया है। यही उनका स्वाभाविक कर्म है। इस प्रकारसे जातिमें कलाकौशलकी पूर्णता, धनसम्पत्तिकी पूर्णता, अस्त्रबल तथा वीरता द्वारा कला-कौशल और धनसम्पत्तिरक्षाकी पूर्णता और त्याग, तपस्या, आत्मज्ञान द्वारा जातिको अधोगतिसे बचा कर आत्माकी ओर प्रवृत्ति देनेकी पूर्णता—ये चार पूर्णता हो जांय तो देश और जातिका अधःपतन कदापि नहीं हो सकता है यही वर्णधर्मानुसार स्वाभाविक श्रमविभाग तथा कर्त्तव्य विभागका रहस्य है। इन कर्त्तव्योंके पालन न करनेसे कैसे प्रत्येक जात अधूरी ही रह जाती है इसका वर्णन चतुर्थाध्यायमें पहिले ही कर दिया गया है॥४१—४४॥

वर्णोंकी स्वाभाविकता बता कर तदनुसार कर्त्तव्यका उपदेश कर रहे हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः ससिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

अन्वय—स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः नरः संसिद्धिं लभते (स्वाभाविक वर्णाश्रमानुकूल अपने अपने कर्त्तव्यमें रत रह कर मनुष्य सिद्धि लाभ करता है) स्वकर्मनिरतः यथा सिद्धिं विन्दति तत् शृणु (अपने कर्ममें रत रहनेसे कैसे सिद्धि मिलती है सो सुनो)। यतः भूतानां प्रवृत्तिः येन इदं सर्वं ततम् (जिस परमात्मासे प्राणियोंमें चेष्टा उत्पन्न हुई है और जिसने समस्त विश्वको व्याप्त कर रक्खा है) मानवः स्वकर्मणा तं अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति (मनुष्य अपने कर्त्तव्यपालनरूपी पुष्पद्वारा उसकी पूजा करके सिद्धिको प्राप्त करता है)। स्वनुष्ठितात् परधर्मात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान् (उत्तमरीतिसे अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा सदोष अपना धर्म अपने लिये अधिक हितकर है) स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् किल्बिषं न आप्नोति (प्रकृतिके अनुसार निर्दिष्ट वर्णाश्रमानुकूल कर्म करनेसे पाप नहीं लगता)। हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) सदोषं अपि सहजं कर्म न त्यजेत् (दोषयुक्त होने पर भी स्वभावनियत कर्मको नहीं त्यागना चाहिये) हि (क्योंकि) सर्वारम्भाः (सभी उद्योग) धूमेन अग्निः इव दोषेण आवृताः (धुएंसे आवृत अग्निकी तरह दोषसे आवृत हैं)। सर्वत्र असक्तबुद्धिः जितात्मा विगतस्पृहः (इसलिये कहीं भी आसक्ति न रख कर, मनको जीत कर और स्पृहाशून्य होकर) संन्यासेन परमां नैष्कर्म्यसिद्धिं अधिगच्छति (सात्त्विकत्याग द्वारा कर्मयोगी नैष्कर्म्यसिद्धिको पा लेता है)।

सरलार्थ—अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार वर्णाश्रमविहित कर्त्तव्यमें रत होकर मनुष्य सिद्धि लाभ करता है, सो कैसे होता है सुनो। प्राणियोंकी प्रवृत्ति जिससे उत्पन्न हुई है और जिसने समस्त विश्वको व्याप्त कर रक्खा है, कर्त्तव्यरूपी पुष्प द्वारा उस परमात्माकी पूजा करके मनुष्य सिद्धिलाभ करता है। उत्तम अनुष्ठित परधर्मसे सदोष अपना धर्म ही श्रेयस्कर है, स्वभावसे नियत कर्मको करके मनुष्य पापभागी नहीं होता है। हे अर्जुन! दोषयुक्त होने पर भी स्वभावनियत कर्मको त्यागना नहीं चाहिये, क्योंकि धुएंसे अग्निकी तरह सभी उद्योग कुछ न कुछ दोषसे ढका हुआ होता है। इसी स्वभावनियत कर्त्तव्यको ईश्वरार्पण-बुद्धिसे आसक्तिहीन, तृष्णाहीन, जितमना होकर करते रहनेसे सात्त्विक त्यागद्वारा अन्तमें परम नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है।

चन्द्रिका—प्रकृतिके विचारसे इन श्लोकोंमें कर्त्तव्य बताये गये हैं। जब त्रिगुणके अनुसार प्राक्तनसे मनुष्योंका भिन्न भिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ है, तो स्वाभाविक वर्णाश्रमविधिके अनुसार कर्त्तव्याचरण करने पर ही अनायास सिद्धि मिल सकती है इसमें सन्देह नहीं। चेतन भगवान् समस्त प्रवृत्तिके मूलमें हैं, उन्हींकी चेतनासत्ताकी प्रेरणासे जीवोंमें प्रवृत्तिका उदय होता है, अतः उन्हींके नामसे, उन्हींमें फलाफल समर्पण करते हुए, अपने अपने वर्णाश्रमानुसार कर्त्तव्य करते रहना ही उनकी पूजा है, और इस पूजाकी सिद्धिमें जीवको परमा सिद्धि मिलती है। अतः स्वभावानुसार विहित कर्त्तव्यमें यदि कुछ दोष भी रहे जैसा कि क्षत्रियके लिये हत्यादि क्रूर कर्म, तथापि स्वभावनियत होनेके कारण उसमें पाप नहीं लगता है। इस कारण अर्जुन तथा जगज्जनोंको सदोष होने पर भी स्वाभाविक कर्म नहीं त्यागना

चाहिये । संसारमें त्रिगुणसे परे 'ब्रह्म' ही केवल निर्दोष है, बाकी सब मायामय वस्तु 'धूमावृत अग्निकी तरह' सात्त्विक, राजसिक, तामसिक किसी न किसी प्रकार दोषसे युक्त रहती ही है। 'क्षमा' सत्त्वगुण है, किन्तु कहीं कहीं वह 'दुर्बलता' में परिणत हो जाती है, दया कहीं कहीं मोहरूपमें दिखाई देने लगती है, इत्यादि । इस प्रकारसे कामनाहीन होकर अपने वर्णाश्रमानुसार कर्त्तव्य करते करते नैष्कर्म्य सिद्धि लाभ होता है, जिस समय 'आत्मरत' पुरुषके लिये कोई कर्त्तव्य ही शेष नहीं रहता है। ये केवल प्रारब्धवेगसे अथवा विराटकेन्द्रकी प्रेरणासे अनायास लोकोपकार कार्य करते रहते हैं। 'नैष्कर्म्य' के विषयमें तृतीयाध्यायमें और 'संन्यास' के विषयमें इसी अध्यायमें पहिले ही कह चुके हैं ॥४५–४९॥

अब मोक्षलाभवर्णन प्रसङ्गमें प्रथमतः कर्म और ज्ञानका समन्वय बताते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) सिद्धिं प्राप्तः (नैष्कर्म्य सिद्धिको पाकर) यथा ब्रह्म आप्नोति तथा समासेन एव मे

निबोध (जिस प्रकारसे ब्रह्मको योगी पाता है सो संक्षेपसे मुझसे सुनो) ज्ञानस्य या परा निष्ठा (ज्ञानकी जो पराकाष्ठा है उसे भी सुनो)। विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः (शुद्ध बुद्धिके द्वारा युक्त होकर) धृत्या आत्मानं नियम्य च (तथा धैर्य्यसे मनोनिग्रह करके) शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा (शब्दस्पर्शादि इन्द्रियविषयोंको छोड़) रागद्वेषौ व्युदस्य च (रागद्वेषादि द्वन्द्वभावको परित्याग कर) विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः (एकान्तसेवी, मिताहारी, संयतमना, संयतशरीर, संयतवचन) नित्यं ध्यानयोगपरः वैराग्यं समुपाश्रितः (सदा आत्मचिन्तन परायण, परमवैराग्यवान् पुरुष) अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं विमुच्य (अहंकार, दुराग्रह, दर्प, काम, क्रोध, वृथा द्रव्य संग्रहको छोड़) निर्ममः शान्तः (ममताहीन तथा शान्तियुक्त हो) ब्रह्मभूयाय कल्पते (ब्रह्मभावलाभमें समर्थ हो जाता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! नैष्कर्म्यसिद्धिको पाकर जिस प्रकारसे योगी ब्रह्मको पाता है सो मुझसे संक्षेपसे सुनो और ज्ञानकी परा निष्ठा अर्थात् परिसमाप्तिको भी सुनो। शुद्धबुद्धि, धैर्य्यबलसे संयतचित्त, शब्दादि विषय त्यागी, रागद्वेषादि द्वन्द्वभावहीन, एकान्तसेवी, मिताहारी, संयतवचनमनशरीर, सदा आत्मचिन्तनपरायण, परमवैराग्यवान्, अहंकार-बल-दर्प-काम-क्रोध-परिग्रह-मुक्त, ममताशून्य, शान्त योगी ब्रह्मभावलाभमें समर्थ होता है।

चन्द्रिका—पहिले ही कहा गया है कि भगवदर्पणबुद्धिसे निष्काम होकर स्वधर्मानुसार कर्मयोगमें रत रहनेसे अन्तमें योगी 'आत्मरति' हो

जाता है, उस समय अनायासप्राप्त कर्म करनेवाले योगीका कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है । यही नैष्कर्म्य सिद्धिकी अवस्था है । इस अवस्थाके साथ 'परमज्ञाननिष्ठा' की अवस्थाका कोई भी भेद नहीं रहता है । इसी कारण इन श्लोकोंमें दोनों अवस्थाओंका समन्वय बताया गया है । 'नैष्कर्म्य सिद्धि' और ज्ञानकी 'परा निष्ठा' अर्थात् परिसमाप्ति दोनों एक ही दशा है । इन दोनों दशाओंमें ही श्लोकोंमें वर्णित 'ध्यानयोगपर' 'रागद्वेषत्यागी' 'शान्त' 'निर्मम' आदि साधनोपाय द्वारा योगी 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' अर्थात् ब्रह्मभावमें लवलीन होनेकी सामर्थ्यलाभ करते हैं । यही इन वर्णनोंका तात्पर्य है ॥ ५०—५३ ॥

अब इस दशाके साथ भक्तिका भी समन्वय बताते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

अन्वय—ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति (ब्रह्मभावप्राप्त, अध्यात्मप्रसादयुक्त योगी नष्ट विषयके लिये शोक या अप्राप्त विषयकी आकाङ्क्षा नहीं करते हैं), सर्वेषु भूतेषु समः परां मद्भक्तिं लभते (सकल जीवोंमें रागद्वेषविहीन समभाव रखते हुए मेरी पराभक्तिका लाभ करते हैं)। यावान् यः च अस्मि भक्त्या मां तत्त्वतः अभिजानाति (ऐसे योगी भक्तिके द्वारा 'मैं कितना और कौन हूँ' इसका तात्त्विक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं) ततः मां तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरं विशते (इस प्रकार मेरी तात्त्विक पहचान हो जाने पर ये मुझमें ही प्रवेश करते हैं) ।

सरलार्थ--ब्रह्मभूत, प्रसन्नात्मा योगी शोक या स्पृहा कुछ भी नहीं करते हैं। समस्त भूतोंमें समभाव रख कर वे मेरी पराभक्तिका लाभ करते हैं। मैं किस प्रकार सर्वव्यापक हूँ और कौन हूँ इसका तत्त्वज्ञान उन्हें भक्ति द्वारा होता है और इस तत्त्वज्ञानसे भरपूर होकर वे मुझमें ही लवलीन हो जाते हैं।

चन्द्रिका—नैष्कर्म्य सिद्धि और परज्ञानके साथ इन श्लोकोंमें पराभक्तिका समन्वय किया गया है। आर्यशास्त्रमें भक्तिके तीन भेद बताये गये हैं यथा वैधी, रागात्मिका और परा। भक्तिकी वैधी दशामें श्रवण, कीर्त्तन आदि नौ उपायोंसे भगवत् प्रेमका अभ्यास किया जाता है। भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्के प्रेममें भक्त निमग्न हो जाता है और दास्य, सख्य, कान्ता आदि भावोंसे रातदिन भगवत् प्रेममें उन्मत्त रहता है। ऐसा प्रेम करते करते जब सर्वत्र परमात्माका ही अनुभव होने लगता है तब उसीको 'पराभक्ति' कहते हैं। अतः पराभक्ति और परज्ञान दशा एक ही है यह सिद्ध हुआ। कर्मयोगकी सिद्धि दशामें भक्तिकी सहायतासे इस प्रकार योगी परमात्माके स्वरूपको पहचान कर उन्हींमें लवलीन हो जाते हैं। ज्ञानकी सहायतासे उनका ज्ञान और भक्तिकी सहायतासे उनका प्रेम पराकाष्ठा तक पहुंच कर कर्मयोगीको निःश्रेयसके अमृतसिन्धुमें अवगाहन स्नान करा देता है। अतः पूर्णतालाभ तथा अपवर्ग लाभके लिये ज्ञान, कर्म, उपासना तीनोंका समुच्चयात्मक साधन ही सर्वोत्कृष्ट है यही श्रीभगवान्का श्रेष्ठ उपदेश हुआ ॥५४—५५॥

अब सबके लिये उपदेश बताते हुए अर्जुनको अपने कर्त्तव्यके विषयमें अन्तिम उपदेश देते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

अन्वय—सदा सर्वकर्माणि कुर्वाणः अपि (अपने वर्णाश्रमानुसार कर्त्तव्योंको सदा करते हुए भी) मद्व्यपाश्रयः (मेरी शरणमें रह कर) मत्प्रसादात् शाश्वतं अव्ययं पदं अवाप्नोति (मेरी कृपासे नित्य अविनाशी ब्रह्मपदको योगी पा लेते हैं)। चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य (मनसे समस्त कर्म मुझमें समर्पण करके) मत्परः (मत्परायण होकर) बुद्धियोगं उपाश्रित्य सततं मच्चित्तः भव (समत्व बुद्धियोगके आश्रयसे सदा मुझमें ही चित्तको रक्खे रहो)।

सरलार्थ—समस्त कर्मोंको सदा करते हुए भी मेरी शरणमें रह कर योगी मेरी कृपासे नित्य, अविनाशी ब्रह्मपदको पा लेते हैं। अतः तुम भी मनसे सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मत्परायण हो बुद्धियोगके आश्रयसे सदा मदेकचित्त बने रहो।

चन्द्रिका—कर्म उपासना ज्ञानकी समुच्चयात्मक साधना सबके लिये बता कर अर्जुनको भी इसके लिये प्रेरित करते हैं। कर्मत्यागकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपना वर्णाश्रमविहित कर्त्तव्यपालन भी भगवान्‌की पूजा है, केवल कर्मयोगके सिद्धान्तानुसार परमात्मामें कर्मफल सौंप देनेकी आवश्यकता है और साथ ही साथ उपासनाके द्वारा 'मत्पर' होना तथा ज्ञानके द्वारा बुद्धियोगका आश्रय लेना—इतने ही की आवश्यकता

है। अतः अर्जुनको चाहिये कि स्वधर्मानुसार युद्धरूपी कर्त्तव्यमें प्रवृत्त रहे, फलाफलको भगवान्में समर्पण करे और ज्ञान तथा उपासनाकी सहायतासे कर्म्मयोगमें अटल रहे इसीसे उनका परम कल्याण है।। ५६–५७ ।।

अब उनके उपदेशोंके मानने तथा न माननेका परिणाम बताते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ! ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

अन्वय—त्वं मच्चित्तः मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि (मुझमें चित्त रखने पर मेरी कृपासे तुम समस्त विपत्तियोंको तर जाओगे) अथ चेत् (किन्तु यदि) अहंकारात् न श्रोष्यसि, विनंक्ष्यसि (अहंकारसे मेरी बात न सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे) ५८. अहंकारं आश्रित्य न योत्स्ये इति यत् मन्यसे (तुम अहंकारसे

'नहीं लड़ूंगा' यह जो मान रहे हो) ते व्यवसायः मिथ्या एव (यह तुम्हारा व्यर्थ निश्चय है) प्रकृतिः त्वां नियोक्ष्यति (तुम्हारी क्षत्रियप्रकृति तुम्हें लड़ावेगी)। हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) मोहात् यत् कर्त्तुं न इच्छसि (मोहसे जो तुम करना नहीं चाहते हो) स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निबद्धः अवशः अपि तत् करिष्यसि (अपने क्षत्रियस्वभावजन्य कर्मसे बद्ध होकर विवशकी तरह तुम्हें यह करना पड़ेगा)। हे अर्जुन! (हे पवित्रात्मा अर्जुन!) ईश्वरः मायया यन्त्रारूढ़ानि सर्वभूतानि भ्रामयन् (ईश्वर मायाके द्वारा यन्त्रारूढ़की तरह समस्त जीवोंको घुमा कर) सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति (समस्त जीवोंके हृदयमें अवस्थान करते हैं)। हे भारत! (हे अर्जुन!) सर्वभावेन तं एव शरणं गच्छ (अतः सब प्रकारसे उन्हींकी शरण लो) तत्प्रसादात् परां शान्तिं शाश्वतं स्थानं प्राप्स्यसि (उन्हींकी कृपासे परम शान्ति तथा नित्य परमपदको पाओगे)। इति गुह्यात् गुह्यतरं ज्ञानं ते मया आख्यातं (गोपनीयसे भी अति गोपनीय रहस्यपूर्ण यह ज्ञान तुम्हें मैंने कह दिया)। अशेषेण एतत् विमृश्य यथा इच्छसि तथा कुरु (इस पर पूर्ण विचार करके जो इच्छा हो सो करो)।

सरलार्थ—मुझमें चित्त रख कर मेरी कृपासे समस्त असुविधाओंको तर जाओगे, और यदि अहंकारसे मेरी बात न सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे। यदि अहंकारसे तुम 'नहीं युद्ध करूंगा' ऐसा विचार करते हो, तो यह तुम्हारा वृथा विचार है, क्योंकि प्रकृति तुमसे यह काम करावेगी। हे अर्जुन! तुम

मोहवश जो कुछ करना नहीं चाहते हो, क्षत्रियस्वभावजन्य कर्मके कारण विवश होकर तुम्हें वह करना ही पड़ेगा। हे पवित्रात्मा अर्जुन! अन्तर्यामी भगवान् समस्त जीवके हृदयमें रह कर मायाके द्वारा यन्त्रारूढ़ जैसे सबको घुमाया करते हैं। अतः सब तरहसे तुम उन्हीं की शरणमें जाओ, उनकी ही कृपासे तुम्हें परमा शान्ति तथा परमपद प्राप्त होगा। यही अति गुह्य ज्ञान मैंने तुम्हें कह दिया, इस पर पूर्ण विचार करके तुम्हें जो इच्छा हो सो करो।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें भी स्वभावकी अनिवार्यता बता कर पुनः अर्जुनको कर्त्तव्यकी ओर श्रीभगवान्ने प्रेरित किया है। क्षत्रियोंकी प्रकृति या स्वभाव रजःसत्त्वगुणप्रधान है, इस लिये रजोगुणके धर्म युद्ध आदिसे उपराम रहना क्षत्रियके लिये स्वभावतः असम्भव है। जब स्वभावतः असम्भव है तो मोहवशात् अपने धर्मसे विमुख रहना, अर्जुन जैसे पवित्रात्मा पुरुषको उचित नहीं है। कर्मके नियन्ता अन्तर्यामी भगवान् सबके हृदयमें रह कर कर्मानुसार सभीको प्रेरित करते हैं। "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति एष ते अन्तर्याम्यमृतः" इत्यादि मन्त्रोंसे श्रुतिने भी श्रीभगवान्के अन्तर्यामित्वको बताया है। जिस प्रकार खेल दिखानेवाले यन्त्र पर चढ़ा कर काठ या मोमके पुतले नचाया करते हैं, ऐसे ही भगवान् भी मायाके द्वारा कर्मानुसार संसारचक्रमें जीवोंको घुमाया करते हैं। जीव अपने कर्मसे ही घूमता है। चेतन ईश्वर केवल जड़ कर्मकी प्रेरणा तथा फलदान करते हैं। अतः जीवको तथा अर्जुनको चाहिये कि अहंकारवश इस स्वभावसिद्ध विधिका तिरस्कार न करके सकल विधियोंके मूलकारण

परमात्माकी ही शरण लेवें और उन्हींकी आज्ञानुसार स्वधर्ममें प्रवृत्त रह कर फलाफल भगवान्‌को समर्पण कर देवें, इसीमें सबका तथा अर्जुनका आत्यन्तिक कल्याण है। इस गूढ़ उपदेशके तात्पर्यको समझ जाने पर अर्जुन जो कुछ करेगा सो ठीक ही करेगा, कभी कर्त्तव्यपथसे डिगेगा नहीं यही 'यथेच्छसि तथा कुरु' इन शब्दोंकी सार्थकता है ॥ ५८–६३ ॥

अब उपसंहाररूपसे सारतत्त्वको संक्षेपसे बताते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

अन्वय—मे सर्वगुह्यतमं परमं वचः भूयः शृणु (पुनः मेरी एक सबसे गुह्यतम उत्तम बात सुन लो) मे दृढं इष्टः असि (तुम मेरे अत्यन्त प्रियपात्र हो) ततः ते हितं वक्ष्यामि (इस लिये तुम्हारे हितकी बात कहूँगा)। मन्मनाः मद्भक्तः मद्याजी भव मां नमस्कुरु (मुझमें मन रक्खो, मेरे भक्त बने रहो, मेरी पूजा तथा वन्दना करो) मां एव एष्यसि (ऐसा करने पर तुम मुझमें ही आ मिलोगे) ते सत्यं प्रतिजाने (तुम्हें सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ) मे प्रियः असि (क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो)। सर्वधर्मान् परित्यज्य एकं मां शरणं व्रज (सब धर्मोंको छोड़ तुम केवल मेरी ही शरणमें आ जाओ) अहं त्वां सर्वपापेभ्यः

मोक्षयिष्यामि (मैं तुम्हें धर्मत्यागजनित समस्त पापोंसे मुक्त कर दूंगा) मा शुचः (शोक या चिन्ता मत करो)।

सरलार्थ—पुनः मेरी एक सबसे गुह्यतम उत्तम बात सुन लो, तुम मेरे अतिप्रिय हो इस कारण तुम्हारे हितके लिये कहता हूँ। तुम मुझमें मन रक्खो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा तथा वन्दना करो, इससे तुम मुझे ही पाओगे, मैं सत्यप्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो। सब धर्मोंको छोड़ तुम केवल मेरी ही शरण लो, मैं तुम्हें सकल पापोंसे मुक्त करूंगा, शोक न करो।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंके द्वारा भी पूर्वकथित सिद्धान्तका ही समर्थन किया गया है। अर्थात् भगवान्में ही मनप्राण सौंप कर उन्हींको फलाफल समर्पण करते हुए स्वधर्मानुसार कर्त्तव्य करते रहना चाहिये, यही अर्जुनके प्रति तथा अर्जुनके द्वारा जगत्के प्रति श्रीभगवान्का उपदेश है। इस तरह भगवदाज्ञानुसार कार्य करनेमें यदि व्यक्तिगत कर्तव्यकी कहीं कहीं हानि भी हो जाय तथापि इसमें पाप नहीं लगता, क्योंकि श्रीभगवान् ही जब सबके मूल हैं तो उनकी पूजासे ही सबकी पूजा हो जाती है। भागवतमें लिखा भी है—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणि तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

जिस प्रकार वृक्षके मूलमें जलसेचन करनेसे ही उसकी शाखा प्रशाखाएं तृप्त हो जाती हैं और प्राणको तृप्त करनेसे ही इन्द्रियां तृप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार परमात्माकी पूजासे ही सबकी पूजा हो जाती है। यही कारण

है कि, पिताके प्रति, माताके प्रति अथवा स्त्री पुत्रादिके प्रति कर्त्तव्यको छोड़ कर यदि कोई निवृत्तिमार्गका पथिक बन जाय, संन्यासी हो जाय तो उसको इन सब व्यक्तिगत धर्मोंके त्यागजन्य पाप नहीं लगता है । श्रीभगवान् उसको सकल पापोंसे मुक्त करते हैं । 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' परमात्माके लिये पृथिवीमें सब कुछ त्याग सकते हैं, यही शास्त्रकी आज्ञा है । अर्जुनको चिन्ता यह थी, कि युद्धमें प्रवृत्त होने पर कुटुम्बवध, भ्रातृवध, गुरुवध आदि जन्य पाप और वंशरक्षा, गुरुभक्ति आदि धर्मोंका त्याग होगा, इसी कारण श्रीभगवान्ने सब कर्त्तव्यको महान् कर्त्तव्यरूपी भगवत्शरणमें विलीन करनेके लिये उन्हें उपदेश दिया और यही आश्वासन दिया कि, परमात्माकी शरण लेकर फलाफल उनमें समर्पण करते हुए स्वधर्मपालनरूपी युद्धकार्यमें प्रवृत्त रहने पर अर्जुनको बन्धुवधादिजन्य कोई भी पाप नहीं लगेगा और सकल पापोंसे अर्जुन मुक्त होकर अन्तमें परमात्माको प्राप्त करेगा । यही अर्जुनके प्रति तथा उनके द्वारा जगत्के प्रति श्रीभगवान्का अन्तिम, सारभूत उपदेश है ॥६४—६६॥

गीताका तत्त्व बता कर अब उसकी परम्परा चलानेके लिये उपदेश करते हैं—

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

अन्वय—अतपस्काय ते कदाचन इदं न वाच्यं (तपस्याहीन जनको तुम्हें कदापि यह गीता नहीं कहनी चाहिये) अभक्ताय न, अशुश्रूषवे च न (भक्तिहीन और सुननेकी इच्छाहीन जनको भी नहीं कहना चाहिये) यः मां अभ्यसूयति, न च (और जो मेरी निन्दा करता है उसको भी गीता नहीं बतानी चाहिये)। यः परमं गुह्यं इमं मद्भक्तेषु अभिधास्यति (जो इस अतिगूढ़ गीताग्रन्थको मेरे भक्तोंमें सुनावेगा) मयि परां भक्तिं कृत्वा (वह मुझमें परम भक्ति करके) मां एव एष्यति असंशयः (मुझको ही पावेगा इसमें सन्देह नहीं है)। मनुष्येषु तस्मात् कश्चित् मे प्रियकृत्तमः च न (मनुष्योंमें उससे अधिक प्रियकरनेवाला मेरा और कोई नहीं है) तस्मात् अन्यः मे प्रियतरः च भुवि न भविता (संसारमें उससे अधिक प्रिय मेरा और कोई न होगा)।

सरलार्थ—तपस्याहीन, भक्तिहीन, सुननेकी इच्छाहीन अथवा मेरे निन्दक व्यक्तिको यह गीता कभी नहीं सुनानी चाहिये। मेरे भक्तजनोंमें इस परमगुह्य गीतातत्त्वका जो प्रचार करेगा, वह निःसन्देह मुझमें परमभक्ति करके मुझे ही प्राप्त कर लेगा। मनुष्योंमें उससे अधिक प्रियकारी मेरा कोई नहीं है और संसारमें भी उससे अधिक प्रियजन मेरा कोई नहीं होगा।

चन्द्रिका—गीताप्रचारपरम्पराको अटल रखनेके लिये श्रीभगवान्‌के ये उपदेश हैं। तपस्या, संयम, भक्ति, श्रद्धा आदि सद्गुणोंके न होनेसे गीताका तत्त्व न समझमें ही आवेगा और न उससे कुछ कल्याण ही हो सकेगा, इसलिये यथार्थ अधिकारीको ही गीता सुनानी चाहिये यही यहां पर तात्पर्य है। गीताके प्रचारद्वारा सुनानेवालेको विशेष उपकार है, क्योंकि गीताज्ञान तथा गीताके आत्मारूपी भगवान्‌के साथ इस 'जरियेसे' सम्बन्धस्थापन द्वारा उनका आध्यात्मिक पथ अति सुगम हो जायगा और

वे अन्तमें अनन्त आनन्दके खान भगवानका ही लाभ करेंगे, यही इन श्लोकोंका तात्पर्य है ॥ ६७-६९ ॥

सुनानेवालेका लाभ बताकर अब सुननेवालेका लाभ बताते हैं-

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं सम्वादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाऽहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

अन्वय—यः च आवयोः इमं धर्म्यं संवादं अध्येष्यते (जो कोई हम दोनोंके इस धर्मसंवादको पढ़ेगा) तेन अहं ज्ञानयज्ञेन इष्टः स्याम् इति मे मतिः (उसने ज्ञानयज्ञसे मेरी पूजा की, मैं यही समझूंगा)। श्रद्धावान् अनसूयः च यः नरः शृणुयात् अपि (इसी प्रकार श्रद्धासे युक्त तथा दोषदृष्टिशून्य होकर जो मनुष्य इसको सुनेगा भी) सः अपि मुक्तः पुण्यकर्मणां शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् (वह भी पापमुक्त होकर पुण्यकर्मियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त करेगा)।

सरलार्थ—हमारे इस धर्मसंवादका जो पाठ करेगा, उसने ज्ञानयज्ञसे मेरी पूजा की यही मैं समझूंगा। इसी प्रकार श्रद्धावान् तथा दोषदृष्टिशून्य होकर जो इसका श्रवण करेगा उसे भी शुभकर्मियोंके सुखमय लोक प्राप्त होंगे।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें गीताकी फलश्रुतिवर्णनार्थ गीता पाठ तथा गीताश्रवणका फल बताया गया है। गीता सकल ज्ञानका सार है, अतः गीतापाठ ज्ञानयज्ञ है। इस ज्ञानयज्ञका फल भी अन्य ज्ञानयज्ञकी तरह मुक्तिमूलक है। द्वितीयतः गीताश्रवणमें भी असीम पुण्यका सञ्चय होता है, जिसके फलसे पुण्यात्माओंके योग्य उत्तम गति प्राप्त होती है। यही गीता-पाठ तथा गीता श्रवणका फल है ॥७०—७१॥

उपदेश समाप्त करके अब फल पूछते हैं—

कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ! ॥७२॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) त्वया एकाग्रेण चेतसा एतत् श्रुतं कच्चित् ? (तुमने एकाग्रमनसे यह सब सुना है न ?) हे धनञ्जय ! (हे अर्जुन !) ते अज्ञानसम्मोहः प्रनष्टः कच्चित् ? (तुम्हारा अज्ञानजनित मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया कि नहीं ?) ।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! तुमने मेरी सब बातें एकाग्रचित्तसे सुनी हैं कि नहीं और तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो चुका है या नहीं ?

चन्द्रिका—करुणामय गुरुका स्वभाव ही यह है कि जब तक शरणागत शिष्यका अज्ञान पूर्णरूपसे नष्ट न हो तब तक उपदेश देते रहें, इसलिये श्रीभगवान् अर्जुनसे पूछते हैं कि इनका मोह नष्ट हो गया है अथवा और भी उपदेश करनेकी आवश्यकता है ॥ ७२ ॥

अर्जुन उत्तर देते हैं—

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ! ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अन्वय—हे अच्युत ! (हे भगवन् !) त्वत्प्रसादात् मोहः नष्टः मया स्मृतिः लब्धा (तुम्हारी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्वधर्मानुसार कर्त्तव्यकी स्मृति मुझे प्राप्त हो गई है) गतसन्देहः स्थितः अस्मि (मैं संशयरहित तथा प्रकृतिस्थ होगया हूं) तव वचनं करिष्ये (तुम्हारे उपदेशके अनुसार युद्ध करूंगा)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे भगवन् ! तुम्हारी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे कर्त्तव्यकी स्मृति प्राप्त हो गई

है । अब मैं संशयरहित तथा प्रकृतिस्थ हो गया हूं और तुम्हारे उपदेशके अनुसार कार्य करूंगा ।

चन्द्रिका—कुटुम्ब तथा गुरुजनोंको देखकर अर्जुनको मोह आ गया था जिससे स्वधर्मानुसार युद्धरूपी कर्त्तव्यको अर्जुन भूल गये थे, अब श्रीभगवान्‌के उपदेशसे अर्जुनका वह मोह कट गया और कर्त्तव्यकी स्मृति भी आ गई । अब श्रीभगवान्‌के उपदेशके अनुसार अर्जुन धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होगा यही इस श्लोकके द्वारा सूचित हुआ है ॥७३॥

अब कथाप्रसङ्गको मिला कर प्रकरणका उपसंहार किया जाता है—

सञ्जय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥७५॥
राजन् ! संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् ! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।

अन्वय—अहं इति वासुदेवस्य महात्मनः पार्थस्य च (इस प्रकारसे मैंने श्रीभगवान् वासुदेव तथा महात्मा अर्जुनके) इमं

रोमहर्षणं अद्भुतं संवादं अश्रौषम् (रोमाञ्चनकारी इस अद्भुत संवादको सुना है)। अहं व्यासप्रसादात् साक्षात् स्वयं कथयतः योगेश्वरात् कृष्णात् (महर्षि वेदव्यासकी कृपासे साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे मैंने) इमं परं गुह्यं योगं श्रुतवान् (इस अतिगुह्य योगको सुना है)। हे राजन्! (हे महाराज धृतराष्ट्र!) केशवार्जुनयोः इमं पुण्यं अद्भुतं संवादं संस्मृत्य संस्मृत्य (श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस पुण्यमय अद्भुत संवादको बार बार स्मरण करके) मुहुर्मुहुः हृष्यामि च (मैं पुनः पुनः हृष्ट हो रहा हूँ)। हे राजन् (हे महाराज!) हरेः तत् अत्यद्भुतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य (श्रीहरिके उस अति अद्भुत विश्वरूपको भी बार बार स्मरण करके) मे महान् विस्मयः पुनः पुनः हृष्यामि च (मुझे बड़ा ही आश्चर्य तथा पुनः पुनः हर्ष हो रहा है)। यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र धनुर्धरः पार्थः (जहां योगेश्वर कृष्ण और गाण्डीवधारी पार्थ हैं) तत्र ध्रुवा श्रीः विजयः भूतिः नीतिः (वहीं पर अवश्यम्भावी राज्यलक्ष्मी, शत्रुविजय, विभूतिका विस्तार और सर्वसाधिनी अमोघ नीति है) मम मतिः (यही मेरा मत है)।

सरलार्थ—सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—इस प्रकारसे मैंने श्रीभगवान् वासुदेव तथा महात्मा अर्जुनके रोमाञ्चकारी अद्भुत संवादको सुना है। महर्षि वेदव्यासकी कृपासे दिव्यदृष्टि, दिव्यश्रवणलाभ करके साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान्के निजमुखसे कहे हुए अतिगुह्य योगको मैंने सुना। हे महाराज! श्रीकृष्णार्जुनके उस पुण्यमय अद्भुत संवादको स्मरण करके मैं बार बार हर्षसमुद्रमें डूब रहा हूँ। और श्रीहरिके उस अति अद्भुत विराटरूपको स्मरण करके भी मुझे महान विस्मय तथा बार बार हर्ष हो रहा है। मेरी दृढ़ धारणा यही है कि, जहां पर योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा गाण्डीवधारी अर्जुन हैं, वहीं अचला

राज्यलक्ष्मी, चिरस्थायी विजय, शाश्वत विभूति और अमोघ सकलपुरुषार्थसाधिनी नीति है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

चन्द्रिका—महाभारतके भीष्मपर्वान्तर्गत प्रकरणको मिलानेके लिये उपसंहारमें धृतराष्ट्रके प्रति सञ्जयकी उक्ति बताई गई है । सञ्जयने प्रथमतः गीताश्रवण तथा विराटरूप दर्शन जनित परमानन्दको प्रकट किया और अन्तमें यही कह दिया कि जहां श्रीकृष्णभगवान्‌की अमोघ धर्मानुकूला नीति, गाण्डीवधारी अर्जुनकी अलौकिक शक्तिके साथ एक क्षेत्रमें कार्य करती है, वहां विजयलक्ष्मी तथा राज्यलक्ष्मी अवश्य ही पाण्डवोंकी पदसेवा करेंगी, अतः धृतराष्ट्रकी विजयलाभाशा दुराशा मात्र है और पाण्डवोंके साथ सन्धि कर लेना ही उचित है। जो योगेश्वर भगवान् सकल योगके ईश्वर हैं, निग्रहानुग्रह करनेमें सर्वथा समर्थ हैं, वे अपनी अलौकिक योगशक्ति तथा नीतिशक्तिकी सहायतासे धर्मका ही विजय करावेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ॥७४—७८॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'मोक्षयोग' नामक अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

अष्टादश अध्याय समाप्त।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

ॐ तत्सत् ब्रह्मार्पणमस्तु ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

धर्म-विज्ञान पर सम्मतियाँ ।

सुप्रसिद्ध मासिक पत्र "कल्याण" गोरखपुर के सुयोग्य सम्पादक श्रीमान् हनुमानप्रसादजी पोद्दार लिखते हैं :—

स्वामीजीने यह बहुत ही उपादेय ग्रन्थ लिखा है। इसमें आधुनिक विज्ञान और सनातनधर्म, देशसेवा और सनातनधर्म, स्वराज्य और सनातनधर्म, आचारमें वैज्ञानिक चमत्कार, नित्य-कर्म, श्राद्ध-तर्पण, षोडश संस्कार, शक्ति-संचय और आश्रमधर्म, सती-धर्म-रहस्य, विवाह काल निर्णय, वर्णविज्ञान, उपासनातत्त्व, भक्ति और योग, अवतार-मीमांसा, श्रीकृष्ण-चरित्र-रहस्य, ब्रह्म-ईश्वर-जीव-माया-तत्त्व, सृष्टि-स्थिति-प्रलय-तत्त्व, परलोक और जन्मान्तर-तत्त्व, वेद-वेदाङ्ग-दर्शनशास्त्र, पौराणिक शंका-समाधान, गो-महिमा, विज्ञान जगत्में नवीन चमत्कार आदि सभी आवश्यक विषयों पर बहुत ही सुन्दर रीतिसे विचार प्रकट किये गये हैं। ६१५ पृष्ठके इस विशाल ग्रन्थमें सनातनधर्मकी महानताका सागरमें गागरकी भांति बहुत ही अच्छा प्रतिपादन है। प्रत्येक धर्म-पिपासु, श्रद्धालु और शंकाशील मनुष्यको भी यह ग्रन्थ अवश्य पढ़कर धार्मिक ज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये।

सनातनधर्मके सुप्रसिद्ध नेता महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी प्रिन्सिपल, संस्कृत कालेज, जयपुर, लिखते हैं —

श्रीमान् स्वामी दयानन्दजीने 'धर्मविज्ञान' नामक वृहत् पुस्तककी रचना कर इस समय सनातनधर्मावलम्बी जगत्का बहुत बड़ा उपकार किया है। मैंने इस पुस्तकके कई अंशोंको पढ़ा है, इसकी प्रतिपादनशैली बहुत उत्तम है। सनातनधर्मके अनुसार जो मनुष्य-कर्त्तव्य हैं, उन पर वैज्ञानिक दृष्टिसे इस पुस्तकमें विचार कर उनकी उपयोगिता सिद्ध की गई है। विशेष कर इस युगमें जो विषय विवादास्पद हैं, सुधारक लोग जिन छुआछूत, जाति-पाँति भेद, सतीधर्म आदिको कालविरुद्ध बताकर उड़ा देने पर तुले हुए हैं, उन विषयों पर इस पुस्तकमें विस्तृत विवेचना है। न केवल वैज्ञानिक दृष्टिसे ही उनकी उपयोगिता सिद्ध की गई है, किन्तु सुप्रसिद्ध युरोप के विद्वानों की अमूल्य सम्मतियाँ भी उन विषयोंकी पुष्टिमें उद्धृत की गई हैं। नवशिक्षित सज्जन निष्पक्ष भावसे यदि इसका मनन करेंगे तो उनका आग्रह दूर होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। प्रत्येक सनातनधर्मके अभिमानीको यह पुस्तक पढ़नी और रखनी चाहिये, विशेषतः सनातनधर्म सभाओंके पुस्तकालयोंमें यह अवश्य ही रक्खी जानी चाहिये। ऐसा आवश्यक उपयोगी कार्य करनेके कारण सनातनधर्मावलम्बियोंको श्रीस्वामीजीका विशेष रूपसे कृतज्ञ होना चाहिये।

सनातनधर्मके मान्यनेता महामहोपदेशक मुलतान निवासी गोस्वामी यदुकुलभूषण विद्यालंकार शास्त्रीजी लिखते हैं—

स्वनामधन्य पूज्य स्वामी श्रीदयानन्दजी महाराजने 'धर्म-विज्ञान' नामक पुस्तक लिखकर हिन्दूजातिका बड़ा उपकार किया है। पुस्तक अभी प्रकाशित हुआ है, उसके कई स्थल मैंने स्वयं देखे हैं। जो लोग स्वामीजीके व्यक्तित्वसे परिचित हैं उनके लिये इतना लिख देना पर्य्याप्त होगा कि यह स्वामीजी का बनाया हुआ है। सर्व साधारण सज्जनोंके प्रति सानुरोध निवेदन है कि एक बार उक्त पुस्तकको अवश्यमेव पढ़ें। वर्तमान समयमें सनातनधर्मके ऊपर विधर्मियोंकी ओरसे जो शङ्कायें उठा करती हैं उन सबका विज्ञानमूलक समाधान बड़ी सुन्दरतासे किया गया है। जो सज्जन विज्ञानकी आँखोंसे धर्मको देखना चाहते हैं उनके लिये यह बड़े कामकी वस्तु है। बहुत समयसे ऐसी पुस्तककी आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, श्रीस्वामीजीके द्वारा उसकी पूर्ति भी हो गई। हमारे शास्त्रीय सिद्धान्त गूढ़ होनेसे सर्वसाधारणकी समझमें नहीं आसक्ते, स्वामीजीने इस पुस्तक-रत्नमें उन सिद्धान्तोंका शास्त्र प्रमाणोंसे प्रतिपादन करके पश्चिमी विज्ञानके द्वारा जो समर्थन किया है इससे उक्त पुस्तक सर्व साधारण असाधारण सर्व धर्म जिज्ञासुओंके लिये उपादेय हो गया है।

बम्बई निवासी सलिसिटर श्रीमान् हीरालाल डायाभाई नानावती बी. ए., एल्. एल्. बी. महाशय लिखते हैं--

I have gone through the greater portion of the work and I must say that you deserve the gratitude of those who are desirous of knowing everything of our Sanatan Dharma in a very short compass.

You will allow me to tell you that it was my great desire when I was a student of Science in my early days to prove to the world that our religious observances and tenets were based on a knowledge of Scientific principles now known to the west; that in many cases that science has not yet advanced to the length to which our religion and religious philosophy have gone. It is, therefore, to me a matter of very great gratification that you have taken up that work in hand. Your quotations of European authors will convince several of our faltering brethren and confirm their faith in Sanatan religion.

सम्पादक 'हिन्दी वङ्गवासी' कलकत्ता लिखते हैं—

धर्म-विज्ञान। स्वामी दयानन्दजी महाराजकी बनाई हुई यह एक नई पुस्तक है। इस पुस्तकमें स्वामीजी महाराजने सनातनधर्म्मके सिद्धान्तों पर वैज्ञानिक प्रकाश डालकर उनकी सत्यता प्रमाणित की है और उन लोगोंके सिद्धान्तोंको अपनी अकाट्य युक्तियों तथा प्रमाणों द्वारा गलत साबित कर दिया है, जो यह कहा करते हैं, कि सनातनधर्म्म आधुनिक विज्ञानकी कसौटी पर सच्चा नहीं ठहरता। इस पुस्तकमें स्वामीजीने सनातनधर्म्मके सभी विषयोंपर गम्भीर गवेषणा की है और यह सिद्ध कर दिखाया है, कि संसारमें केवल सनातनधर्म्म ही एक ऐसा धर्म्म है, जो सार्व्वभौम धर्म्म कहा जा सकता है और जिसके अन्दर संसारके सभी धर्म्मों एवं मतोंके सिद्धान्त सन्निहित हैं। दुनियाके सभी मजहब किसी न किसी रूपमें सनातनधर्म्मसे ही पैदा हुए हैं। स्वामीजी ने इस पुस्तकमें सनातनधर्म्मकी महत्ता बड़ी खूबीसे प्रतिपादित की है। इस पुस्तकको पढ़नेसे सनातनधर्म्मके किसी विषयमें किसीको किसी प्रकारकी शङ्का नहीं रह सकती। सनातनधर्म्मियोंको इस पुस्तकको अपनाना चाहिये और जिस तरह आर्य्य-समाजी "सत्यार्थप्रकाश" का प्रचार करते-कराते हैं, उसी तरह सनातन-धर्मावलम्बियोंको भी इस 'धर्म्म-विज्ञान' का आदर और इसके प्रचारका प्रयत्न करना चाहिये। "धर्म्म-विज्ञान" की भाषा सरल, स्पष्ट तथा सौम्य है और सबसे बढ़कर इसकी विशेषता यह

है, कि अपने धर्मको सच्चा बतानेके लिये दूसरे धर्मवालोंको इसमें गालियां नहीं दी गई हैं, बल्कि बड़ी ही सुमधुर एवं युक्तिपूर्ण भाषामें अपने सिद्धान्तोंका ही इसमें प्रतिपादन किया गया है। दूसरोंको गालि-प्रदान न कर अपने सिद्धान्तोंको युक्तियों तथा प्रमाणोंसे मधुर भाषा द्वारा पुष्ट करना ही ग्रन्थकारकी विद्वत्ताका लक्षण है; और यह लक्षण इस पुस्तकमें पूर्ण रूपसे विद्यमान है। अतएव इस पुस्तककी उपादेयता एवं महनीयताके सम्बन्धमें कुछ भी सन्देह नहीं। समस्त सनातन-धर्मावलम्बियोंसे हमारा अनुरोध है, कि इस पुस्तककी एक एक प्रति अपने पास रखें, जिसमें वह अपने धर्मके गूढ़ रहस्यों को समझकर अन्य मजहबवालोंकी झांसापट्टीमें न आ सकें। यह पुस्तक करीब सवा नौ सौ पृष्ठोंमें समाप्त हुई है। छपाई सफाई सुन्दर, कागज बढ़िया तथा मूल्य चार रुपया है।

सम्पादक 'भारतमित्र' कलकत्ता, लिखते हैं—

इस वैज्ञानिक युगमें शिक्षित लोगोंकी प्रवृत्ति साधारणतया इस बातकी ओर होती है कि वे किसी सिद्धान्तको, चाहे उस का उद्गमस्थान कितना ही प्राचीन एवं पवित्र क्यों न हो— युक्ति एवं तर्ककी कसौटी पर कसे बिना निर्भ्रान्त नहीं मान लें। बड़ेसे बड़े धार्मिक सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें भी यही बात देखी जाती है। धार्मिक सिद्धान्तों पर श्रद्धालु होकर जो लोग

विश्वास करते हैं उनकी बात हम नहीं कहते किन्तु शिक्षित श्रेणीमें ऐसे लोगोंकी संख्या भी कम नहीं है जो जिज्ञासु बनकर प्रत्येक धार्म्मिक सिद्धान्तका वैज्ञानिक विवेचन चाहते हैं और जबतक इस प्रकारकी विवेचनासे उनकी मनस्तुष्टि नहीं होती तबतक वे सन्दिग्धचित्त बने ही रहते हैं। यह सच है कि, धार्मिक सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें एक मात्र वैज्ञानिक विवेचनसे ही काम नहीं चल सकता किन्तु फिर भी जिन सिद्धान्तोंकी उपयोगिता विज्ञान द्वारा प्रतिपादित की जा सकती है उनका इस प्रकार प्रतिपादन करना धर्म्मप्रेमी विद्वानोंका अवश्य कर्त्तव्य एवं धर्म है। "धर्मविज्ञान" नामक प्रस्तुत पुस्तक, जिसमें शास्त्र तथा विज्ञानके अनुसार सनातनधर्मके प्रत्येक विषयपर विवेचन किया गया है—इसी ढंगका एक बृहत् ग्रन्थ है। इस दृष्टिसे हम इस पुस्तकका हार्दिक स्वागत करते हैं।

यह ग्रन्थ पूर्ण विद्वत्ता एवं गवेषणाके साथ लिखा गया है और इसमें सनातनधर्मके प्रत्येक सिद्धान्तका, उसके तत्त्वका वैज्ञानिक ढङ्गसे पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। लेखकने युक्ति एवं तर्कके साथ साथ बहुतसे पाश्चात्य विद्वानोंके लेखों के उद्धरण अपने पक्षकी पुष्टिमें उपस्थित किये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पक्षपातविहीन शिक्षित जिज्ञासुओंके लिये यह पुस्तक बड़े कामकी होगी।

"आधुनिक विज्ञान और सनातनधर्म", "आचारमें वैज्ञानिक चमत्कार", "उपासना तत्त्व और मन्त्रशास्त्र", "श्रीकृष्णचरित्र-

रहस्य", "परलोक और जन्मान्तर तत्त्व", "पौराणिक शंका-समाधान", "विज्ञान जगतमें नवीन चमत्कार", "षोडश संस्कार" जैसे कितने ही विषयोंका इसमें तुलनात्मक विवेचन किया गया है । सारांश यह कि पुस्तक सर्वथा उपादेय एवं संग्रहणीय है । प्रत्येक धर्मप्रेमी जिज्ञासु व्यक्तिको इस पुस्तक की एक एक प्रति खरीदकर अपनी जिज्ञासाकी निवृत्ति करनी चाहिये । हमारी यह हार्दिक अभिलाषा है कि इस अत्युपयोगी ग्रन्थका बहुत प्रचार हो ।

सम्पादक 'ब्राह्मण महासम्मेलन' काशी, लिखते हैं—

स्वामी दयानन्दजी महाराजके नामसे सनातनधर्मी हिन्दू जगत्का बच्चा २ परिचित है । आपके उद्भट पाण्डित्यपूर्ण धर्म-तत्व-प्रकाशिनी लेखिनीसे समय २ पर जो ग्रन्थरत्न निकलते रहे हैं—उनकी धार्मिक हिन्दू-जगत्में काफी ख्याति है। उपर्युक्त 'धर्म विज्ञान' नामक महद्-ग्रन्थ आपकी नवीन भेंट है जिसे आपने समाजके सम्मुख प्रस्तुत किया है । पुस्तकका विषय उसके नामसे ही स्पष्ट है । सनातनधर्मके प्रत्येक तत्वों पर सायन्सके सिद्धान्तों और विचारोंको लेते हुए, शास्त्रानुसार, बड़ा ही मार्मिक विवेचन इस ग्रन्थमें प्रस्तुत किया गया है । पाश्चात्य ग्रन्थोंकी गहरी छान-बीनके साथ ही, धर्म-शास्त्रीय विषयोंके निरूपणमें आपने जैसी दक्षतासे कार्य लिया है वह

सर्वथा आपके अप्रतिम पाण्डित्यके अनुरूप ही है । पाश्चात्य सायन्सवादी-दुनियाके विभ्रमता-पूर्ण कुप्रभावसे दूषित हुए वर्त्तमान भारतीय-वायुमण्डलमें, श्रीस्वामीजीका यह "धर्म विज्ञान" ग्रन्थ चमत्कारिक महत्वकी रचना समझी जायगी। इस ग्रन्थका प्रणयन सर्वथा समयोचित हुआ है; इसका एक बार आद्यन्त अध्ययन कर जानेके अनन्तर, अंग्रेजी पठितों और सुधार-वादियोंकी वह सारी वाग् विडम्बनायें, जिन्हें प्रसारित करते हुए वे हिन्दू-धर्मके मूलपर कुठाराघात करनेकी माया फैलाते हैं—इस प्रकार छिन्नभिन्न हो जाती हैं जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे कुहासा । लेखन-शैली ऐसी परिमार्जित, सर्वबोधगम्य एवं सुरुचि पूर्ण है कि, एक बार ग्रन्थको हाथमें लेनेके अनन्तर उसे आद्यन्त पढ़ गये बगैर जी नहीं मानता।

हम पाठकोंको स्वतः पुस्तकको ही मंगाकर एक बार अध्ययन कर जानेके लिये आग्रह करेंगे। श्रीस्वामीजी द्वारा इस ग्रन्थके प्रणयनमें किये गये स्तुत्य उद्योगके लिये धार्मिक-जगत् आपका चिर-आभारी होगा । हम चाहेंगे कि, कोई भी हिन्दू-गृह इस ग्रन्थरत्नके प्रकाशसे वञ्चित न रहे ।

ایدیٹر "آنند" لاہور لکھتے ہیں—

دھرم وگیان

شری سوامی دیانند سرسوتی بی-اے کا نام کسی مزید تعارف کا محتاج نہیں-آپ سناتن دھرم کے اُن مایہ ناز ودوانون مین سے ایک ہین جن کی ذات والا صفات پر سناتن دھرمیون کو بجا طور پر فخر ہے-آپ نے حال ہی مین یہ کتاب تصنیف کی ہے جسمین سناتن دھرم کے سب ہی دقیق مسایل سائنس کے مطابق لکہے گئے ہین-صبح سے شام تک جو کچھہ آچار ہندو لوگ کیا کرتے ہین انمین سائنس کا. کون سا راز مضمر ہے—مورتی پوجا اور منتر جپ کرتے کرتے بھگوان کے کیسے درشن ہو سکتے ہین-اس مین پتی برت دھرم - اوتار - شرادھہ - ترپن سندھیا-مہایگیہ-شت کرم-سولہ سنسکار کی سائینٹفک-جنیو چوٹی-بزرون کو پرنام آدی کا سائنس سے کیا تعلق ہے - شری کرشن بھگوان کے چرتر کا پورا رہسیہ پورانون کی شلکا پر سمادھان وغیرہ وغیرہ کئی بیش قیمت مسایل پر نہایت فاضلانہ بحث کی گئی ہے-مختصر یہ کہ اس گرنتھ کو پڑھنے کے بعد کسی اور گرنتھ کے پڑھنے کی مزید ضرورت نہین رہتی-ایسی دھرم پستک ہر سناتن دھرمی کے گھر مین ہونی از بس ضروری ہے—اس کے کل صفحات ۹۲۵ ہین-چھپوائی نہایت دیدہ زیب ہے اور قیمت صرف چار روپیہ ہے—مندرجہ ذیل پتہ سے طلب کرین:—

یوگ آشرم -سناتن دھرم کالیج

نواب گنج - کانپور

श्रीमद्भगवद्गीता पर अपूर्व, अनुपम टीका।

श्रीगीतार्थ-चन्द्रिका।

श्रीस्वामीजीकी विद्वत्ता किसीसे छिपी नहीं है। उन्होंने बहुत ही परिश्रमके साथ गीता पर यह अपूर्व टीका लिखी है। केवल हिन्दी भाषाके जाननेवाले भी इसके द्वारा गीताके गूढ़ रहस्यको जान सकें इसी लक्ष्यसे यह टीका लिखी गई है। इसमें श्लोकके प्रत्येक शब्दका हिन्दी अनुवाद, समस्त श्लोकका सरल अर्थ और अन्तमें एक अति मधुर चन्द्रिका द्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य बतलाया गया है। इसमें किसीका आश्रय न लेकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंका सामञ्जस्य किया गया है। भाषा अति सरल तथा मधुर है। इस ग्रंथके पाठ करनेसे गीताके विषयमें कुछ भी जाननेको बाकी नहीं रह जाता। हिन्दी भाषामें ऐसी अपूर्व गीता अब तक निकली ही नहीं है। मूल्य सजिल्द २।) और बिना जिल्द २)

पत्र व्यवहार का पता—

स्वामी नारायणानन्द,

योगाश्रम, नवाबगञ्ज, कानपुर।

धर्मचन्द्रिका—इसमें सनातनधर्मका उदार सार्व
स्वरूप वर्णन, यज्ञ, दान, तप, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारी
सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ, षोड़श संस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन कि
गये हैं। मूल्य १)

आचारचन्द्रिका—इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें नि
पहिले तक प्रत्येक आचारपालनका वैज्ञानिक कारण दि है
गया है। मूल्य ॥)

नीतिचन्द्रिका—कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतिध
खचित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गई है। हात्म

आर्य्यगौरव—आर्य्यजातिका महत्त्व जाननेके न्याधि
ही पुस्तक है। मूल्य ॥)

सनातनधर्मदीपिका—इसमें सनातनधर्मके गण त
सिद्धान्त समझाए गये हैं। यह पुस्तक अङ्गरेजी गाश्र
विद्यार्थियोंको धर्मशिक्षा देनेके लिये उपयोगी है। मूल पशा

धर्मप्रश्नोत्तरी—सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धा तनग
बालकोंके लिये अति संक्षिप्तरूपसे इस पुस्तिकामें लिखे स्था
मूल्य ।)

परलोक-रहस्य—मनुष्य मर कर कहां जाता है, उ म
क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्री
प्रमाणोंके साथ विस्तृत रूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोक रहस्य—स्वर्ग और नरक कहां भी उ
वस्तु है, तथा और और लोकोंका सुन्दर वर्णन इस यता दे

पत्र-व्यवहारका पता—स्वामी नारायणानन्द,
योगाश्रम, नवाबगञ्ज, कानपु